

आनन्दवाणी

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'

आनन्द वाणी



पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी

अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजकी

पावन वणिका प्रसाद

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. 09837219460

●

प्रथम संस्करण : (दस भागों में) 1964-65
द्वितीय संस्करण : (संशोधित) सितम्बर 1992
तृतीय संस्करण : फरवरी 1997

चतुर्थ संस्करण 1100
होली
मार्च 2012

●

मूल्य : रु. 80/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

चतुर्थ संस्करण :

प्रकाशकीय

पूज्य महाराजश्रीके 'आनन्द महोत्सव' पर अनेक ग्रन्थ जनता जनार्दन द्वारा खरीद लिये गये। फलस्वरूप 40 से अधिक ग्रन्थ अनुपलब्ध हो गये।

पुनर्प्रकाशनका कार्य परमपूज्य महन्तश्री स्वामीश्री सच्चिदानन्द सरस्वतीजीके निर्देशनमें द्रुत गतिसे हो रहा है। अगले 3 माहमें सभी ग्रन्थ उपलब्ध हो सकें, ऐसा प्रयास है।

इसी श्रृंखलामें प्रस्तुत पुस्तिकाका चतुर्थ संस्करणका प्रकाशन किया जा रहा है।

—सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

ज्ञातव्य

सत्-साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा परम पूज्य महाराजश्रीकी आनन्दजयन्ती १९६२के शुभ अवसर पर 'आनन्द वाणी'-१ के नामसे एक छोटी-सी पुस्तिकाका प्रकाशन किया गया था। इस ग्रन्थमें श्रीमहाराजश्रीके प्रवचनों, लेखों, पत्रों तथा वार्तालापोंका संग्रह, जो भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भक्तोंके लिए लिखे गये अथवा कहे गये थे—जिनको श्रीमहाराजश्रीके भक्तोंने अपनी-अपनी डायरियोंमें नोट कर रखा था—उनका आंशिक संकलन था। पाठकोंमें इसकी लोक प्रियताको देखते हुए ट्रस्टने बहुत ही कम अवधिमें अर्थात् तीन वर्षके अन्दर ही 'आनन्द वाणी'के कुल १० भाग प्रकाशित किये जो शीघ्र ही अप्राप्य हो गये। गुरु-पूर्णिमा १९८६ पर 'आनन्द वाणी-५' 'ध्यानके समय' फिरसे प्रकाशित किया गया है।

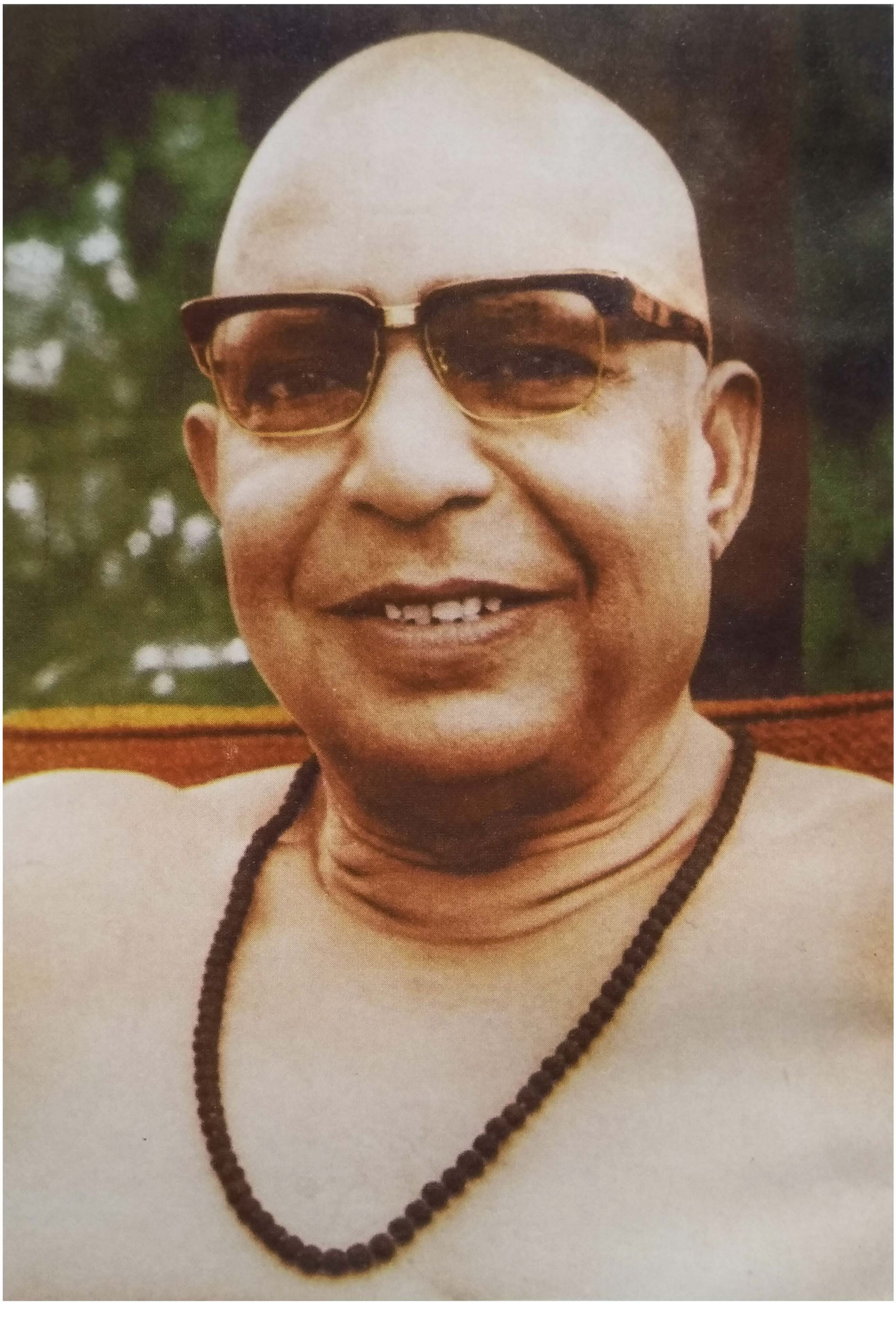
कुछ दिनों पूर्व ***श्रीस्वामी ओंकारानन्दजी*** अध्यक्ष, आनन्द वृन्दावन चैरिटेबिल ट्रस्टने 'आनन्द वाणी' ग्रन्थमालाका फिरसे मुद्रण होनेकी इच्छा बातों ही बातोंमें प्रकट की और ***श्री इन्द्रवदनभाई चौकसी*** (सूरत)के सत्सङ्ग समुदायके सदस्य ***श्री मनजीभाई***ने पुनर्मुद्रणमें सहयोग किया। हमने इस चमत्कारिक घटनाके लिए मन-ही-मन प्रभुको प्रणाम किया। अब यह कार्य ***श्रीनीलेश चौकसी***ने स्वयं अपने हाथमें लेकर पूरा करनेका संकल्प किया तो उनके उत्साहको देखकर की ***पूज्य स्वामीश्री गोविन्दानन्दजी***ने पुरानी प्रतियाँ देखकर वर्तमान ग्रन्थकी रूपरेखा तैयार करायी।

इस ग्रन्थमें 'आनन्द वाणी' भाग १ से ४ तक ज्यों-के-त्यों रखे गये हैं। 'आनन्द वाणी' भाग ५ 'ध्यानके समय'के नामसे प्रकाशित व उपलब्ध है। 'आनन्द वाणी' भाग ६ एवं ७ (महाराजश्रीके पत्रोंका संकलन) ज्यों-के-त्यों रखा गया है। 'आनन्द वाणी' भाग ८ एवं ९में श्वेताश्वतर उपनिषद् प्रवचनके भावार्थका संकलन नहीं लिया गया है। भविष्यमें उपनिषद्के सम्पूर्ण प्रवचनके प्रकाशनका संकल्प है। इस प्रकार ग्रन्थमें प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ 'आनन्द वाणी' प्रस्तुत की गयी हैं, जो अत्यन्त रोचक, ज्ञानवर्धक, तत्त्वचिन्तनकी सामग्री प्रदान करनेवाली एवं साधन पथ प्रशस्त करनेवाली है हमारा विश्वास हैं कि यह आपको आनन्द तो देगी ही, बुद्धिमें तत्त्व विवेक, हृदयमें सद्भाव और प्रेम तथा जीवनमें सदाचार भी प्रदान करेगी।

उसका अब यह द्वितीय संस्करण आनन्द कानन प्रेस, वाराणसीमें मुद्रित कराकर आपके हाथोंमें प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है पूर्ववत् इसका समादर होगा।

विनीत—

ट्रस्टीगण, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रमणिका

आनन्दवाणी (भाग-१)

पृष्ठ

आनन्द वाणी (भाग-२)

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

आनन्द वाणी (भाग-३)

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

आनन्द वाणी (भाग-४)

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

आनन्द वाणी (भाग-५)

अलगसे 'ध्यान के समय' नामसे प्रकाशित

आनन्द वाणी (भाग-६)

आनन्द वाणी (भाग-७)



शिवसङ्कल्प

(महाराजश्री द्वारा अनूदित)

१

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवेति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो जागते हुए पुरुषका दूर चला जाता है और सोते पुरुषका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्मा के साक्षात्कारका प्रधान साधन है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान, सन्निकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंका एकमात्र ज्ञाता है और जो विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका एकमात्र प्रकाशक और प्रवर्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ।

२

येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

कर्मनिष्ठ एवं धीर विद्वान् जिसके द्वारा यज्ञिय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके यज्ञमें कर्मोंका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियोंका पूर्वज अथवा आत्मस्वरूप है, जो पूज्य है और समस्त प्रजाके हृदयमें निवास करता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ।

३

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो विशेष प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य ज्ञानका कारण है, जो धैर्यस्वरूप है, जो समस्त प्रजाके हृदयमें रहकर उनकी समस्त इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है, जो स्थूलशरीरकी मृत्यु होनेपर भी अमर रहता है और जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ।

४

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्

परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यत्सम्बन्धी सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं और जिसके द्वारा सात होतावाला अग्निष्टोम यज्ञ सम्पन्न होता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ।

५

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन्

प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।

यस्मिँश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस मनमें रथचक्रकी नाभिमें आरियोंके समान ऋग्वेद और सामवेद प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमें यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रजाका सब पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओतप्रोत है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ।

६

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्या-
न्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

श्रेष्ठ सारथि जैसे घोड़ोंका सञ्चालन और रासके द्वारा घोड़ोंका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियोंका सञ्चालन तथा नियन्त्रण करनेवाला है, जो हृदयमें रहता है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ।

(यजुर्वेदसंहिता ३४ । १ से ६)

कोई सत्पुरुष सुनता है कि अमुकके घरमें या अपने ही घर में कोई बीमार या दुःखी है तो अपने बड़प्पनका ख्याल छोड़कर, आफिसका काम छोड़कर दुःखीकी सेवामें पहुँच जाता है, यह काम सत्पुरुष अपनी ओरसे करता है। वैसे ही भगवान् पृथिवीके दुःखकी बात सुनकर देवकी, वसुदेव, देवता और पृथिवीके दुःखके निवारणके लिए स्वयं पृथिवीपर पधारते हैं। भगवान्के भक्तोंके हृदयमें दुःखी और बीमारके प्रति इतनी प्रीति, इतनी करुणा, इतनी उदारता है तो भगवान्के हृदयमें कितनी प्रीति, करुणा, उदारता और भक्तवत्सलता होगी? उनकी अपार प्रीति और करुणासे ही वे निराकारसे साकार, गुप्तसे प्रकट, निर्गुणसे सगुण, परोक्षसे प्रत्यक्ष, बापसे बेटा परिपूर्णसे नन्हा हो जाते हैं।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

आगे बढ़ो

★

यदि अबतक जीवन का उद्देश्य निश्चित न किया हो तो आज ही, इसी समय कर लो। उद्देश्यहीन जीवन व्यर्थ है। एक ओर चलो, केवल परमात्मा की ओर बढ़ो। जीवन की प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक संकल्प केवल उन्हीं के लिये हो।

●

याद रक्खो, तुम परमात्मा की ओर चल रहे हो। रास्ते की चट्टियों पर ही कहीं न लुभा जाना, बीहड़ रास्ते से घबड़ाकर लौटना नहीं। तुम्हारे साथ एक महान् शक्ति है-वह तुम्हारी सतत रक्षा कर रही है।

●

अनुभव करो, तुम्हें एक महान् प्रकाश घेरे हुए है। तुम्हारे अन्दर-बाहर, आगे-पीछे और नस-नस में वह व्याप्त हो रहा है। अपने ज्ञान, शक्ति और सत्ता को उसमें डुबा दो-डूब जाने दो। फिर जब तुम व्यवहार में उतरोगे तो तुम्हारे जीवन में एक नवीन स्फूर्ति और उल्लास का अनुभव होगा। तुम देखोगे कि तुम्हारा जीवन प्रत्येक क्षण परमात्मा की अधिकाधिक सन्निधि में जा रहा है।

●

यह बात जान लो और सिद्धान्त रूप से मान लो कि ऐसा एक भी क्षण नहीं हो सकता, जिसमें तुम परमात्मा में स्थित न रह सको, चाहे तुम जिस परिस्थिति में हो, भगवान् तुम्हारे साथ हैं और मुस्कराते हुए तुम्हारी सहिष्णुता एवं धैर्य को देख रहे हैं। क्या उनके सामने तुम क्षुब्ध अथवा विचलित हो सकते हो ?

●

जिस परिस्थिति में इस समय तुम हो, वह उन्हीं प्रभु का मङ्गलमय वरदान है। इसमें उनके सुकोमल करस्पर्श का अनुभव करो। देखो, इस समय भी उनके कर-कमलों की छत्र-छाया तुम्हारे सिरपर है।

●

जो बीत गया, उसे भूल जाओ। जो आनेवाला है, वह तुम्हारे अधिकारके

बाहर है। तुम केवल वर्तमानको सुधारो, कहीं यह क्षण व्यर्थ न बीत जाय। अनुभव करो, आज तुम्हारा दिन सार्थक बीत रहा है। तुम भगवान् की ओर बढ़ रहे हो।

●

जो परम सत्य है-काल जिसका स्पर्श नहीं कर सकता, जो परम पवित्र है-किसी प्रकारकी मलिनता से जो अछूता है, जो परम ज्ञानमय है-अज्ञानका लेश भी जिसमें नहीं है, वह तत्त्व जो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है, चारों ओर फैला हुआ है-जीव के रूप में, जगत् के रूप में वही प्रकट हो रहा है, मैं उसी में डूब-उतरा रहा हूँ।

●

जो विषमताएँ तुम्हारे सामने हैं-जिनमें तुम उलझ रहे हो, जिनके बारे में तुम अनुभव करते हो कि इनकी जटिलता असीम है-वे कुछ नहीं हैं। तुम परमात्मा के सनातन अंश हो, उनके स्वरूप हो। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें बाँध सके। तुम स्वतंत्रता से-परमात्माकी शक्तिका आश्रय लेकर आगे बढ़ो। सफलता अवश्यम्भावी है।

●

ध्यान रहे-जो कुछ तुम देख रहे हो, यह परमात्माका ही स्वरूप है। तुम्हारे हृदय की मलिनता, अभक्ति अथवा भ्रान्ति से ही यह भिन्न रूप में भास रहा है। इसलिये क्रिया की तो बात ही क्या, सङ्कल्प से भी किसी का तिरस्कार मत करो। जो तुम्हारे सामने आवे, उससे इस प्रकारका व्यवहार करो मानो परमात्मा ही तुम्हारे सामने वेष बदलकर आये हों।

●

शान्त रहो, अत्यधिक शान्त रहो। विचार करो कि प्रलय में भी मेरा चित्त अक्षुब्ध रहेगा, क्यों कि वह परमात्मा से युक्त है।

●

जो कुछ परमात्मा की ओर से आये, प्रेम से उसका स्वागत करो। चित्त में अपनी ओर विचारों को न ठूँसकर-चित्त के उद्गम में से उन्हें उभरने दो। तुम्हारा एक-एक विचार परमात्मा का सन्देश लायेगा। देखो तो सही, तुम्हारे हृद्देशस्थित परमात्मा क्या कहते हैं।

●

ऐसा समय आता है, जब चित्त-वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जातीं हैं, बाहर की स्फुरणाएँ बन्द और श्वास की गति धीमी। बड़ी सावधानी के साथ उस समय परमात्मा की ओर देखो। तुम उनका प्रेम-सङ्गीत सुन सकोगे।

●

अनुभव करो-मेरा जीवन रहस्य का जीवन है और उसका स्वरूप है प्रेम। मेरा हृदय अनन्त प्रेमकी क्रीड़ास्थली है। मैं प्रेम हूँ, मेरे जीवन में प्रेम विकसित हो रहा है। प्रेम-विशुद्ध प्रेम, जो कि आत्मिक है, जिसमें शारीरिक मोह की गन्ध भी नहीं है।

●

मैं शरीर नहीं हूँ, मैं शुद्ध आत्मा हूँ। शरीर-अपवित्र शरीर लेकर परमात्मा के राज्य में प्रवेश कैसे होगा ? मैंने शरीर का मोह छोड़ दिया है, तभी तो मैं परमात्मा की सन्निधि का अनुभव कर रहा हूँ।

●

दृढ़ निश्चय करो-मेरा मन पवित्र हो रहा है। दुर्विचार, दुर्भाव, दुर्गुण, दुराचार आदि की वृत्तियाँ अब उसके अन्दर प्रवेश नहीं कर सकतीं। तभी तो उसके सामने एक अलौकिक दिव्यता प्रकट हो रही है।

●

निश्चल भावसे विश्वास के साथ मन को आज्ञा दो-रे मन, तू मेरा सेवक है। मेरी सत्ता और चेतना से तेरा जीवन है। तू मेरी एक स्वीकृतिमात्र है। मेरी आज्ञा मान और जैसे मैं चाहूँ वैसे रह। इधर-उधर किया तो मैं तुझे नष्ट कर दूँगा।

●

स्थिर शरीर और अचञ्चल मन से हठता के साथ बैठो। निश्चय करो कि अब एक क्षण के लिये भी परमात्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु को चित्त में स्थान नहीं दूँगा। मेरा सम्पूर्ण जीवन परमात्मा के लिये है।

●

ढूँढ निकालो कि जगत् की कौन-सी वस्तु इतनी आकर्षक है कि वह तुम्हें परमात्मा की ओर न जाने देकर जगत् में खींच लाती है। एक बार उसे उलट-पलटकर देखो। वह इतनी तुच्छ है कि एक बार विवेक की दृष्टि से पूर्णतः देख लेने पर फिर उसका प्रलोभन नहीं रहेगा।

●

विचार करके देखलो-संसार के लोग जिसे बड़े महत्त्व की वस्तु समझते हैं, वह सर्वथा सारहीन है। जिसके प्रति जिसकी वासनाओं का झुकाव रहता है, वह उसीको बड़ा मान लेता है। जब तुम मोह का पर्दा फाड़कर देखोगे तब जान सकोगे कि वह तो बच्चों के खिलौने से अधिक महत्त्व नहीं रखता। तुमने निश्चयपूर्वक वह परदा फाड़ दिया है, ऐसा अनुभव करो।

●

यदि सचमुच तुमने अपने जीवन को महान् बनाने का निश्चय कर लिया है तो तुम्हारी महत्ता में कोई सन्देह नहीं; परन्तु उसके लिए अपेक्षित साधन-सामग्री एकत्र कर ली है क्या ? एक बार अपने सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और निर्भीकता की परीक्षा कर लो। साधन जुट जाने पर साध्य स्वयं तुम्हारी सेवा करने लगेगा।

●

तुम जो चाहते हो, उसके एकमात्र केन्द्र पर दृष्टि जमाओ, और देखो कि उस अनन्त गुणों के भण्डार में से जो कुछ तुम चाहते हो, उसकी असीम धारा प्रवाहित होकर तुम्हें आप्यायित कर रही है।

●

तुम जिसकी श्रेष्ठता का निश्चय किये हुए हो, उसका बार-बार स्मरण करो। उसकी श्रेष्ठता का स्मरण ही प्रार्थना है। अवश्य ही वह तुम्हारे अन्दर निवास करेगा। प्रार्थना की ऐसी ही शक्ति है।

●

तुम जो अब तक अपने लक्ष्य से दूर रहे हो, इसका एकमात्र कारण यही है कि तुम अपने लक्ष्य को पहचानते नहीं हो। यदि तुम उसे पहचान सको तो अभी वह दूरी समाप्त हो जाय। इस दिशा में और आगे बढ़ो।

●

यदि तुम यह सोचते हो कि अभी तो प्रतिकूल स्थिति है, अनुकूल स्थिति आने पर सब कर लूँगा, तो तुम भूल रहे हो। क्या पता आगे प्रतिकूलता बढ़ जाय। जो अनुकूल स्थिति की प्रतीक्षा में बैठा रहता है, वह घर आयी लक्ष्मी को खो देता है।

●

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

यह स्मरण रखने की बात है कि अनन्तशक्ति हमारे पीछे है-हमारी सहायक है; छोटी-मोटी परिस्थितियाँ तो यों ही आती-जाती रहती हैं। तुम केवल अपने एक-एक क्षण को परमात्मा के साथ जोड़ते रहो !

●

जिसमें आत्मविश्वास है, वही ईश्वर पर भी विश्वास कर सकता है। तुम यह निश्चय करो कि बाघ के मुँह में और साँप से डँसे जाने पर भी मैं भगवत्प्रेम और कृपा का एक-रस अनुभव करूँगा।

●

भगवान् प्रेमपरवश हैं-उनकी मूर्ति कृपामयी है। वे माता से भी अधिक दयालु हैं। अनादिकाल से अपनी गोद में उन्होंने सारे जगत् को, जीवों को और मुझे खिलाया है। एक क्षण के लिये भी उन्होंने मुझे अपने से अलग नहीं किया। जब-जब मैंने अपराध किया है, उनके सामने ही और उनके देखते-देखते ही; परन्तु उन्होंने उस पर ध्यान न देकर अपनी कृपा की पराकाष्ठा कर दी है-मैं तो बहा जा रहा हूँ उनकी कृपाके समुद्र में।

●

हे प्रभो, तुम कैसे हो-यह मैं नहीं पहचानता। तुम जैसे हो, वैसे ही रहो। ये मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, आदि, जिन्हें मैं अपना मान रहा था, अब तुम्हें समर्पित करता हूँ। इन्हें अपनाओ, और ये मेरे हैं ऐसी भावना चित्त में कभी न आने दो।

●

प्रभो ! मैं समर्पण करनेवाला ही कौन हूँ ? जैसा मैं कभी था, अब हूँ, या आगे होऊँगा-सब रूपों में तुम्हारा ही तो हूँ। मैं अपने को कुछ मान बैठा था-अब इस अपराध की पुनरावृत्ति न हो प्रभो !

●

शरीर प्रभु की सेवा में, वाणी उनके नाम, गुण और लीला के गान में, मन उनके स्मरण में संलग्न रहे। आँखें जहाँ जायँ, उनकी रूप-माधुरी का पान करके छक जायँ। निश्चय करो-दृढ़ चित्त से कि सब कुछ भगवान् ही हैं, उनके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं। उससे एकत्व का अनुभव करना ही जीवन की पूर्णता है।

★

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

इच्छा आनन्द की अनुभूति में प्रतिबन्ध है ।

★

बात कुछ वर्षों की ही है । गरमी के दिन थे । मैं स्वर्गाश्रम में था । नित्यकी भाँति सत्संग-गोष्ठी उठने पर मैं सायंकाल गंगातट पर चला जाया करता था । एक दिन वालुकापुलिन पर बैठा था । एक सज्जन आये । बड़ी नम्रता से उन्होंने प्रणाम किया और उदास-से पासमें ही बैठ गये । मैंने उनसे कुशल क्षेम और साधनसम्बन्धी चर्चा की तो वह बोले-'भगवन् ! दस वर्ष हो गये भजन करते हुए; परन्तु जीवन में किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं हुई । कोई सफलता नहीं मिली । मुझे कोई लौकिक सुख भी नहीं चाहिये । मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि ईश्वर के अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिये ।'

मैंने पूछा-'तुम कैसा ईश्वर चाहते हो ?'

'केवल आनन्दस्वरूप परमात्मा ।'

'मैं जो कहूँगा, वह करोगे ?'

'जी हाँ !'

'अच्छा, तो बैठो ! तुम आनन्द की इच्छा भी छोड़ दो ।'

'जो आज्ञा ! छोड़ दी ।'

इसके पश्चात् वह शान्त हो गये । समाधिस्थ घंटों बैठे रह गये । उनके मुखपर एक दिव्य आभा छा गई । आनन्द मानों रोम-रोम से फूट पड़ रहा था ।

उठनेपर उन्होंने बताया कि 'जैसा सुख, जैसा अनिर्वचनीय आनंद आपकी कृपा से मुझे आज आया है वैसा अब तक कभी नहीं आया । इस सुख के आगे मैं संसार के किसी भी सुख को कुछ नहीं गिनता ।'

किसी वस्तु की इच्छा और अनुभूति-दोनों एक कालमें नहीं होते । इच्छा ही आनन्द की न्यूनता या अभाव का सूचक है । उसके त्यागसे ही आनन्द की अनुभूति होती है ।

★

धर्म-नियन्त्रित जीवन

★

कोई मनुष्य चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो अपनी सब इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकता ।

(१) भोग की इच्छाएँ ।
(२) संग्रह की इच्छाएँ ।
(३) कर्म की इच्छाएँ ।

ऐसी स्थिति में आवश्यक है, कि इनमें छाँट की जाय

(१) कौन-कौन पूरी की जायँ ।
(२) कौन-कौन छोड़ दी जायँ ।
(३) किन्हें प्राथमिकता दी जाय ।
(४) किस एक के पूर्ण होने से और सब पूर्ण हो जाती हैं या मिट जाती हैं ?

इस विवेक से धर्म का प्रारम्भ होता है, बिना इच्छाओं में काट-छाँट या नियंत्रण से मनुष्य जीवन चल नहीं सकता इसलिए संग्रह, भोग एवं कर्म पर विवेकानुसारी धर्म का नियंत्रण होना आवश्यक है ।

●

कर्म, भोग और संग्रह की इच्छाओं की मूल प्रेरणा एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि उन्हें भी साधारण रूप से तीन भागों में बाँट सकते हैं ।

(१) जीवन सम्बन्धी-मृत्यु, रोग, भूख, ठंड, निर्बलता आदि से बचने के लिये सामग्रियों की आवश्यकता ।

(२) ज्ञान सम्बन्धी-कहीं मूर्ख न बनना पड़े, इसके लिये ग्रन्थ, पाठशाला, पर्यटन, चिन्तन, सत्संग आदि ज्ञान-रक्षक एवं वर्द्धक सामग्री ।

(३) आनन्द सम्बन्धी-इन्द्रिय और मन को अभाव, दुःख, चिन्ता आदि से बचाकर प्रफुल्ल-प्रसन्न करने के लिये सामग्री।

●

इन तीनों प्रकारों की पिण्डीभूत रूपरेखा बतलायी जाय तो यों कहा जायगा-

(१) हमें अविनाशी जीवन चाहिये ।

(२) हमें सर्वोपरि ज्ञान चाहिये ।

(३) हमें अविनाशी और ज्ञात होता हुआ आनन्द चाहिये अर्थात् हमें ईश्वर चाहिये ।

जो लोग कहते हैं कि हम ईश्वर को नहीं मानते वे भी ईश्वर को ही चाहते हैं और जिस वस्तुको चाहते हैं उसका अस्तित्व अनजान में ही कहीं-न-कहीं अपने अन्तःस्तल में स्वीकार करते हैं । अभिप्राय यह कि आस्तिक, नास्तिक-सभी, जान में या अनजान में, ईश्वर को ही चाह रहे हैं । उसकी प्राप्ति सम्भव मानते हैं और अपने में उसकी प्राप्ति की योग्यता स्वीकार करते हैं ।

●

धर्म के अनुसार कर्म करने से पाप-कर्म नहीं होते हैं । कर्ता का तमोगुण दूर होता है । देह से भिन्न एक आत्मा नामकी वस्तु है जो स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्म को प्राप्त होती है-यह विश्वास दृढ़ होता है और इस प्रकार हम अन्तःकरण शुद्धि और विवेक की ओर अग्रसर होते हैं ।

●

भगवान् की उपासना या भगवद्भाव से किसी भी शास्त्रोक्त उपासना करने से संसार की वासना, आसक्ति आदि दोष दूर होते हैं और भगवद्तत्त्व का ज्ञान बढ़ता है ।

★

क्या सम्भालनेवाला तुम्हारी ओर निरन्तर निहार नहीं रहा है ? वह तो बिना पाँव लड़खड़ाये दिन-रात अपनी गोदमें ही रखनेवाला और अपनी साँसोंकी हवासे अपने प्रेमीका पसीना सुखानेवाला है। वह एक जीवन देनेवालेको सौ जीवन देनेवाला है।

★ ★ ★

जो गये, वे गये। भूतके साथ अपनेको मत बाँधो। वर्तमानमें क्षण-क्षणपर अपना कहता रहता है, उसके साथ अपनेको बाँध दो, वह तुम्हारा कृष्ण ही एकमात्र तुम्हारा है।

★ ★ ★

जीवनोपयोगी

★

दु:ख आये तो सह लेना, घबराना नहीं। सुख आये तो फूलना नहीं क्योंकि वह स्थायी नहीं। किसी के प्रति आसक्ति मत करो। सुख से सटो मत, दु:ख से हटो भी मत। जो आये, आने दो, जाये तो जाने दो।

●

समय बहुत थोड़ा है, जो कुछ करना हो सो कर लो। न जाने फिर अवसर आये-न-आये।

●

मार्ग दो ही हैं-एक भक्ति और दूसरा धर्म का। किसी एक में तो निष्ठा करनी ही पड़ेगी। जिस किसी भी मार्ग पर पूर्णतासे चलोगे, अपनी इच्छाओंको कुचल डालना पड़ेगा। इच्छा दोनों ही मार्गोंमें नहीं चल सकती। यों भी कह सकते हैं कि अपनी 'इच्छा' नामकी कोई चीज ही नहीं रहती।

●

अपने आस-पास के सभी व्यक्तियों की कुछ-न-कुछ सेवा अपने शरीर से अवश्य होनी चाहिये। दूसरों से अपने लिये उसकी अपेक्षा न हो। तुम्हारा कर्म स्वावलम्बन को पुष्ट करे।

●

धर्म के नाम पर शरीर को कष्ट नहीं देना चाहिये। परस्पर सद्भाव से रहना चाहिये। प्रेम ही जीवन का सुख है। वह रहे तो सब कुछ प्राप्त है।

●

जैसा बनना चाहते हो, वैसा ही चिन्तन करो।

●

संसार में ऐसा कौन है जिसे सदा दु:ख ही दु:ख मिला हो; ऐसा कोई भी नहीं जो सदैव सुखी ही रहा हो। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन। दु:ख के बाद सुख और सुख के बाद दु:ख।

●

अपने पास खुशी का एक खजाना होना चाहिये। जो भी अपने सम्पर्क में आये, उसे सुख की भेंट देकर ही विदा करो।

दुःख को कभी भी स्वीकृति न दो। सब दुःखों का अन्त सुख ही है। पता नहीं, कौन-सा दुःख किस सुख की भूमिका हो !

●

पाँच बातें याद रखना :-

१ शरीर से सेवा श्रम।

२. इन्द्रियों से यथाशक्ति संयम।

३. मन से सबके प्रति सद्भावना।

४. बुद्धि से सोच-समझकर कोई काम करना, और

५. कभी किसी बात का अभिमान न करना।

●

जिनके कारण अपनी इच्छापूर्ति में बाधा पड़ती है, उन पर क्रोध न करके, किसी भी उपाय से उन्हें सन्तुष्ट कर, उन से मित्रता कर लेनी चाहिये।

●

मनुष्य शरीर की सफलता है-पवित्र जीवन, भगवद्भजन और सर्वदा प्रसन्न रहना। सुखी रहो और सामनेवाले को सुख से भर दो।

●

अपने हृदय को इतना मीठा कर लो कि आस-पास के सब मीठे हो जायँ। मुस्कराके बोलो। कोमलता का व्यवहार करो। सब को सुख दो। जिस से सुख मिलता है, उसे सब प्यार करते हैं। दुःखी पर दया तो आती है, उस से प्रेम नहीं होता। अपने को सुखरूप रखो, जिससे सब प्यार दें।

●

स्वास्थ्य, सेवा-भाव, संयम, सम्मान और समय कभी नहीं खोना चाहिये। सद्भावना ही भक्ति का सर्वस्व है। अपना हृदय स्नेह-सुधासें सराबोर रहे। किसी के प्रति दुर्भावका विष न आये। विष पहले दिल को और दिलवाले को ही मारता है। दिल में तो बस, दिलदार रहे।

●

परस्पर विश्वास की भावना ही सुख-शान्ति की कुञ्जी है। अपने मन को संशयग्रस्त बनाकर संसार में कभी भी कोई सुखी नहीं हुआ।

●

तुम्हारे हृदयमें प्रसन्नता का समुद्र उमड़े। उसकी तरङ्गें उछल-उछल कर उन सब को तर कर दें, जो तुम्हारे आस-पास हों।

●

सच्चा सौन्दर्य मन की पवित्रता और चरित्र की उज्ज्वलता है। प्रेम सबसे बड़ा सौन्दर्य है। उसीसे तुम्हारा मन परिपूर्ण रहे।

●

जिसके कारण अपनी इच्छा-पूर्ति में बाधा पड़ती है, मुझे उन पर क्रोध नहीं आता। उनसे तो दोस्ती करने का मन होता है। यदि वे किसी भी उपाय से सन्तुष्ट हो जायँ, मैं खुशी-खुशी कर सकता हूँ।

●

थोड़े के लिये बहुत हानि ठीक नहीं।

●

जहाँ क्रोध है, वहां भगवान् नहीं। भगवान् को बुलाना है ? भई, क्रोध को हटाओ।

●

चित्त की विपरीत अवस्था, विवेकवती बुद्धिका अभाव ही मोह है। वह जितना अधिक व्यक्ति में होगा, उतना ही अधिक मनुष्य दुःखी होगा। अतः यदि सुखी रहना चाहते हो तो मोह को सर्वथा तिलाञ्जलि दे दो।

●

गिरना दोष नहीं, गिरकर न उठना ही दोष है। गलतियाँ मनुष्यसे होती ही हैं, उन्हें सुधार लेना चाहिये।

●

हमारे यहाँ देहात में कहावत है-'पंड़ाइन, सुभ बोला' (पंडितानीजी ! शुभ **बोलो**)।

किसी को भी कभी ऐसी बात न कहे कि जिससे सुनने वाला व्यथित हो **जाय, या उसका अहित हो**। 'तेरा सत्यानाश हो' न कहकर 'तेरा भला हो' **कह सकते हो**।

हमारे सिन्धी साइँ किसी भी शब्द के आदि में लगे हुए 'कु' को 'सु' कहकर **बोलते थे, जैसे, 'कुरसी' को 'सुरसी', 'कुत्सित' को 'सुत्सित'** आदि। **महाराज युधिष्ठिर भी दुर्योधन को 'सुयोधन' सम्बोधित करते थे**।

●

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अपना व्यवहार सबके साथ मधुर रहे । तब भगवान् सोचेंगे-'चलें, इससे थोड़ी-सी मिठास हम भी ले आयें ।' और यदि व्यवहार किसी से कटु और किसी से मृदु हुआ तो प्रभु अपना निश्चय ही बदल देंगे, सोचेंगे, 'क्या जाने, यह कब कड़वा हो जाय !'

●

दुःख को कभी स्वीकार न करना और सुख को बाँधकर न रखना । जो तुम्हारे पास आये उसका हँसकर, प्रसन्नता से स्वागत करना, तुम प्रेममय बन जाओगे ।

●

दुनियां की जानकारी जितनी कम होगी, मन उतना ही हलका भी रहेगा । संसार भी उसमें कम आयेगा और वह प्रसन्न भी अधिक रहेगा ।

●

जो किसी को भी पापी न समझे ओर न किसी में पाप-भावना करे, उसका हृदय पवित्र है । कोई कैसा ही हो, अपना मन क्यों बिगाड़ें –

तेरे भावै जो करौ भलो बुरो संसार ।
नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार ॥

●

कभी तुमने किसी की निन्दा की है ? और उसकी सजा अपने को दी है ? नहीं, तो कोई दूसरा तुम्हारी निन्दा करता है तब उसपर कैसी नाराजगी और उसे कैसी सजा ?

●

जिसको कुछ पाना है, उसे कुछ करना है । जिसमें कामना है, उसमें क्रिया भी है । इच्छा के साथ प्रयत्न जुड़ा हुआ है ।

●

व्यस्तता में सुख-दुःख का पता नहीं चलता । स्मृति (अतीत) और कल्पना (भविष्य) वर्तमान को भुला देती हैं ।

●

एक महात्मा शरीर त्याग रहे थे । उनके भक्त ने प्रार्थना की-'भगवन् ! कोई आदेश ?'

महात्माने पहले तो मना किया। फिर पूछा, 'अच्छा, बतलाओ, मेरे मुखमें दाँत हैं या नहीं ?'

'नहीं।'

'और जीभ ?'

'सो तो है।'

'अच्छा, तो मेरा यही सन्देश है कि नम्र बनो। जो कठोर होता है, वह पहले नष्ट होता है। कोमल बचा रहता है।'

●

भगवान् का भजन-पूजन प्रातःकाल जल्दी उठकर, जब कि घर के सभी लोग सोये रहें, कर लेना चाहिये। उस समय अवकाश भी रहता है और मन भी शान्त रहता है; क्योंकि वासनाएँ भी रात में सो जाती हैं और धीरे-धीरे सूर्योदय के साथ ही बढ़ने लगती हैं। रात में देर तक जागकर भजन करने की अपेक्षा ब्राह्म मुहूर्त में उठकर करना कहीं श्रेष्ठ है।

●

सांसारिक बातों के लिये झूठ बोलनेवाला परमार्थ के लिये भी झूठ बोल सकता है; परन्तु जो कभी किसी अवस्थामें भी असत्यभाषण नहीं करता, उसे परमार्थ के लिये भी नहीं करना चाहिये।

●

दो ही इन्द्रियाँ प्रबल हैं-जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय। यह जिसके अधीन हैं, वही जितेन्द्रिय है।

●

हमेशा खुश रहना। हीन कभी मत बनना। शरीर धरा रहने दो कुटम्बमें। मन को तो कोई पकड़ नहीं सकता। मन ही तो सब कुछ है। उससे ईश्वर का खूब चिन्तन करो।

●

क्रोध तो असुर है। उसे पास मत फटकने देना। कभी आ ही जाय तो कोई ठण्डी, मीठी चीज खिलाकर उसे विदा कर देना या कमरा बन्द करके रो लेना। उसे दया आ जायगी और वह चला जायगा।

●

ब्रह्मा कमल पर निवास करते हैं, विष्णु क्षीर सागर में शेषशैया पर और शिवजी हिमालय में । अर्थात् भगवान् का निवास स्वच्छ, शीतल, स्निग्ध और कोमल स्थान में है । भगवान् को बुलाना चाहते हो तो अपने हृदय को ऐसा बनाओ । जिस हृदय में क्रोध की भट्ठी जल रही हो, वहाँ भगवान् नहीं आते ।

●

दूसरों के गुणों का चिन्तन करो, गुण तुम्हारे हो जायँगे । यदि उनके दुर्गुणों की ओर देखोगे तो वही तुम्हारे हृदय में आ बसेंगे ।

●

जैसा चिन्तन वैसा चित्त । मनुष्य का मन उसकी आँख और मुख से झाँकता है । इसलिए मन में सद्विचारों को आश्रय दो-

'यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यः गूढमेतत् सनातनम् ।'

●

एक बार भी यदि आचरण नीचे की ओर गिरा, तो वह गिरता ही चला जायेगा । भागीरथी हिमालय से गिरती है तो गिरती ही चली जाती है-

'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ।'

●

गुरु ने जो बतलाया है, वह करो; वे करते हैं, सो नहीं । वे तो कई भूमिकाएँ पार करके उस स्थिति में पहुँचे हैं ।

●

भोग की अधिकता से रोग होते हैं । बुद्धिभ्रष्ट होती है, स्वभाव बिगड़ता है । सुख है सादगी में । जीवन निर्वाह करो कम से कम में ।

●

एक बार गांधीजी कस्तूर बा से रुष्ट हो गये । नाराज होकर उन्हें घर से बाहर निकाल दिया और स्वयं भी कहीं कार्यवश चले गये । लौटकर आये तो वे दरवाजे पर ही बैठी मिलीं ।

'गयी क्यों नहीं ?' पूछने पर कस्तूरबा ने कहा-

'तुम तो पुरुष हो, कहीं भी जा सकते हो । मेरा तो बस, यही एक घर है । इसे छोडकर कहाँ जाऊँ ?'

उसी समय से गांधीजी ने सत्याग्रह करना सीखा ।

वासना पूरी होने के बाद तथा धन-प्राप्ति के बाद भले ही भजन हो जाय; परन्तु वासना-पूर्ति से पहले और धन खोने के बाद तो वह कभी हो ही नहीं सकता । इन दोनों ही अवस्थाओं में मन अशान्त रहता है ।

●

दण्ड देने का अधिकारी वह है जिसने कभी भी कोई अपराध न किया हो ।

एक दुराचारिणी स्त्री को जब समाज ने पत्थर मारकर प्राण-दण्ड देने का निश्चय किया, तो ईसा मसीह ने कहा-

'पहला पत्थर वह मारे जो सचमुच आजीवन निष्पाप हो ।' सबके उठे हुए हाथ नीचे गिर गये ।

●

यदि मन में कभी किसी बात का अभिमान आये तो उसकी दिशा मोड़ दो प्रभु की ओर । वह कुछ ऐसा हो-

१. अहाहा ! मेरे इष्टदेव मुझ पर कितनी कृपा और कितना प्रेम करते हैं !
२. मेरा मन कितना अच्छा है कि वह इष्ट के बारेमें इतना सोचता हैं !
३. मेरी आदतें कितनी अच्छी हैं कि अनजान में भी मैं धर्म के विरुद्ध कुछ नहीं करता ।
४. दूसरों के दुर्गुण देखकर मै उन्हें सह लेता हूँ, परन्तु अपने नहीं ।

मेरे दोषों को देखकर कोई प्रसन्न होता है, तो मैं भी क्यों न खुश हो लूँ ? बिना किसी प्रयास के मुझे देखकर कोई प्रसन्न होता है, इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है-ऐसा सोचना चाहिये ।

●

गार्हस्थ्य और परमार्थ, दोनों साथ-साथ चल सकते हैं । यह दोनों धर्म हैं । यह तो दो तरक्की सीढ़ियाँ हैं, पड़ाव नहीं ।

●

पानी में डूबते समय प्राण बचाने की जैसी व्याकुलता और चेष्टा होती है, वैसी ही ईश्वर को पाने के लिये होनी चाहिये ।

●

अभिमान आये तो अपने से बड़े की ओर देखो। इच्छाएँ सताएँ तो छोटों की ओर देखो। जैसी भी परिस्थिति आये, उसी में सन्तोष करो। अपनी प्रसन्नता वस्तु में मत रक्खो।

●

दुनियां की चर्चा से राग-द्वेष होगा और भगवान् की चर्चा करोगे तो राग-द्वेष मिटेगा, सुख-शान्ति मिलेगी।

●

यदि तुमने गलती की है तो उसकी सजा चुपचाप सह लो, तुम्हारा प्रायश्चित हो गया। यदि तुमने नहीं की तो भी सह लो, तुम्हारी तपस्या हो गयी।

●

दूसरे को दुःख पहुँचाये बिना कोई भी भोग सम्भव नहीं। भोग से राग तथा और-और की भूख बढ़ती है।

●

दुःख की अस्वीकृति और सुख का वितरण ही जीवन की सर्वोत्तम प्रणाली है। सबको सुख दो, तुम्हें सुख मिलेगा; उसी दिन, उसी क्षण मिलेगा। इसलिये बाँटो, अन्यथा सुख के बाद दुःख तो है ही। अपने में दुःखीपने का अभिमान मत लाओ। दुःख, यह सोचकर कि यह तो मुझे स्वीकार ही नहीं करता, दूसरे को ढूँढ़ता-ढूँढ़ता अपने आप चला जायगा।

★

किसी देशमें रहो, किसी वेशमें रहो—केवल गुण ही ग्रहण स्वीकृति देना और बुराईसे परहेज करना चाहिए।

★ ★ ★

जब अपने मनकी नहीं होती, अपने प्रभुके मनकी होती है; तब मनुष्यको अपने मनकी होनेपर नहीं, उनके मनकी होनेपर प्रसन्न होना चाहिए।

★ ★ ★

कृपा

★

जब शिष्य की श्रद्धा और गुरु का अनुग्रह-दोनों का शाश्वत समागम होता है, तब भगवान् का आविर्भाव होता है।

●

जब साधक भगवान् के लिये अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य-श्रम का विनियोग कर चुकता है, स्वयं शक्तिरहित हो जाता है, तब भगवान् की शक्ति चक्रवर्तिनी कृपा देवीका अवतरण होता है।

●

जिस पर भगवान् की कृपा है, जो उसका अपना है, उसके लिये आश्चर्य और असम्भव क्या है ?

●

भगवान् को जब अपने में अपना दिल नहीं मिलता, तब वे उसे ढूँढ़ते हुए भक्त के पास आते हैं और उसको अचेत से सचेत करते हैं तथा भीतर से बाहर निकलकर दर्शन देते हैं। असल बात यह है कि भक्त अपने को साधनहीन देखकर जब अपनी विवशता से तड़पने लगता है, तब, कहीं उसके हृदय की धड़कन बन्द न हो जाय-यह सोचकर भगवान् अपना आवरण उतार देते हैं।

●

भगवान् भगवान् ही हैं। उनका नाम श्रीराम रखो या श्रीकृष्ण। चाहे उनका मुकुट सीधा खड़ा हो या बांकी अदाके साथ बायें अथवा दाहिने लटक रहा हो। वे व्रज के वन-निकुञ्जमें गायें चरा रहे हों। गोपियों से छेड़छाड़ कर रहे हों, या धूलिमें लोट रहे हों, अथवा श्रीअवध के दरबार में राजसिंहासन पर गम्भीर भावसे बैठकर राज्यकार्य का संचालन कर रहे हों। नाम, पोशाक, काम या गुणों के प्रकटीकरण के भेद से भगवान् में भेद नहीं होता। वे खेलकर, खिलाकर, डाँटकर, पीटकर, नाचकर, गाकर हर हालत में जीवों पर अनुग्रह-दृष्टि की वृष्टि करते रहते हैं।

●

भक्त को प्रत्येक क्रिया में भगवान् की कृपा के ही दर्शन होते हैं।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

भगवान् की कृपा और प्रेम अहर्निश एकरस सब पर बरस रहे हैं। सतत सावधान रहकर अपने-आपको और सारे संसार को उससे आप्लुत और आप्यायित करना चाहिये। जैसे व्यास (वक्ता) ग्रन्थ के प्रत्येक शब्द का भाव अपने अनुकूल निकाल लेता है, वैसे ही प्रत्येक घटना का अभिप्राय प्रसाद और अनुग्रहरूप ही निकालना चाहिये। संसार में केवल वही दुःखी है जो प्रभुके आनन्द-मय करकमलों से सम्पन्न घटना की व्याख्या प्रतिकूल करता है। अपने हृदय को सर्वदा रसमय, मधुमय बनाये रखना चाहिये।

●

सब आत्मा हैं-क्रोध किस पर ?

क्या स्थाणु में प्रतीय मान चोर पर भी लाठी-प्रहार ?

सब भगवान् या उनकी लीला है। प्रत्येक घटना ही प्रेमपूर्ण है।

सब प्रकृति का खेल है। इसमें अच्छा-बुरा क्या ?

अपने स्वभाव से विवश लोगोंकी चेष्टा पर ध्यान ही क्या ?

हमारा अन्तःकरण इन विचारों को आत्मसात् कर चुका है। अब उसमें क्रोध असंभव है।

मैं जीवन भर अब कभी क्रोध नहीं करूँगा-ऐसा दृढ़ निश्चय है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता के भाव अज्ञानमूलक हैं-यह क्रोध की नींव है।

जो मेरे मन और शरीरके प्रतिकूल क्रिया करता है, वह मुझे उनसे ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। जहाँ कोई निशाना लगायेगा, मैं उससे ऊपर हूँ।

क्या यह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि मैं अपने चित्त का प्रसाद खो दूँ ?

मुझे कोई कामना नहीं है, फिर किस कामना की पूर्ति में बाधा होने पर क्रोध करूँ ?

★

अहंका सर्वथा नाश वाञ्छित नहीं है। जीवनमें थोड़ा-सा सात्त्विक 'अहं' होना चाहिए। बिना 'अहं' के लोग दबा लेते हैं। इसलिए अपने ईश्वर, देश, चरित्र, धर्म, एवं संयमका 'अहं' रहना ही चाहिए।

★ ★ ★

भक्ति

★

यह निश्चित है कि ईश्वर के लिये किया हुआ एक भी संकल्प व्यर्थ नहीं जाता; क्योंकि वह एक चेतन कल्पवृक्ष है और अपने प्रेमी की सब इच्छाओं को जानता तथा उन्हें पूरी करने का सामर्थ्य रखता है। उस का हृदय बहुत ही कोमल है। प्रेमी की प्रत्येक प्रार्थना पूर्ण होगी।

●

कृष्ण की शरण ले लो। हर जगह तुम्हें मदद मिलेंगी। विश्वास और निष्ठा से जब तुम उन्हें पुकारोगे, वे अवश्य आयेंगे।

●

अपने प्राण-प्यारे आनन्द मुकुन्द की स्मृति और सेवा पूजा हो तो और कुछ नहीं चाहिये। अपना देवता अपने मन में रहे। उसकी सेवा-पूजा ही अपनी साधना हो।

●

पारस्परिक प्रेम से सब काम बन जाते हैं। कृष्ण की सेवा और प्रसन्नता भी सुलभ हो जाती है। मन में उद्वेग भरा हो तो भगवान् के भजन में भी बाधा पड़ती है। जिसको भी तुम आनन्द दोगे और सेवा करोगे, वह तुम्हारे अनुकूल हो जायगा। ज़िद और दबाव से सब काम बिगड़ जाते हैं।

●

किसी भी देश और वेश में रहो, अपने हृदय को सुखस्वरूप परमात्मा से तर रक्खो। श्रीकृष्ण सर्वदा रक्षक हैं।

●

यदि मनुष्य के मन में कोई दुःख, चिन्ता या भय हो तो उसे भगवान् का स्मरण करना चाहिये; मंगल होगा।

●

इस जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिये श्रीकृष्ण-प्रेम ही सर्वोपरि है। मुकुन्द ही आनन्द की एकमात्र निधि है। सर्वदा भजन करना।

●

अपने तो ठाकुरजी के इशारे पर नाचनेवाले हैं। जैसे, जब जहाँ रखें,

रहने को तैयार। व्रज के प्रेमी कहते हैं—

'जैसे राखहु, वैसे रहौं'। अपने प्रियतम प्रभु की इच्छा से नरक में रहना भी अच्छा है। अपनी वासना-पूर्ति के लिये स्वर्ग में रहना भी स्वार्थ ही है।

●

भोजन का छोटा भाई भजन। जैसे भोजन बिना नहीं चलता, भजन बिना भी न चले। भजन अपनी खुराक बने, जीविका बन जाय। काल का लोप भले हो जाय, भजन न छूटे। जगह, समय, आसन-सब बदल जायँ, पर भजन न छूटे।

●

विश्वास—प्रभुका मुझपर अनन्त प्रेम है।
आशा—वे एक दिन अवश्य मिलेंगे।
लालसा—जब वे मिलेंगे, तब क्या-क्या होगा ? उनकी कैसे-कैसे पूजा की जायगी।
उत्कण्ठा—उस समय, सुयोग के लिये प्राण लालायित हैं, प्यासे हैं, व्याकुल हैं।
तन्मयता—मन उन्हीं में डूबा रहता है।
वैराग्य—और कुछ सुहाता नहीं।

●

ईश्वर की पूजा के तीन प्रकार—

१. हृदय में राग-द्वेष का अभाव
२. वाणी का माधुर्य, और
३. शरीर से सदाचरण

●

एक दिन बिहारीजी का दर्शन करने गये। भोग आ जाने से मन्दिरके पट बन्द हो गये। बैठना पड़ा। अब हमें प्रसन्न होना चाहिये या दुःखी। यदि हम यह सोचें-हमारे लिये ही पट बन्द हो गये, तो दुःख होगा और यदि यह सोचें कि हमारे ठाकुरजी इस समय भोजन कर रहे हैं, हमारा बाहर बैठना ही ठीक है, तो प्रसन्नता होगी।

अभिप्राय यह है कि हर हालत में अपनी प्रसन्नता ही इष्ट है।

●

भक्त सोच रहा था—'भगवान् से क्या प्रार्थना करूँ ?'
'प्रभो, मुक्ति दीजिये'—तो क्या वे माँगने पर देते हैं ?'
'विश्व का दु:ख दूर कीजिये'—तो क्या इसका औचित्य वे नहीं समझते ?
'मुझ पर प्रसन्न हो जाइये'—तब क्या वे अप्रसन्न हैं ?
अन्तमें कहा—
'प्रभो ! मैं सब स्थितियों में सन्तुष्ट हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं सम हूँ। अब तो प्रसन्न हो जाइये।'
भगवान्—'तुम झूठ बोल रहे हो। यदि तुम सब स्थितियों में सम और सन्तुष्ट हो तो तुम्हें प्रसन्नता की क्या आवश्यकता है ?'

★

इच्छा होनेमात्रसे कोई हानि नहीं है। इच्छा गलत हो तो उसके अनुसार काम नहीं करना चाहिए।

★ ★ ★

अपने मनकी प्रधानता रखनेकी बात दु:खकी जननी है। अपनी जिद्द छोड़नेकी आदत डालनी चाहिए, फिर कभी रोना नहीं पड़ेगा।

★ ★ ★

लोभ ही ऐसी वृत्ति है जो भक्तको भगवान्से विमुख कर देती है।

★ ★ ★

बेवकूफी, कामना और सामर्थ्यसे बाहरके कर्म ही दु:ख होते हैं।

★ ★ ★

मित्रता और समदर्शनसे ही भगवान्की पूजा होती है। भगवान् ही सबमें हैं। किसीका अपमान करना अपने ही भगवान्का अपमान करना है। भगवान्की सच्ची भक्ति तो यही है कि हम सब जगह, सबमें भगवान्के ही दर्शन करें।

★ ★ ★

संसार की विविधता

★

किसी पदार्थ को परमात्मा से भिन्न समझना संसार है। समझ का नाम संसार है–ईंट-पत्थरका नहीं।

●

साधारण जन समझते हैं–देश, काल, वस्तु, शक्ति आदि से समझ बनती है। व्यवहार-दृष्टिसे यह सत्य भी है; परन्तु सर्वथा सच्ची यह बात है कि समझ ही उनका निर्माण करती है।

●

अपने को भोक्ता, दूसरे को भोग्य और दूसरे को भोक्ता, स्वयं को भोग्य समझना संसार है। दर असल एक परमात्मा है, उसमें भोक्ता-भोग्य का भेद नहीं है। **पुरुष** भोक्ता है, स्त्री भोग्य–यह भ्रम है। स्त्री भोक्ता और **पुरुष** भोग्य है–यह भी भ्रम है। विषय शरीरको खाये जा रहे हैं या शरीर विषयों को इसका निर्णय जज बनकर करो।

●

जैसे बेवकूफ आदमी दाद खुलजाने को ही सुख मानता है, वैसे ही त्वचा को त्वचा से, जीभ को मिर्च-मसाले से–इन्द्रियों को विषयों से घिसने को ही सुख कहा जाता है। यह तो केवल आवेग की शान्ति है। सुख कहाँ है ? जिसे लोग सुख कहते हैं, वह तो इच्छा उदय होने के पूर्व भी था। फिर मिला क्या ?

●

भोग्य क्षणभंगुर है। इन्द्रियों में सन्तोषजनक शक्ति नहीं। भोक्ता भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार न्यूनाधिक भोग करने के लिये विवश है। ऐसी स्थितिमें संसार में क्या सुख है ?

तुम जज होकर निर्णय करो, भोगी सुखी है या त्यागी ? कहीं दोनों के निर्णायक जज साहब ! आप साक्षी ही तो सुखी नहीं हैं ?

★

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

विश्वम्भर

★

परदेश जाते समय पति ने पत्नी से कहा–'मैं तुम्हारे लिए कितने दिनों का प्रबन्ध कर जाऊँ ?

स्त्री ने कहा–'जितनी मेरी आयु हो !

पति–'यह तो मुझे नहीं मालूम ।'

स्त्री–'जिसे मेरी आयु ज्ञात है, वही मेरी आजीविका का प्रबन्ध करेगा । तुम्हारी चिन्ता व्यर्थ है ।'

उसी स्त्री से पड़ोसी ने पूछा–'क्यों जी, तुम्हारे स्वामी तुम्हारे खाने पीने का क्या प्रबन्ध कर गये हैं ?'

स्त्री बोली–'खाने वाले स्वामी परदेश गये, खिलाने वाले यहीं हैं ।'

●

प्रश्न–'स्वामी, आप पाप और पापियोंसे घृणा करते हैं ?'

उत्तर–'मुझे अपने प्यारे से अवकाश ही कहाँ है ?'

●

एक महात्मा जा रहे थे । किसी ने उनके ऊपर एक टोकरी राख डाल दी । शिष्य बिगड़े । महात्मा बोले–'आज मेरे ऊपर आग बरसने वाली थी । इन्हें धन्यवाद दो कि इन्होंने उसे राख कर दिया ।'

★

सुख-दुःख मनकी कल्पना है। मनने दुःख माना तो दुःख और सुख माना तो सुख। दुःख-को-दुःख मत मानो, वह तो भगवान्‌की कृपा है।

★ ★ ★

मनुष्य अपने घरमें दुश्मनको किसी भी मूल्यपर टिकाना पसन्द नहीं करता, परन्तु हृदयमें बैठे हुए राग-द्वेषादि शत्रुओंको निकालता नहीं, कैसी विडम्बना है ?

★ ★ ★

प्रेम, प्रेमी और प्रियतम

★

प्रेम ही सबसे बड़ा कर्म और सबसे बड़ी उपासना है।

●

प्रेम में अपनी ओर से कुछ नहीं चाहना चाहिये।

●

प्रेम ही एक ऐसा है जो ईश्वर को भी, सब पर शासन करने वाले को भी अपने वश में कर लेता है।

●

प्रेम में इष्ट देव का सुख ही अपना सुख है। उनकी अनुकूलता ही अपनी अनुकूलता है! जहाँ तक हो सके उनकी सुविधा ही देखनी चाहिये। अपने सुख के लिये उनकी मानसिक उलझन नहीं बढ़ानी चाहिये।

●

प्रेम में—'वे मुझसे बहुत प्रेम करते हैं,' यह विश्वास ही प्रेमी का जीवन है। इसके बिना तो वह मर जायगा। असलमें 'मैं प्रेम करता हूँ'—ऐसा सोचना प्रेम नहीं है। इससे अभिमान ही बढ़ता है। 'वे मुझसे बहुत प्रेम करते हैं,' ऐसा भाव प्रेम में बहुत आता है। यह विश्वास ही सम्बन्ध को गाढ़ करता है। सम्बन्ध से ममता और ममता की पराकाष्ठा ही प्रेम है।

●

प्रेम का यह स्वभाव ही है कि वह अनन्य चिन्तन के रूपमें प्रकट होता है। प्रीति की रीति यह है कि उसमें दूसरे के लिये अवकाश ही नहीं रहता। श्रीराधारानी के मन में कृष्ण और कृष्ण के मन में राधारानी के अतिरिक्त दूसरा कोई होता ही नहीं।

●

जिसमें प्रेम होता है, उसकी याद अपने आप आती है। उसे हम भूलही नहीं सकते। कभी प्यासा पानी को भी भूलता है?

●

ईश्वरके साथ अपना कोई सम्बन्ध जोड़ भर लो, फिर तो जैसे अपने और सम्बन्धियोंकी याद आती रहती है, वैसे ही उनकी भी याद आयगी। फिर यही

याद ध्यान में रूपान्तरित हो जाती है।

●

प्रेमी के लिये चार बातें अत्यन्त आवश्यक है–

विश्वास, सेवा-भाव, सम्बन्ध और नाम-जप।

इनमें भी नामजपकी महत्ता अधिक है। नाम-जप में रूप का स्मरण भी बना रहता है। तथा यह सभी अवस्थाओं में किया जा सकता है।

●

प्रेम नयी स्मृति, नया ध्यान, नया सम्बन्ध, नया जीवन एवं नयी स्थिति देता है। वह प्रियतम और प्रेमास्पद को मिलाकर एक कर देता है।

●

प्रेम में वेग आता ही तब है, जब उसमें रुकावट आती है और वह वेग उस रुकावट, बन्धन को तोड़ कर ही दम लेता है।

●

प्रेम की दृष्टि के बिना ईश्वर-का दर्शन होना सम्भव नहीं।

●

प्रेमी चाहता है चित्तवृत्ति प्रियतम में लगी रहे, सेवा का सौभाग्य मिले और वे सुखी रहें।

●

भगवान् से प्रेम होने पर–

१. संसार के लोगों से संबन्ध नहीं रह जाता। बने तो राम से, बिगड़े तो राम से। 'हरि सों जोरि सबन सों तोर्‌यो।'

२. अन्तर्मुखता आ जाती है अर्थात् उनसे उलझे रहने में ही मजा आता है।

३. शास्त्र की बांत झूठी नहीं मालूम पड़ती।

अपने प्रत्येक संकल्प का, रोम रोम का ईश्वर के प्रेम में डूब जाना ही प्रेम है। प्रेम होने के बाद प्रतीत होता है कि हवा बनकर वही पंखा झल रहा है, सूर्य और चन्द्रमा बनकर प्रकाश दे रहा है और पृथ्वीके रूपमें वही अपनी गोद में बैठाये भी है।

●

अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्रेम से बढकर और कोई वस्तु नहीं।

प्रेम मुँहमें आनेसे जूठा हो जाता है ।

प्रेम पचकर रसायन बन जाता है ।

प्रेम दिखानेसे संसार बन जाता है ।

प्रेम ईर्ष्यासे नरक बन जाता है ।

प्रेम अनेक से होने पर अधर्म बन जाता है ।

प्रेम क्रिया में आने पर सेवा बन जाता है ।

प्रेम स्वरूप में रहकर शुद्ध प्रेम रहता है ।

●

अपने भगवान् के लिये एक जिद (दृढ़ निश्चय) होना चाहिये कि वे ऐसे हैं, यह हैं । यह जिद़ ही बाद में निष्ठा, अनुभव और प्रेम का रूप धारण करती है ।

●

'हे विधाता, मैं तीव्र तपस्या करके तिल बनना चाहती हूँ ।'

'इससे क्या होगा री, बावरी ?'

'मैं अपनेको स्वच्छ करूँगी, कोल्हूमें पिराऊँगी, तेल बनकर हाटमें बिकूँगी । यदि मेरी एक बूँद भी प्रियतम के बालों तक पहुँच सकी तो....।'

'क्या उन्हें सुख पहुँचाने के लिये ?'

'ना-ना, उनके बालोंका स्पर्श होते ही मैं जी जाऊँगी ।'

'राम, राम ! क्यों मरना चाहती है ?'

'मुकुन्द कहो ! मैं मरी तो अब हूँ, जब प्रियतम मुझसे दूर हैं ।'

●

जो रोते हैं, उनको भी भगवान् मिलते तो हैं, पर दया करके; और खिले हुए दिल को, प्रेम के अधीन होकर ।

●

गोपी बन जाओ, कृष्ण झटपट मिल जायँगे ।

●

प्रेमका स्वरूप है प्यास । पानीके अभावमें प्यास के कारण जैसी व्याकुलता होती है, वैसी ही यदि ईश्वर के लिये हो जाय तो वह मिल जाय । प्रेम में इसीको व्याकुलता कहते हैं ।

प्रेमका बाप विश्वास है । बिना विश्वास के प्रीति नहीं हो सकती ।

ज्ञान-कणिका

★

मैं सच्चिदानन्दघन, अद्वैत, अनन्त, निर्विकार आत्मा हूँ। मुझमें नाम-रूपात्मक द्वैतरूप विषयात्मक प्रपञ्चका अस्तित्व ही नहीं है। मैं शुद्ध अमन हूँ। इस प्रकार मन के अभाव का निश्चय करके अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ।

●

जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्थामें मन विषयों का चिन्तन करता है, सुषुप्तिमें नहीं करता—समाधि और मूर्च्छामें भी नहीं। मैं अवस्था नहीं हूँ, इनका साक्षी तुरीय हूँ। मन विकारी है, दृश्य है, जड़ है। मिथ्या विषय भावरूप हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मन की शान्त, घोर, मूढ़, सुख, दुःख आदि समस्त वृत्तियाँ दीख रही हैं।

(दीखने की स्थिति में मन पत्थर-सा निःसङ्कल्प हो जाता है।)

●

मैं स्वामी हूँ और मन मेरा सेवक। मैं जड़ शरीर नहीं। चेतन आत्मा हूँ। मेरे अधीन मन का अस्तित्व है। मैं जब मूर्खता से अपने को शरीर मान बैठता हूँ तब वह मेरा संचालन करने लगता है। रे मन, आ! जहाँ मै कहूँ; वहाँ निःसंङ्कल्प हो जा। नहीं तो मैं-तुझे छोड़ता हूँ। मैं यहाँ स्थिर हूँ, तेरी मौज।

●

मेरे और जगत् के सारे मनों का संचालन ईश्वर ही करता है। जब वह परम कृपालु मेरे मन में पवित्रता, शान्ति की इच्छा दे रहा है तो क्या वह शान्ति न देगा? ईश्वर मेरे मन को पवित्र, अन्तर्मुख एवं शान्त बना रहा है। मैं पवित्र, अन्तर्मुख तथा शान्त हो रहा हूँ। अपने ईश्वर, अपने स्वरूपका मुझे स्पष्ट अनुभव हो रहा है।

●

अरे मन! तू जिस विषय का चिन्तन करने जा रहा है, क्या उससे सुन्दर और कुछ है ही नहीं? क्या ईश्वर और आत्मा भी तुझे प्यारे नहीं लगते? तब और का चिन्तन क्यों? शान्त स्थिति से उदासीनता क्यों? मेरे प्यारे पवित्र

मन ! आओ, सबसे श्रेष्ठ परमानन्दस्वरूप परमात्मा में स्थिर हो जाओ ।, मेरे प्रिय मित्र, कितने अच्छे हो तुम कि पवित्र, शान्त आत्मामें स्थित हो !

●

आप अपने मन को जैसा बनाना चाहते हैं, वैसा देखिये । वह उसी समय आपको वैसा दीखेगा । वस्तुत: देखने के सिवा और मन है ही क्या ? यह बात ध्यानमें आते ही तत्क्षण आँप मन से स्वतन्त्रताका अनुभव करेंगे ।

●

उन दिनों काशी के काशीदेवी मठ में स्वामी श्री ज्योतिर्मयानन्दजी महाराज पधारे हुए थे । वे उच्च कोटि के विद्वान्, विवेकसम्पन्न, वैराग्यवान् और योगाभ्यासी थे । उनका शारीरिक सौन्दर्य भी कम आकर्षक नहीं था । उनके साथ ही ठाकुर प्रसिद्धनारायण सिंह भी कुण्डलिनी-जागरण का अभ्यास करते थे । इसलिये उनके बारे में बहुत-कुछ सुन रखा था । मैं उनका दर्शन करने गया । उन्होंने सहज मुस्कान के साथ कहा—'संसार के भोग भोगने हों तो भोग लो । शुद्ध जीवन का निर्माण करना हो तो कर लो । संसार को मिटाना कोई बड़ी बात नहीं । यह तो मिथ्या है । जान लेने मात्र से मिथ्याकी निवृत्ति हो जाती है ।' उन्होंने चुटकी बजाते हुए कहा—'संसार तो यों मिटता है ।'

उनकी यह बात मुझे आज भी ज्यों-की-त्यों याद है । इस उपदेश का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा था ।

★

अपने अन्त:करणमें कैमरा नहीं, आईना बनाओ कि उसमें संसारका कोई पदार्थ प्रतिबिम्बित तो हो पर ठहरे नहीं।

★ ★ ★

एक राजाने दरबारमें कविकी कुरूपतापर हँस दिया। कविने पूछा—'*मटियहिं हँसत कि कोहँरहि ?* तू मिट्टीपर हँस रहा है कि उसके बनानेवाले कुम्हार ईश्वरपर ? मिट्टी तो मेरे शरीरमें भी है। इसके कारीगरकी हँसी उड़ाना तो साहसकी पराकाष्ठा है।'

★ ★ ★

सांमनस्य-सूक्त

★

(यह सूक्त राष्ट्रीय सभामें जनताके सन्मुख अध्यक्ष के
द्वारा पढ़कर सुनानेके लिये है)

(महाराजश्री द्वारा अनुदित)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

सदस्यों ! मैं चाहता हूँ कि जैसे सर्वथा अवध्य गोमाता अपने बालकसे प्रेम करती है, वैसे ही आप सब एक दूसरेके प्रति प्रेम करें। स्नेह का दूध पिलावें। मैं संकल्प करता हूँ कि आप सबका हृदय एक दूसरेके हृदयसे मिला रहे, सबके मन में सामञ्जस्य (मेल-मिलाप) बना रहे, सबके शुभ-संकल्पोंकी कड़ी जुड़ी रहे और परस्पर विद्वेष (एक दूसरेके प्रति जलन) कभी न हो।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

पुत्र पिताके सद्व्रतके अनुरूप व्रत धारण करके उसका प्रेमपात्र बने और माताके वात्सल्यपूर्ण मनके साथ अपने मनकी संगति मिलाये। पत्नी अपने पतिके प्रति मीठी वाणी बोलकर घर-बाहर शान्तिकी गुलाबी वायुसे शीतल कर दे।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

भाई भाईसे द्वेष न करे और बहिन बहिन से द्वेष न करे। भाई बहन परस्पर द्वेष न करें। आप सब सदाचारी हों, व्रती हों, संघटित हों और सत्य, हित, मित एवं प्रिय वाणीके द्वारा परस्पर बातचीत करें।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

मैं आप लोगोंके घरमें उस परिपूर्ण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा करता हूँ और आप सब सदस्योंको वह सम्यक् ज्ञानरूप मन्त्र देता हूँ जिससे देवताओंमें कभी मतभेद

नहीं होता, फूट नहीं पडती और उनमें परस्पर विद्वेष भी नहीं होता।

ज्याय स्वन्दतश्चित्तिनो मा वि यौष्ट सराधयन्तं सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥५॥

अपने-से बड़ेकी सेवा पूजा करो, अन्तर्मुखताकी दृष्टिसे व्यवहारका निर्णय करो, परस्पर मतभेद मत बढ़ाओ। अपने उत्तरदायित्वका वहन करो। एक दूसरेके प्रति प्रसन्न-गम्भीर एवं हित- मधुर भाषण करो। इस प्रकार, सदस्यो! आप इस सभामें आओ! मैं आप लोगोंमें सौजन्य एवं संकल्पकी एकता तथा दृढ़ता स्थापित करता हूँ।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥६॥

प्यारे सभासदों! आप लोगोंके लिये जल प्राप्त करनेका प्रबन्ध एक-सा हो! आपके लिये अन्नका विभाजनसमान रूपसे उपयोगी हो। मैं आप सब लोगोंको समान रूपसे कर्तव्यका बोझ वहन करनेके लिये संलग्न करता हूँ। जैसे रथके अरे सब ओरसे नाभिके आश्रित रहते हैं, वैसे ही आप सब सदाचारी पुरुष एक मतसे अपने श्रेष्ठतम उन्नायक ईश्वरकी आराधना करें और अपने जीवनमें प्रकाश का आवाहन करें।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥७॥

इस ईश्वराधनाके द्वारा मैं आप सबके लिये सदाचारी, एकमत और परस्पर एक-दूसरे के अधीन होनेका संकल्प करता हूँ, जैसे कि अमृतकी रक्षा करते हुए देवतालोग रहते हैं। आप सब सायं-प्रातः अर्थात् सर्वदा सौमनस्यसे युक्त रहें अर्थात् आपका मन अनन्त सौन्दर्यामृतके पान से तृप्त रहे।

(अथर्ववेद ३।६।३०)

प्रभो! मैं समर्पण करनेवाला ही कौन हूँ? जैसा मैं कभी था, अब हूँ, या आगे होऊँगा—सब रूपोंमें तुम्हारा ही तो हूँ। मैं अपनेको कुछ मान बैठा था—अब इस अपराधको पुनरावृत्ति न हो प्रभो!

गुरु कृपा

★ ★ ★

भक्त योगासिंहकी भाँवर पड़ रही थी। एक सिखने आकर श्री गुरुगोविन्दसिंहजीका हुक्म सुनाया, 'समाचार पाते ही आ जाओ।' वे अपनी पत्नीके साथ बँधी हुई गाँठको छोड़कर चल पड़े। रास्तेमें एक शहर पड़ा। वहाँ एक सुन्दरी वेश्याको देखकर कामासक्त हो गये। उस वेश्याके पास जानेके लिये जब वे द्वारपर गये तो वहाँ सिपाही खड़ा मिला। उसने रोक दिया 'ठहरो, ऊपर राजा हैं। आप नहीं जा सकते।' योगासिंहने रात भरमें आठ-दस बार चेष्टा की। हर बार वह सिपाही चौकन्ना मिला। रात बीती। सबेरा हुआ। सूर्यके साथ ही शुभ बुद्धिका उदय हुआ। कुछ ताप भी। वे गुरुसाहबके पास पहुँचे। उन्होंने रोकर अपना अपराध निवेदन किया। श्रीगुरुसाहबने कहा-'बेटा तुम ब्याह करते-करते छोड़कर चले आये। इससे तुम्हें अभिमान हो गया था। काम-विकारने सताकर उसे मिटा दिया। तुम्हारी आज्ञा पालनकी तत्परता और श्रद्धा देखकर मैं बहुत खुश हुआ था। इसलिये मैंने ही सिपाहीका वेश धारण कर तुम्हारी रक्षा की थी।'

ईश्वरके लिये

★ ★ ★

तुम जिस काममें लगे हुए हो, क्या वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके लिये परमात्माका स्मरण छोड़ा जा सके?

● ● ●

जो काम तुम कर रहे हो, वह भगवान्‌के लिये ही है न? नहीं तो क्या तुम स्वार्थके लिये इतने अन्धे हो गये हो कि मैं कहाँ जा रहा हूँ, यह भी तुम्हें मालूम नहीं?

● ● ●

तुम्हें कुछ प्रकाश भी दीखता है, अथवा सब अन्धकार ही अन्धकार? जिनमें तुम उलझे हुए हो, एक बार तटस्थ होकर उन्हें देखो। ऐसा करते ही तुम अपनेको उनसे मुक्त पाओगे।

● ● ●

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

संसारके सारे सम्बन्ध और सम्पूर्ण बन्धन तुम्हारे अपने मनके माने हुए ही हैं। उन्हें चाहे जब तुम जोड़ सकते हो। परन्तु वैसा करते समय यदि तुम भगवान्‌के साथ जुड़ जाओ तो तुम्हें एक अभूतपूर्व आनन्दकी अनुभूति होगी।

● ● ●

यदि चित्तमें निराशा होती है, मन चञ्चल रहता है, तुम जो कुछ करना चाहते हो वह नहीं कर पाते, तो पूरी शक्ति लगाकर परमात्माको पुकारो। तुम्हें तत्क्षण सहायता मिलेगी, तुम्हारे मन-प्राणमें एक नवीन चेतनाका प्रवाह होने लगेगा और तुम अद्भुत उत्साह तथा स्फूर्ति प्राप्त करोगे।

● ● ●

जिन प्रतिकूलताओं और विफलताओंसे तुम घबडा जाते हो, तुम्हें पता नहीं है कि वे तुम्हारी गुप्त और सुप्त शक्तिको जागृत करनेके लिये आती हैं। वे ही तुम्हारे आत्मविकासके अवसर उपस्थित करती हैं। तुम हारो मत। प्राण रहते उनकी जीत मत मानो। अन्तमें विजय तुम्हारी है; क्योंकि परमात्माकी सम्पूर्ण शक्ति तुम्हारे आवाहनकी बाट जोह रही है।

● ● ●

शरीर, इन्द्रिय, प्राण अथवा मन तुम्हें प्रभावित नहीं कर सकते। ये तुम्हारे सेवक हैं, तुम्हारे उपकरण हैं। तुम चाहे जैसे इनका उपयोग कर सकते हो। तब क्यों नहीं सबसे श्रेष्ठ कर्ममें इन्हें लगाते? तुम केवल परमात्माके लिये कर्म करनेकी इन्हें आज्ञा देते रहो, ये अवश्य उसका पालन करेंगे।

● ● ●

तुम्हारी इच्छाके अनुसार यदि तुम्हारे औजार काम नहीं करते तो यह तुम्हारी ही असावधानीका फल है। सावधान रहो, इनकी एक-एक हरकतपर निगाह रक्खो और इनकी एक-एक क्रियाको भगवान्‌के साथ जोड़ दो।

● ● ●

तुमने संसारके साथ तो बहुत-से सम्बन्ध जोड़ रक्खे हैं, क्या भगवान्‌के साथ भी तुम्हारा कोई सम्बन्ध है? यदि होनेपर भी तुम उसे नहीं जानते हो तो जानो, तुम देखोगे कि वे कितने निकट हैं। इतने निकट हैं वे कि ऐसी निकटता और किसीकी है ही नहीं।

निश्चय करो—परमात्मा ही मेरे गुरु, माँ-बाप, पुत्र, मित्र स्वामी एवं पति हैं। और तो क्या, मेरे अपने आत्मा भी वे ही हैं। उनका मैं, वे मेरे; फिर दुःख-दर्द, शोक-मोह और निराशा-उद्वेगके लिये स्थान ही कहाँ है ? मैं अपने प्रभुकी सन्निधिमें हूँ।

● ● ●

विचार करो—कितना सुन्दर और सुखमय हैं वह मन जो परमात्माके स्मरण-चिन्तनमें ही तन्मय रहता है। उसे सर्वदा, सर्वत्र, सब रूपोंमें परम मधुर, मङ्गलमय प्रभुके ही दर्शन हुआ करते हैं। मेरा मन भी यदि वैसा ही हो जाता !

● ● ●

जो समय प्रमादमें बीत चुका है, उसकी चिन्ता मत करो; वह तो अब हाथसे निकल चुका है। इसको, जो अपने हाथ में है, अब क्यों खोते हो ? अधिक-से-अधिक परमात्माके निकट रहकर इसे बिताओ।

● ● ●

जिस समय तुम यह सोचते हो कि मैं अगले घंटेमें या अगले दिन परमात्माका स्मरण करूगा, यदि आगे के लिये कार्यक्रम न बनाकर उसी समय भगवान्‌का स्मरण करने लगो, उस वृत्तिको ही भगवान्‌में डुबा दो तो दूसरे समय मिलनेवाला आनन्द तुम्हें अभी मिल जायगा।

● ● ●

जो सर्वोत्तम वस्तु तुम्हें अभी मिल सकती है उसे, कलपर टाल रखना कहाँकी बुद्धिमानी है ? इसीसे तुम्हारी उत्सुकताकी परीक्षा भी हो जाती है। तुम इसमें निरन्तर उत्तीर्ण होते रहो।

● ● ●

निश्चय करो—मेरे जीवनमें तब तक विश्रामके लिये एक भी क्षण नहीं है, जब तक जीवन और क्षणोंकी स्मृतिका लोप होकर सहज भावसे भगवान्‌की स्मृति नहीं होने लगती।

● ● ●

तुम अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये कुछ त्याग भी सकते हो क्या ? सोचो तो सही, तुम क्या त्याग सकते हो ? इसके लिये हिमालयमें जानेकी आवश्यकता

नहीं है । हाँ, तुम्हारे मनको स्थूलताओंसे कुछ ऊपर उठना होगा ।

● ● ●

अन्तरङ्गकी शीतलता, जो कि भगवान्‌के आश्रयसे प्राप्त होती है, सर्वदा तुम्हारे साथ रहनी चाहिये । चाहे जो भी घटना घट जाय, तुम शीतल रहो । तुममें विकृति अथवा क्षोभ न होने पावे । क्या यह समता तुम्हारे जीवनमें उतर रही है ?

● ● ●

समाधि अथवा योग एकान्तमें बैठकर ही नहीं होता । उनकी पूर्णताकी परीक्षा तो व्यवहारमें होती है । 'योगस्थ' होकर कर्म करो । केवल इसीके द्वारा तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नतिका पता चल सकता है ।

● ● ●

चारों ओर प्रलोभन हैं और उनके बीचमें यह नन्हा-सा जीवन । एक-एकको केवल देखने लगो तो लाखों जन्मोंकी आवश्यकता होगी । तुम तो केवल एकको देखो । जो तुम्हारे हृदयमें बैठकर तुम्हें कुछ देखने-सुनने, हिलने-डोलनेकी शक्ति देता है, उस उद्गमके प्राप्त होते ही तुम परमानन्दकी जन्मभूमि हो जाओगे ।

● ● ●

भगवान् के अतिरिक्त और किसीका विश्वास तुम्हें धोखा देकर ही रहेगा, यह परम सत्य है । सम्भव है, इस बातका बोध तुम्हें बहुत ठोकर खानेके बाद हो । परन्तु यदि अभीसे भगवान् पर विश्वास कर लो तो ठोकर खानेका अवसर ही न आवे ।

● ● ●

कर्मका चक्र अनिवार्य है । इसमें इच्छा करनेवाले ही मारे जाते हैं; परन्तु यदि समता और अनासक्तिका आश्रय लेकर तुम झूलेमें बैठ जाओ तो देखोगे कि झुलानेवाला भी तुम्हारे साथ है और तुम झूलन-लीलाके आनन्दमें मस्त हो ।

● ● ●

यदि तुम अपनी इच्छासे नहीं, भगवान् की इच्छासे ही चल रहे हो तो सैकड़ों जन्म-मृत्युओंमें जाना भी तुम्हारे लिये सौभाग्य और परमानन्द है ।

क्या ही उत्तम हो कि तुम उसी मार्गपर चलो, जिसपर आजतकके महापुरुष चलते आये हैं। अवश्य ही जबतक तुम चलना प्रारम्भ नहीं करते हो, वह कठिन मालूम पड़ता है; परन्तु यदि चल दोगे तो देखोगे कि वह कितना सरल, सुगम तथा सुखमय है।

● ● ●

एक बात जान लो—मैं परमात्मा का हूँ और परमात्मा मेरा अपना है।

● ● ●

यह स्मरण रक्खो कि जगत्‌के रूपमें भी परमात्मा प्रकट हैं। जब सब परमात्मा ही हैं, तब राग-द्वेष किससे ? मेरा जीवन परमात्मासे परिपूर्ण है।

● ● ●

तुम्हारे सङ्कल्प परमात्माके लिये हों, केवल परमात्माके लिये हों और तुम भागवत सत्तासे युक्त रहो। बस, तुम्हारा जीवन सच्चा भागवत जीवन होगा।

● ● ●

तुम उसके लिये क्यों चिन्ता कर रहे हो, जो स्वयं होने जा रहा है ? जो नहीं होनेवाला है, उसकी चिन्ता भी व्यर्थ है। तुम निश्चिन्त रहो और अपने निश्चिन्त चित्तमें भगवान्‌को आने दो। निश्चय करो—मैं निश्चिन्त हूँ। अनुभव करो—परमात्मा मेरे हृदयमें प्रकट हो रहे हैं।

● ● ●

यह तुम्हारा अहङ्कार मिथ्या है कि मेरे करनेसे कुछ हो जायगा। जो तुमसे कराया जा रहा है, करते जाओ। जिस समय अलग होनेकी सूचना मिले, अविलम्ब अलग हो जाओ। कर्मकी पूर्णता और उनके फल तुम्हारे अधिकारसे बाहर हैं। तुम अपने जीवनको उस महान्‌का यन्त्र बन जाने दो।

● ● ●

तुम्हारा जीवन समर्पित है, तुम भगवान्‌के अपने हो, उनके स्वरूप हो। अनुभव करो—मेरा सौभाग्य अखण्ड है, मैं परमात्माकी कृपासे पूर्ण हूँ। मैं एकरस अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मामें स्थित हूँ।

● ● ●

एक क्षण देवता और दूसरे क्षण दैत्य—भला यह भी कोई जीवन है ?

जीवन तो एकरस होना चाहिये। विश्वासपूर्ण भावना करो—मेरा यह समर्पित जीवन दिव्य जीवन है, आसुर भाव मेरा स्पर्श नहीं कर सकते, अब मैंने दुष्कर्म और दुर्भावनाओंसे सर्वदाके लिये छुट्टी पा ली है।

● ● ●

अन्तदृष्टिसे अनुभव करो—परम सत्य, परम ज्ञान और परमानन्द मेरी अपनी सम्पत्ति है। उनकी एकरस अनुभूति ही मेरा स्वरूप है, मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ।

हमें भगवत्प्राप्तिमें देर क्यों ?

★ ★ ★

उन दिनों ध्रुवजीको भगवत्प्राप्ति हुई थी। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इकट्ठे हुए। परस्पर विचार करने लगे कि हम लोगोंने कठिन-कठिन तप, व्रत, आराधन किये, भगवत्प्राप्ति नहीं हुई। यह नन्हा-सा शिशु। छः मासकी इसकी तपस्या। भगवान् इसे कैसे मिल गये और हमें भगवत्प्राप्तिमें देर क्यों ?

निश्चय हुआ कि चलकर ध्रुवसे ही पूछा जाय। उनके पूछनेपर ध्रुव कोई उत्तर न दे सके; क्योंकि उन्हें अपनेमें किसी विशेषताका कोई पता नहीं था। ध्रुवके चुप रहनेपर महात्माओंने कहा—

'अच्छा, जब भगवान् मिलें, तब उनसे पूछकर बतलाना।' ध्रुवके प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने कहा—'अभी चलो, घूम आयें, फिर प्रश्नोत्तर।'

दोनों निकल पड़े। सामने विशाल जलराशि। खिले कमल। सारस, हंस तैर रहे थे। छोटी-सी सुन्दर नावपर दोनों बैठे। भगवान्‌ने पतवार अपने हाथ में ली। नाव जलपर तैरने लगी। ध्रुव अपलक नेत्रोंसे अनूप रूपराशिका पान करने लगे। थोड़ी दूरपर एक श्वेत पर्वत मिला। ध्रुव ने पूछा—'प्रभो, यह क्या है ?' भगवान् ने कहा—'यह तुम्हारे अनादिकालसे अब तकके उन जन्मोंकी हड्डियोंका पर्वत है जिनमें तुमने मेरी भक्ति नहीं की थी।'

आगे बढ़नेपर पहलेसे भी विशाल गगनचुम्बी पर्वत देखकर ध्रुवने जिज्ञासा की। भगवान्‌ने कहा—'ध्रुव! यह तुम्हारे उन जन्मोंकी हड्डियोंका पर्वत है, पहले-से लाखों गुना बड़ा, जिनमें तुमने मेरी भक्ति की है। यह जो आज मैं तुम्हें मिला हूँ, तुम्हारी नाव खे रहा हूँ-यह केवल एक जन्मकी साधना नहीं है। तुमने मेरे लिये कोटि-कोटि जन्म खपा दिये।'

ध्रुवने महात्माओंसे यह चर्चा सुनाई, महात्माओंके प्रश्न का उत्तर मिल गया।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

पुण्यदृष्टि

★ ★ ★

एक महात्मा अपने शिष्यके साथ यात्रा कर रहे थे। मार्गमें सामनेकी ओर मरे कुत्तेकी लाश पड़ी थी। शिष्यने कहा-'महाराज, यह कुत्ता पूर्वजन्मका कोई पापी रहा होगा, जिससे इसकी लाश सड़ रही और दुर्गन्ध फैला रही है।'

महात्मा-'नहीं बेटा, पूर्व जन्ममें अवश्य ही यह कोई पुण्यात्मा रहा होगा; क्योंकि इसके सुन्दर-सुन्दर श्वेत दाँत बहुत चमक रहे हैं।'

सत्य है, महात्माकी दृष्टि सृष्टिके शुक्लपक्षको ही देखती है।

दोष बताना साधुका काम नहीं

★ ★ ★

एक महात्मा गंगाजीमें नावपर सिद्धासन लगाकर शान्तिसे बैठे हुए थे। उनके चारों ओर बैठकर भक्तगण पाठ कर रहे थे-उपनिषद्, गीता, रामायण। कई बहुत अशुद्ध उच्चारण कर रहे थे-एक पण्डितने कहा-'महात्माजी, इन अशुद्ध पाठ करनेवालोंको आप रोकते क्यों नहीं?'

महात्माने कहा-'दोष देखना और बतलाना साधुका काम नहीं।'

प्रभुके सम्मुख

★ ★ ★

क्या सम्भालनेवाला तुम्हारी ओर निरन्तर निहार नहीं रहा है? वह तो बिना पाँव लड़खड़ाये दिन-रात अपनी गोदमें ही रखनेवाला और अपनी साँसोंकी हवासे अपने प्रेमीका पसीना सुखानेवाला है। वह एक जीवन देनेवालेको सौ जीवन देनेवाला है।

● ● ●

जो गये, वे गये। भूतके साथ अपनेको मत बाँधो। वर्तमानमें जो तुम्हारा है-सम्पूर्ण रूपसे और जो तुम्हें स्पष्ट रूपसे क्षण-क्षणपर अपना कहता रहता है, उसके साथ अपनेको बाँध दो, वह तुम्हारा कृष्ण ही एकमात्र तुम्हारा है।

● ● ●

किसी देशमें रहो, किसी वेशमें रहो-केवल गुण ही ग्रहण करो। दोषका प्रभाव मत पड़ने दो। हमेशा अच्छाईको स्वीकृति देना और बुराईसे परहेज करना चाहिये।

● ● ●

जब अपने मनकी नहीं होती, अपने प्रभुके मनकी होती है। मनुष्यको अपने मनकी होनेपर नहीं, उनके मनकी होने पर प्रसन्न होना चाहिये।

● ● ●

'अहं' का सर्वथा नाश वाञ्छित नहीं है। जीवनमें थोड़ा-सा सात्त्विक 'अहं' होना ही चाहिये। बिना 'अहं'के लोग दबा लेते हैं। इसलिये अपने ईश्वर, देश, चरित्र, धर्म, त्याग एवं संयमका 'अहं' रहना ही चाहिये।

● ● ●

इच्छा होनेमात्रसे कोई हानि नहीं है। इच्छा गलत हो तो उसके अनुसार काम नहीं करना चाहिये।

● ● ●

अपने मनकी प्रधानता रखनेकी बात दुःखकी जननी है। अपनी जिद छोड़नेकी आदत डालनी चाहिये, फिर कभी रोना नहीं पड़ेगा।

● ● ●

लोभ ही ऐसी वृत्ति है जो भक्तको भगवान्‌से विमुख कर देती है।

● ● ●

बेवकूफी, कामना और सामर्थ्यसे बाहरके कर्मसे ही दुःख होता है।

● ● ●

मित्रता और समदर्शन से ही भगवान्‌की पूजा होती है। भगवान् ही सबमें हैं। किसीका अपमान करना, अपने ही भगवान्‌का अपमान करना है। भगवान्‌की सच्ची भक्ति तो यही है कि हम सब जगह, सबमें भगवान्‌के ही दर्शन करें।

● ● ●

सुख-दुःख मनकी कल्पना है। मनने दुःख माना तो दुःख और सुख माना तो सुख। दुःखको दुःख मत मानो, वह तो भगवान् की कृपा है।

● ● ●

शिष्य-'अमुक व्यक्ति बड़ी निन्दा करता है। सुनकर दुःख होता है।'

महात्मा-'बेटा, शाम को बहुत-से मच्छर भिनभिनाते हैं। वे क्या कहते हैं यह सुनने तुम कहाँ जाते हो ? उसका अर्थ भी समझते हो ? बेटा, निन्दाका अर्थ ग्रहण मत करो, दुःख भी ग्रहण नहीं होगा।'

● ● ●

मनुष्य अपने घरमें दुश्मनको किसी भी मूल्यपर टिकाना पसन्द नहीं करता; परन्तु हृदयमें बैठे हुए राग-द्वेषादि शत्रुओंको निकालता नहीं, कैसी विडम्बना है ?

● ● ●

अपने अन्तःकरणको कैमरा नहीं, आईना बनाओ कि उसमें संसारका कोई भी पदार्थ प्रतिबिम्बित हो; पर ठहरे नहीं।

● ● ●

एक राजाने दरबारमें कविकी कुरूपतापर हँस दिया। कविने पूछा 'मटियहिं हँसत कि कुहँरहिं ?' तू मिट्टीपर हँस रहा है कि उसके बनानेवाले कुम्हार ईश्वरपर ?

मिट्टी तो तेरे शरीरमें भी है। इसके कारीगरकी हँसी उड़ाना तो साहसकी पराकाष्ठा है !'

● ● ●

पापका प्रायश्चित है पश्चात्ताप और पुनः न करनेका दृढ़ निश्चय।

● ● ●

यदि मुक्ति चाहते हो तो जीवनमें तीन बातों को धारण करो—

(१) जो कुछ सामने आये, उसमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करो।

(२) अपने कर्मका जो भी फल मिले, उसे खुशी-खुशी भोग लो।

(३) अपना हृदय, अपनी वाणी, अपना शरीर भगवान्‌के सामने झुकाकर रखो, जैसे कोई मोमका पुतला हो—जाही विधि राखै राम ताही विधि रहिये।

यह जीवन चार दिनकी चाँदनी है, कब समाप्त हो जाय, कुछ पता नहीं। रोग लगे रहते हैं, बड़े-बड़े स्वस्थ भी तो चल बसते हैं। इसलिये किससे राग और किससे द्वेष ? किससे ममता, कहाँ आसक्ति। अपने मनको संसारसे

हटाकर भगवान्‌की ओर लगाना चाहिये ।

● ● ●

थोड़ी दृढ़ता रखनेसे मन अपने निश्चयकी ओर तीव्र गतिसे चलने लगता है ।

● ● ●

सभीके मनकी गहराईमें कुछ अज्ञात भावनायें छिपी रहती हैं । मनुष्यको उनका पता भी नहीं होता । उन अव्यक्त संस्कारोंके एक बार व्यक्त हो जानेपर यह सहज प्रश्न होता है कि उन्हें पूरा किया जाय या मिटाया जाय ? किस पथसे चलना है, इसका निश्चय तो कोई अनुभवी पुरुष ही कर सकता है, भ्रान्त नहीं । मार्ग-दर्शनके लिये महापुरुषका आश्रय लो ।

सरसोंके दाने

★ ★ ★

दो महापुरुषोंका मिलन हुआ । भक्तिपर विचार चल रहा था । एक बोले- ' एक पात्रसे दूसरे पात्रमें तेल डालनेमें जो धाराकी अविच्छिन्नता है, वही भक्ति है । अथवा शिवलिंगपर सरसोंको लगातार गिराया जाय, उस अजस्त्र प्रवाहका नाम ही भक्ति है ।'

दूसरे बोले–'शिवलिंगपर गिराये गये सरसोंका एक दाना जितनी देर मूर्तिपर टिकता है उतनी देरके लिये भी जीवका मन भगवान्‌में लगना ही भक्ति है ।

● ● ●

मूल्य समयका नहीं, प्रेमका होता है । प्रेमसे दो मिनट किया हुआ भजन भी सारे दिनके भजनसे श्रेष्ठ है ।

● ● ●

मनमें जब भी अशान्तिका उदय हो, अपने भगवान्‌का चिन्तन करो, शान्ति मिलेगी–

'श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति ।'

● ● ●

संसार केवल जीवन निर्वाहके लिये है, प्यार करनेके लिये नहीं । प्यार

करनेसे यह रुलायेगा ।

● ● ●

जिसके जीवनमें धर्म नहीं, भगवद्भजन नहीं, वह पशुतुल्य है—खाया-पीया और सोया, कमाना, खाना, पाखाना और सोना । भला, जिसका भगवान्‌के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, उसकी भी कोई जिन्दगी है ?

● ● ●

श्रीकृष्णके लिये ही नाचो, गाओ, रोओ और हँसो भी । जिस संसारी सम्बन्धीको तुम्हारी चिन्ता नहीं, उसके लिये तुम क्यों मरते हो ?

● ● ●

मनमें एक साथ इच्छाओंका पुञ्ज नहीं रह सकता । एक समयमें एक ही कामना होगी । जब हम भगवान्‌को चाहते हैं तभी (उसी कालमें) उनका स्मरण होता है । हम नहीं चाहते तब विस्मरण होता है । परमात्माका दर्शन चाहकी गहराईमें होता है ।

● ● ●

भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे संसार-वासना निवृत्त होती है । उससे दिल साफ होता है । दिलकी सफाईसे दुःख कम होता है और इसके बाद ही परमात्मा मिल जाता है ।

● ● ●

अपनेको निर्दोष रखना है तो दूसरोंके दोष मत देखो । दोष-दर्शन ही सबसे बड़ा दोष है ।

● ● ●

मनमें विकार आयें, विक्षेप हो तो कातर होकर गुरुदेव को पुकारो मन ही मन । सच्ची प्रार्थना निष्फल नहीं जाती । महापुरुषोंका ध्यान करनेसे तो समाधि भी लग जाती है ।

● ● ●

हमेशा खुश रहो । तुम्हारे हृदयमें ही ईश्वर रहता है । तुम्हारी पवित्र, प्रसन्न मुस्कानमें ही ईश्वरका आनन्द प्रकट होता है । बाहरके लोगोंसे प्रसन्नता उधार मत माँगो । कीमत चुकाकर भी न लो । भीतर बैठे ईश्वरके खजानेसे लेकर बार-बार बाहर उँडेलो । इसीसे तुम्हारे प्रभु तुमसे आनन्दित होंगे ।

धर्म शब्दका सम्पूर्ण अर्थ है मन और इन्द्रियोंको वशमें करना। उनके वशमें अपनेको कर देना अधर्म है। जो धर्मसे छुट्टी ले लेता है वह अपने जीवन (सत्), समझदारी (चित्) और सुख (आनन्द) से भी छुट्टी ले लेता है। इसलिये अपने जीवनको धर्मके बन्धनमें बाँधना दुःख, बेवकूफी और मृत्युसे मुक्ति पानेका पथ है।

● ● ●

जब तक मायकेके सम्बन्धके समान स्थूल शरीरके ममता-सम्बन्ध छूटकर ससुरालकी भाँति उस भावशरीरके सम्बन्ध ही अपने सर्वस्व नहीं हो जाते, तब तक भावशरीर कच्चा रहता है। यह कमजोरी ही भक्ति-प्रेम बढनेमें बाधा डालती है। इसीके कारण संसारी भाव नहीं मिटते। बार-बार ईश्वरमें, गुरुमें तथा अन्य गुरुभाई-बहिनोंमें संसारी भावोंका सम्बन्ध कल्पित हो जाता है। यही मनुष्य-सम्बन्धभाव भक्ति जगत्का अपराध है, उन्नतिमें प्रतिबन्ध है। इसीसे बचना आवश्यक है।

● ● ●

प्रत्येक परिस्थितिमें, वह बाहरसे देखनेमें भलेही कैसी भी क्यों न हो, भगवान्की कृपा और प्यार सर्वदा प्राप्त है—यह विश्वास ही भक्तजीवनका सार है।

● ● ●

भगवान्की याद हो तो ऐसी, जो करनी न पड़े। पल-पलमें स्वयंप्रकाश हो। भगवान् जितना प्रेम करते हैं, उतना कोई किसीपर कर ही नहीं सकता। अपनेको तो केवल कृतज्ञ ही होना चाहिये, यही प्रेम सबसे अच्छा है।

● ● ●

ईश्वरका आशीर्वाद जीवमात्रपर बरस रहा है। मनुष्य विश्वास और प्रेमसे उसका अनुभव कर सकता है।

● ● ●

देह और परिवारकी आसक्ति भगवद्भक्तिमें बाधक है। धनकी ओर तो मन सर्वथा ही नहीं जाना चाहिये। शरणागति अथवा आत्मसर्पणके बाद देहरक्षाकी चिन्ता भी नहीं करनी चाहिये।

चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः ।
तथार्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात् ॥

● ● ●

संसारकी बात सुननेसे राग-द्वेष होता है और भगवान्‌की बात सुनने से कटता है ।

● ● ●

बससे बड़ा वह जो धैर्यशाली, क्षमाशील और अक्रोधी है ।

● ● ●

भगवान्‌के प्रति जो काम होता है, वह संसारसे छुड़ानेवाला ही होता है; क्योंकि इससे संसारका काम तो छूटा ही, ईश्वरकी प्राप्ति भी होती है ।

● ● ●

भगवत्प्राप्तिके लिये अकेले ही चलना पड़ता है ।

● ● ●

उद्देश्य भगवान्‌की प्राप्तिका हो, प्रयत्न उन्हींके लिये हो, विश्वास उन्हींका हो तो उनकी प्राप्ति हो जायगी ।

● ● ●

सन्मार्गमें स्थित मनुष्यको भगवान् भी विचलित नहीं कर सकते ।

● ● ●

भगवान्‌के चरणोंकी शरण ग्रहण करनेवाला कभी डूब नहीं सकता, उसका उद्धार अवश्य-अवश्य होता है ।

● ● ●

जो भक्त सब कुछ त्यागकर भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है, उसे भगवान् कभी नहीं छोड़ते, बल्कि उसके लिये तो वे भी पागल रहते हैं ।

● ● ●

जो भगवान्‌को अपना बना लेते हैं और जिन्हें भगवान् अपना बना लेते हैं, उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं । भगवान् ही एक ऐसे हैं जो हर समय, हर हालतमें व हर देशमें साथ रहते हैं । दुनियांके लोग तो प्रायः अच्छे समय तक या जबतक उनका कार्य हमसे पूरा होता दीखता है, तबतक ही साथ रहते हैं । अतः भगवान्‌को ही अपना हितैषी, परम सुहृद व परम मित्र समझना चाहिये

क्षमा

★ ★ ★

एकनाथजीका नित्य गोदावरी स्नान करनेका नियम था। उनकी सरलता, मैत्री, भगवद्भक्ति आदि सद्‌गुणोंके कारण उनका उत्कर्ष न चाहने वाले कुछ लोग उनसे चिढ़ते भी थे। उनके धैर्यकी परीक्षाके लिये एक दुष्टको नियुक्त किया गया। नदीके मार्गमें वह एक पेड़की शाखापर छिपकर बैठ गया। एकनाथजी स्नान करके लौटे तो उसने उनपर थूक दिया। एकनाथजी लौटे और पुनः स्नान कर लिया। दुबारा थूकनेपर फिर स्नान किया। इस तरह बार-बार थूकनेपर उन्हें नदीमें सौ बार स्नान करना पडा फिर भी उनके मनमें किंचित् भी क्षोभ न हुआ। दुष्ट घबराया, पश्चाताप तप्त वह एकनाथजीके चरणों में गिर पड़ा-

'प्रभो, क्षमा करें, मैने बड़ा अपराध किया।'

'नहीं भाई, तूने तो आज बड़ा उपकार किया', उसे उठाकार अपने हृदयसे लगाते हुए एकनाथजीने कहा—'नित्य तो मैं एक ही बार स्नान करता था। तेरे कारण आज मुझे सौ बार जाह्नवी स्नानका सौभाग्य मिला।'

● ● ●

विठ्ठल सेवाके वशमें

★ ★ ★

भक्त पुण्डलीक अपने माता-पिताकी सेवा कर कर रहे थे। भगवान् विठ्ठल आये, कहा-'द्वार खोलो, मैं दर्शन देने आया हूँ।'

पुण्डलीक-'भगवान्, तनिक ठहरिये ! इस समय मैं अपने माता-पिताकी शुश्रूषा कर रहा हूँ।'

विठ्ठल-मुझे शीघ्र ही लौट जाना है।

पुण्डलीक-'भगवन् ! मैं विवश हूँ, जिस सेवाके फल स्वरूप आपने मुझपर अब कृपा की हैं, वही सेवा मुझे आपको अवश्य प्राप्त करायेगी'।

कहना न होगा कि भगवानको प्रतिक्षा करनी पड़ी। भगवान अति प्रसन्न हुए।

ईश्वर नास्तिकको भी रोटी देता है

★ ★ ★

एक दिन किसी भक्त सेठके घर नास्तिक भोजन करने बैठ गया। मालूम होने पर सेठने उठा दिया। रात्रि स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा–'भगत जी, जिसे मैंने सत्तर वर्षकी आयु तक बिना नागा भरपेट रोटी खिलायी, उसे आप मेरे कहलाकर एक दिन भी न खिला सके! धन्य है आपकी भक्ति।

● ● ●

भगवान्‌ने क्या किसी विशेषरूपका ठेका लिया है?

★ ★ ★

एक भक्तको रात्रिमें स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा–'कल मैं तुम्हारे घर आऊँगा।'

भक्तने दूसरे दिन बड़े उत्साहसे घरकी सफाई करवाई और प्रतीक्षा करने लगे भगवान्‌के पधारने की।

एक भूखा-प्यासा फटे चीथड़ोंमें लिपटा भिखारी सामने आया। चिढ़कर बोले-'हटो, हटो! आज मेरे घर भगवान् आने वाले हैं।'

एक वृद्धा आयी काँपती, खाँसती लाठी टेकती हुई-'बाबा, बड़ा बुखार है! कुछ पहननेको दे दो।' भक्तजीने नौकरसे कहकर उसे भी हटा दिया। एक छोटा सा नंग-धड़ंग बालक साँवला-सा कुचैला आया, पैसा माँगने लगा। भक्त जी दुत्कार कर बोले-'सबेरेसे ही परेशान कर रखा है इन लोगोंने। जानते नहीं, हमारे यहाँ भगवान् पधारने वाले हैं। अरे, है कोई? हटाओ इसे यहाँ से।' भक्त जी दिनभर भगवान्‌के शुभागमनकी प्रतीक्षा करते-करते थक् गये। रात्रिमें पुनः स्वप्न हुआ। भगवान्‌ने कहा–'भक्तजी' मैं दीन-दुःखी, दरिद्र, भूखे और आर्तके रूपमें तुम्हारे सामने आया, तुम पहचान न सके। मैंने कब कहा था कि छत्र मुकुट लगा कर ही आऊँगा! क्या किसी विशेष रूपमें तुम्हें दर्शन देने का मैंने कोई ठेका लिया था?'

● ● ●

पापका प्रायश्चित्त है पश्चात्ताप और पुनः न करनेका दृढ़ निश्चय।

★ ★ ★

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

साधनाके सूत्र

★ ★ ★

जहाँ अपना प्रियतम सम्मुख होता है वहाँ साधनाका रस प्रत्यक्ष मिलता है। अपना प्रियतम सातवें आसमानमें नहीं, यहीं धरतीपर है। उसीके लिये यह जीवन-ज्योति जल रही है। वह देखकर केवल एक बार मुस्करा भर दे जीवन सफल हो जाय।

● ● ●

भक्तके लिये यह आवश्यक है :—

(१) भगवान्‌को कभी दुर्लभ न समझना।
(२) अपने मनको अपने ही दोषों सम्बन्धियों और सुहृदोंके पास न भटकाना।
(३) भगवान् अपनी कृपासे ही मिलते हैं। किसी मूल्यसे नहीं, यह विश्वास।
(४) भगवान् अन्तर्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं।
(५) हमारे दिलकी बातोंको वे पूरी कर सकते हैं, सर्वशक्तिमान् हैं।
(६) दयालु इतने हैं कि उन्हें पूर्ण किये बिना रह नहीं सकते।

● ● ●

'मेरे कण्ठमें मेरे भगवान् हैं,' ऐसी भावना करते हुए रात्रिमें सोनेसे कुछ ही दिनोंमें स्वप्नमें भगवान्‌के दर्शन होने लगते हैं।

● ● ●

सोनेसे दो-मिनट पूर्व यह भावना करो कि भगवान्‌के दोनों चरण पकड़कर मैं सो रहा हूँ और उठनेके बाद दो मिनट तक सोचो कि मैं भगवान्‌के चरण पकड़कर ही सोया था। छः महीनेके अभ्यासके बाद तुम्हें आनन्द ही आनन्द आयेगा और तुम्हारी छः घण्टेकी सुषुप्ति समाधि हो जायगी।

● ● ●

संसारके सारे सुख मिलकर भी भगवान्‌के सुख-सिन्धुके एक बिन्दुके तुल्य भी नहीं हैं—ऐसा ख्याल करनेसे भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। क्योंकि मनुष्य सुख ही सुख चाहता है और वह सत्य-सुख केवल ईश्वरमें ही मिल सकता है, अन्यत्र नहीं।

अपने हृदयमें इतनी प्रसन्नता हो कि भगवान् प्रेमके अधीन होकर हमारे हृदयमें आ विराजें और फिर कभी जायँ ही नहीं ।

● ● ●

सबको सुख देते चलो, किसी न किसी रूपमें भगवान् मिल ही जायँगे । सबको भगवान् मानकर सेवा करते जाओ—देखो, वे मिलते हैं या नहीं ।

रहिमन या जग आइकै सबसे मिलिये धाय ।
ना जाने किहि वेषमें नारायन मिलि जाय ॥

● ● ●

सदा प्रसन्न रहो, प्रसन्न अन्तःकरणमें ईश्वर प्रकट रूपसे रहता है ।

● ● ●

भगवान्का नाम एक बार लेनेसे सब पाप छूट जाते हैं, परन्तु सावधान ! उसके बाद मृत्यु आने तक कोई पाप न हो ।

● ● ●

भक्तकी बहुत-बहुत खुशी ही भगवान्के लिये स्वस्थताका काम देती है ।

● ● ●

भक्तमें यह बातें होनी चाहिये

★ ★ ★

१. क्षमा—बदला न लेनेकी भावना ।
२. सत्य व्यवहार ।
३. समय व्यर्थ न जाने देना ।
४. क्रोध न होना ।
५. आशावान् होना अर्थात् भगवान् अवश्य मिलेंगे, ऐसा विश्वास रखना ।
६. शुद्ध भोजन करना ।
७. हर समय खुश रहना ।
८. भगवान्के धामसे प्रेम होना ।

जो दुनियामें भगवान् और उनके भक्तके अतिरिक्त और किसीको नहीं देखता, वह उत्तम भक्त है ।

● ● ●

जो श्रीकृष्णके चरणोंमें झुक जाता है, श्रीकृष्ण उसकी सब कामनाओंको पूर्ण करते हैं । 'सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं, जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ।' यह नियम है कि यदि एक बार भी मनुष्य सच्चे हृदयसे भगवान्को प्रणाम कर ले तो उसकी सभी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं । भगवान्के चरण कल्पवृक्ष हैं, पर जड़ नहीं, चेतन व परम दयालु कल्पवृक्ष । कोई ऐसी चीज वे नहीं देते, जिससे तुम्हारा अहित हो जाय । शिशुके हठ करनेपर भी माता उसे खुला चाकू नहीं देती ।

● ● ●

सत्संगसे मनमें भगवान्को जाननेकी उत्सुकता बढ़ती और संसार—वासना कम होती है ।

● ● ●

काम, क्रोध, लोभसे आक्रान्त मनके लिये श्रीकृष्णकी कथा महौषध है । भगवत्कथासे मन शुद्ध हो जाता है ।

● ● ●

स्वभावतः हम जो चाहते हैं वही हमारा इष्ट होता है । हमारी प्रियता सुखमें है । उस सुखका साक्षात्कार करनेके लिये हमें किसी आकारको ग्रहण करना पड़ता है । एक आकार, एक निष्ठा पकड़ लेनेसे हमें उस वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है । इष्ट दो नहीं हो सकते । दो बड़े लोग एक कमरेमें नहीं रह सकते, उनके लिये दो अलग-अलग कमरे होने चाहिये । इसी तरह हमारे हृदय में भी एक ही इष्ट आ सकता है, क्योंकि हृदय तो एक ही है, दो नहीं ।

● ● ●

भक्तिके साधन

★ ★ ★

१. शुद्ध भोजन

२. जो वस्तु भक्तिभावके विरुद्ध हो, उसे त्याग देना ।

३. सबका भला करना ।

४. भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये पूजा, पाठ, जप, दानादि करना ।

५. संसारमें मनके विपरीत कुछ भी हो जानेपर दु:खी न होना ।

६. अपनी इच्छानुसार हो जानेपर प्रसन्नतासे फूल न उठना ।

७. हर हालतमें भगवान्‌की कृपा देखना, व उसपर विश्वास करना।

● ● ●

इन पाँच नियमोंको धारण करनेवाला मनुष्य ईश्वरको प्रिय होता है :-

१. किसीको जान-बूझकर कष्ट न देना ।

२. दूसरेके हकको न दबाना ।

३. पर-स्त्रीपर कुदृष्टि न डालना ।

४. यथाशक्ति झूठ न बोलना ।

५. भगवान्‌के लिये कुछ समय अवश्य निकालना ।

● ● ●

इन सात नियमोंपर चलनेसे संसारका दु:ख नहीं व्यापता और ईश्वर भी प्रसन्न होता है :-

१. अपने घरमें भगवान्‌के लिये एक निश्चित् स्थान हो ।

२. कुछ न कुछ समय भगवान्‌के लिये अवश्य निकाला जाय ।

३. ईश्वरकी सेवा-पूजाका कुछ काम अवश्य करें ।

४. अपने इष्टपर न्यौछावर करके यथाशक्ति कुछ न कुछ नित्य गरीबको दें ।

५. भगवान्‌के नामका जप, कीर्तन कम से कम पन्द्रह मिनट अवश्य करें ।

६. अपने हृदयको श्रद्धा, स्नेहसें तर रखें ।

७. जान-बूझकर किसीको दु:ख न पहुँचायें ।

● ● ●

उसको पहचानो

● ● ●

बच्चेकी सेवामें भी भगवान्‌की ही सेवा देखनी चाहिये । वे ही अनेक रूप धारण करके अपने भक्तकी सेवा स्वीकार करते हैं । हर क्षण सावधान रहकर

अपने हृदयको अपने प्यारेकी स्मृति और प्यारसे भरपूर रखना चाहिये। हरएक परिस्थितिको भगवान्‌के साथ जोड़ना चाहिये।

● ● ●

संसारमें सब स्वार्थके साथी हैं। ईश्वर अपने हृदयमें ही है। उसकी प्राप्तिका सीधा-सादा उपाय यही है कि जो वस्तु तुम्हें ईश्वर न मालूम पड़े उसकी ओरसे अपना मन हटा लो। ईश्वर-चिन्तनमें अपना मन डुबानेकी कोशिश करो। इसका एक सरल उपाय है भगवान्‌के नामका जप, कीर्तन तथा भगवद्भक्तोंके चरित्रोंका अध्ययन।

● ● ●

बन्धनका दुःख मत न मानो। जिन आनन्द-मुकुन्दके हाथों तुमने अपनी बागडोर सौंप दी है, वे समर्थ हैं और तुम्हारी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करेंगे।

● ● ●

धन्य है वह जिसे भगवान् दीखते हैं, चाहे किसीको हृदयसे लगाते, चाहे ठुकराते। ऐसे भाग्यवान् कृपापात्र को, जिन्हें भगवान्‌के दर्शन होते हैं, मैं क्या कहूँ? उनके कर्म ही नहीं होते तो कर्मके फल कहाँसे मिलेंगे? मुझे तो किसी भी रूपमें, दुलारते या ठुकराते-दोनों ही तरहके भगवान्‌का दर्शन करके आनन्द आता है। कोई भगवान्‌को देखकर रोता हो तो उसका रोना भी भगवान् है।

● ● ●

भक्तके बदले भगवान् मरनेको तैयार

★ ★ ★

भगवान् करुणा-वरुणालय हैं। वे अपने भक्तके अपराधको सम्भाल लेते हैं, भक्तकी त्रुटिको अपनी त्रुटि समझते हैं।

भगवान् राम अयोध्यामें विराज रहे थे। विभीषण लंका का शासन कर रहे थे। वे शिव भक्त थे। नित्य प्रातः लंकासे पैदल चलकर श्रीरङ्गक्षेत्र आते और जम्बुकेश्वर महादेवका पूजन-अर्चन कर लौट जाते। यही उनका नित्यका क्रम था। एक दिन त्वरामें उनके पैरकी ठोकर लग जानेसे मार्गमें बैठा हुआ एक वृद्ध ब्राह्मण मर गया। नगर में कोलाहल मच गया। विभीषण पकड़ लिये गये। जंजीरों से बाँधकर बन्दीगृहमें डाल दिया गया। अनेक प्रकारकी यंत्रणायें

दी गयीं; किन्तु वे मरे नहीं। भगवान्‌की कृपा और वर उन्हें प्राप्त जो थे। लौटकर जब वे लंका नहीं पहुँचे, अनेक दिन बीत गये, सभी पुरवासियोंको चिन्ता हुई। संवाद अयोध्या पहुँचा। भगवान् श्रीराम सुनकर उदास हो गये। । शिवजीने भी यह बात उन्हें बतलायी। भगवान् करुणावरुणालय हैं। अपने भक्तका संकट उनसे देखा न गया, स्वयं श्रीरङ्गक्षेत्र पहुँचे। ब्राह्मणोंने राक्षसराज विभीषणको उनके सम्मुख उपस्थित किया और प्रार्थना की-'इसने ब्राह्मणकी हत्या की है, हमारे मारनेसे यह मरा नहीं। आप चक्रवर्ती सम्राट् हैं, आप न्याय करें और इसे दण्ड दें।'

भगवान्‌ने कहा—'ब्राह्मणों, लोकमें यही प्रसिद्ध है कि सेवकका अपराध स्वामीका ही होता है। इस विधानके अनुसार विभीषणके अपराधका दण्ड मुझे मिलना चाहिये, क्योंकि यह मेरा भक्त है। इसका अपराध मेरा अपराध है। मेरा मरना कहीं अच्छा है, मेरे भक्तका नहीं—

वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।
राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥
भक्तापराधे सर्वत्र स्वामिनां दण्ड इष्यते।

भगवान्‌की करुणापूर्ण वाष्पगद्गद वाणी सुनकर सभी सभासद विह्वल हो गये। 'धन्य-धन्य' 'जय-जय' के तुमुल घोषसे आकाश गुंजरित हो उठा। विभीषण मुक्त कर दिये गये।

●●●

विरक्त साधकके लिये

★★★

१. ससारकी अनित्यता एवं दुःखरूपताका अनुभव।

२. उसके त्यागका दृढ संकल्प। जैसे,

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

इस प्रकारकी लालसाका बार-बार होना।

३. इन्द्रियोंका दमन, मनका शमन, सांसारिक प्रवृत्तियोंसे उदासीनता, कष्ट सहिष्णुता, श्रद्धा और इष्टमें एकाग्रता।

४. मुझे क्या मिलेगा—इसका विचार न करके केवल वर्तमान-बन्धनसे

मुक्तिकी इच्छा।

५. वासनापूर्तिसे दुःख और निवृत्तिसे सुखका स्वभाव बनाना।

६. यथाशक्ति तीनों तप धारण करना।

*७. सप्त महाव्रतोंका भी ध्यान रखना।

८. निद्रा छः घण्टेसे अधिक नहीं।

९. भोजन असंकल्पित और आवश्यक।

१०. आसन नित्य तीन घण्टे।

११. जप, मौन होकर अधिक से अधिक।

बुद्धिकी अशुद्धि ही जीवनकी अशुद्धि है। जिसकी बुद्धि अशुद्ध है उसकी वासना, क्रिया सभी अशुद्ध हैं।

असङ्ग आत्माका बोध अनन्त है। जीवन एक व्यक्ति है। जीवन्मुक्तका व्यवहार व्यक्तिगत है। वह शुद्ध ही होना चाहिये। उसमें प्रलोभन और पीड़ाके लिये कहीं स्थान नहीं।

योगी लोग वृत्तिसे दुःख हटाकर सुख भरते हैं। उपासक इष्टदेवको बसाता है। वेदान्ती दुःखको हटाता है, सुख को भी हटाता है-इष्टदेवको भी हटाता है।

वह यदि किसी वृत्तिका स्थापन करे तो फिर उसे भी हटाना ही पड़ेगा। इसलिये स्वाद और पीड़ा दोनों मिथ्या हैं, बाधित हैं, प्रतीतिमात्र हैं। ऐसा ज्ञान ही उन सबपर कुठाराघात है।

यदि तुम्हें अनुभव होता है कि वृत्तियाँ मेरे सामने उछल-कूद मचाती रहती हैं, तो इसका यह अर्थ हुआ कि तुम उनके प्रकाशक हो। कोई भी प्रकाश्य वस्तु अपने प्रकाशकसे अलग नहीं होती। यदि तुम अपने प्रकाशक स्वरूपका अनुसन्धान करो, वृत्तियोंसे काम लेना बन्द करो तो देखोगे कि कोई वृत्ति नहीं है। तुम उनसे काम लेते हो, यही उनका काम बना रहना है।

● ● ●

१—दुश्चरित्रतामें रति.

२—मनमें काम-क्रोधादि दोषोंका होना

टिप्पणी— *सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्वाद और अभय-यही सप्त महाव्रत है।

३–चित्तकी चंचलता

४--फल अथवा सिद्धिकी इच्छा

इन चार कक्षाओंको पार किये बिना, केवल ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। पूर्व-पूर्वकी निवृत्ति होने पर भी उत्तर-उत्तर दोषकी स्थिति संभव है। इसलिये चारोंकी निवृत्ति होनेपर ही उच्च कोटिका ज्ञान अविद्या निवृत्तिके द्वारा परमात्माकी प्राप्तिमें समर्थ होता है।

● ● ●

अधिकार=योग्यता+आकांक्षा। किसी भी वस्तुकी आकांक्षा और योग्यता रखनेवाला ही उसका अधिकारी है। आजकल लोग अधिकारका हकके रूपमें प्रयोग करते हैं; परन्तु अधिकारका शास्त्रीय अर्थ उपरोक्त ही है। इसीलिये परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका अभिलाषी और उसकी योग्यता अर्थात् साधन-चतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति ही उसका वास्तविक अधिकारी है।

● ● ●

सिद्ध और सिद्धि

★ ★ ★

परमहंस रामकृष्णसे किसीने पूछा-'सिद्धके क्या लक्षण हैं ?'

उन्होंने कहा-'जिस प्रकार चावल पक जाने पर नरम, कोमल, कणरहित, मृदु और अलग-अलग हो जाता है, इसी प्रकार साधकका हृदय जब साधनाके द्वारा परिपक्व होकर विनय-मधुर, कोमल, निरभिमान और असङ्ग हो जाय, उसे ही सिद्ध कहते हैं।'

● ● ●

साधक-'बाबा सिद्धि क्या है ?'

श्री उड़ियाबाबाजी-'सहिष्णुता। भूख-प्यास, सरदी-गरमी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको सह लेना ही सबसे बड़ी सिद्धि है। आकाशमें उड़ने या पानीपर चलनेका नाम सिद्धि नहीं है। तब तो पक्षी और मेंढक-मछलियाँ भी सिद्ध हैं। वस्तुतः सिद्धि वही है जो सिद्धस्वरूप परमात्माके पास पहुँचा दे, उसका बोध करा दे।

● ● ●

दिव्य प्रेम

★ ★ ★

(काम और प्रेम)

काम कामीको भीतरसे बाहर लाता है
प्रेम प्रेमीको बाहरसे भीतर ले जाता है ।
काममें अशान्ति है, प्रेममें शान्ति ।
कामका परिणाम दु:ख है, प्रेमका आनन्द ।
काम विकारी है, प्रेम निर्विकार ।
काम नाशवान् है, प्रेम अविनाशी ।
काम जडोन्मुख है, प्रेम चेतनोन्मुख ।
प्रेम आत्मा है, काम अनात्मा ।
काम से इच्छायें बढती हैं शरीर सम्बन्धी,
प्रेमसे वैसी इच्छायें मिटती हैं ।

● ● ●

विश्वासको दृढ़तासे पकड़कर कायम रखना चाहिये । केवल विश्वासके मूल्यपर मनुष्य चाहे जो प्राप्त कर सकता है, ईश्वरको भी ।

● ● ●

सांसारिक प्रेम छीजनेवाला है पूर्णिमासे अमावस्याकी ओर गतिशील; परन्तु भगवान्‌का प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता है, बढ़ता ही रहता है । उसमें प्रतिपदा है और चतुर्दशी भी, परन्तु पूर्णिमा नहीं ।

● ● ●

तुम प्रेमस्वरूप हो । मैं प्रेमस्वरूप हूँ । प्रेममें सुख-दु:ख सब प्रेमस्वरूपही होता है । प्रेम करनेसे होता नहीं, छोड़नेसे छूटता नहीं । यह तो असाध्य व्याधि है । रोओ या हँसो, सब ठीक । दूर रहो या निकट, कोई अन्तर नहीं । कोई प्रियतम बनता नहीं, कोई प्रेमी बनता नहीं । बनना तो ढोंग है । सहज-स्वाभाविक स्थिति ही प्रेम है ।

● ● ●

विश्वास प्रेमका बाप है । सेवा पती, स्मृति प्राण, रस आत्मा और स्थिरता जीवन ।

हृदय दीपक है, स्नेह घृत । स्मृतियोंके रेशे जोड़कर बाती बनी । चेतन आत्मा लौ के रूपमें जल रही है । किसके लिये ? उसी भुवन मोहन आनन्द मुकुन्द अपने प्राणप्यारे भगवान्के लिये । सबके घरमें एक नहीं, अनेक दीप जलते हैं; परन्तु कौन जानता है कि किस प्रियतमकी सेवाके लिये, किसकी प्रसन्नताके लिये ।

● ● ●

क्या संसारमें किसीके प्रति भी ऐसी प्रीति हो सकती है, जैसी अपने इष्टदेवतासे होती है ? नहीं । निश्चय ही समझो कि निष्कामसे की हुई प्रीति संसार-वासनासे छुड़ाती है । संसार तो काममें बसता है, उसे निकाल फेंको । तभी उज्ज्वल, दिव्य आनन्द प्रकट होगा ।

● ● ●

कृष्णकी तन्मयता

★ ★ ★

राधा अपनी सहेली वृन्दासे—'सखि, तू कहाँ से आ रही है ?'

'प्राणप्यारे मुकुन्दके पाससे ।'

'वे कहाँ हैं ?'

'राधाकुण्डके वनमें ।'

'क्या कर रहे हैं ?'

'नृत्य सीख रहे हैं ।'

'कौन सिखा रहा है ?'

'तुम, और कौन ?'

'अरी बावरी, मैं तो यहाँ हूँ और तुमसे बात कर रही हूँ ।'

'विदग्धचूडामणि राधे ! वहाँ उनके सामने तुमने अपनी एक और मूर्ति प्रकट कर दी है । वही सब ओर, दिशा-विदिशामें, प्रत्येक तरु-लतामें नृत्युगुरु नर्तकीके समान नाचती हुई चमक-दमक रही है और उन्हें भी अपने पीछे-पीछे नचा रही है ।'

● ● ●

प्रेम रहस्य

★ ★ ★

जिससे हम प्रेम करते हैं, उसको जिस तरह सुख मिले वैसे ही हमें करना चाहिये। प्रेमीका जीवन, प्राण-सब प्रियतमका हो जाता है। उसे तो मृत्यु भी मारना चाहकर नहीं मार सकती। कैसे मारे, जब उसका अपना कुछ रहता ही नहीं।

● ● ●

स्वार्थ और भोगवासना न हो तो प्रेम जिस किसीसे भी किया जायगा, दिव्य हो जायगा।

● ● ●

शरीरके भले टूक-टूक हो जायँ, संसारमें भले ही कोई मर जाय, बिछुड़ जाय; पर प्रेमका रस कभी भी कम नहीं होना चाहिये।

● ● ●

प्रेम छिपानेसे बढ़ता और प्रकट कर देनेसे घटने लगता है।

● ● ●

प्रेम में कपट नहीं होना चाहिये।

● ● ●

प्रेमीके सामने पत्थर भी पिघल जाता है। ईश्वरमें भी इतनी शक्ति नहीं कि वह प्रेमीसे कुछ छिपा सकें। प्रेमीको सबकुछ बतला देते हैं।

● ● ●

प्रेम प्रियतमको अपने अधीन करनेके लिये नहीं बल्कि अपनेको प्रियतमके सर्वथा अधीन कर देनेके लिये होता है।

● ● ●

प्रेममें प्रियतमका दिया हुआ दुःख भी प्रेमीके लिये सुखद ही होता है। वह उसे अपने प्रियतमका दिया हुआ वरदान ही मानता है।

● ● ●

प्रेम होनेके बाद संसारके काम और व्यवहार करते समय भी प्रेमी लोग अपने प्रियतमका ही ध्यान करते हैं।

प्रेममें कभी तृप्ति नहीं होती। प्यास ही उसका स्वरूप है। प्रेममें तो प्रियतमके बिना **'निमिष कल्प सम जात'**। फिर जहाँ ऐसी स्थिति है वहाँ तृप्तिका प्रश्न ही क्या।

● ● ●

प्रेम क्रियासे नहीं समझा जा सकता। वह तो लक्ष्य से समझा जाता है। कभी प्यारसे चपत भी लगा देते हैं, तो कभी चुप भी हो लेते हैं। हमेशा प्रियतमकी इच्छा पूर्ण करने से ही प्रेम होता हो ऐसा नहीं, कभी अपने मनकी करानी चाहिये।

● ● ●

आशा, दृढता, उत्कण्ठा, व्याकुलता-ये हैं प्रेमके पूर्वरूप। विरह-उद्दीपित, शान्ति -वर्जित, स्थिति -रहित गतिमान जीवन। इन्हींसे प्रेमका रसायन बनता है।

● ● ●

प्रेममें ऐसा निश्चय होना चाहिये कि प्रियतमको छोड़कर रहना नहीं, रह नहीं सकते।

● ● ●

हृदयमें प्रियतमके रहते हुए दूसरोंमें उलझे रहना, अपने प्रियतमके प्रति अशिष्टता है। जैसे कोई आदमी हमारे घर आये हम अपने ही काममें लगे रहें तो यह आनेवालेके प्रति अशिष्टता हुई या नहीं ?

● ● ●

किसी दूसरेकी इन्द्रियोंके द्वारा अपनेको सुख पहुँचानेकी चाह करना काम और अपनी बलि देकर दूसरेको सुखी करना प्रेम है।

● ● ●

प्रेममें कभी विदा नहीं होती। प्रतिपल स्वागत ही स्वागत होता है; क्योंकि प्रेम स्थूल शरीरकी वस्तु नहीं है। प्रियतमको विदा करके प्रेम शून्य हो जाता है। प्रियतम को अपना विषय बनाये रखनेमें ही प्रेमका जीवन है।

● ● ●

प्रेमी प्रियतमकी बुद्धि, भावना और क्रियाको अपनी बुद्धिकी तुलापर तौलता नहीं, अपने प्रेमको भी तुलनात्मक समालोचनाकी कसौटीपर नहीं

कसता–यह तो परचिन्तन है। सर्वदा ही प्रियतमके व्यवहारकी व्याख्या करता है। प्रेमी ही सर्वोत्कृष्ट कथावाचक है।

● ● ●

श्रद्धा सद्‌गुणपर, विश्वास अपनी हितैषितापर, प्रेम अपनेपनकी दृढ़तापर, अभिमान अपनी प्रेमपात्रतापर, स्नेह अपने आग्रहका त्याग करके उनके आग्रहको पूर्ण करनेपर। कामना उनके सुखकी वृद्धिके लिये। रस और सौन्दर्यकी प्रतिक्षण नवीनता क्रमशः प्रेमी और प्रियतम में जगमगाती रहती है।

● ● ●

कृष्ण ही एकमात्र अपने हैं, इस विश्वासको और भी दृढ़ करो। सम्बन्धकी भावना पुष्ट करो। इसी जीवनमें उन्हें पानेकी लालसा और आशा बढ़ाओ, तुम्हें सफलता मिलेगी। कृष्णके द्वारसे कोई प्रेमी कभी निराश नहीं लौटा है। वे अपने प्रेमीको सर्वदा स्मरण रखते और उसका हित ही हित चाहते हैं।

● ● ●

प्रभु ! मैं जो कुछ कभी था, हूँ और होऊँगा-सब तेरा हूँ। यह शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि सब तेरे हैं प्रभु, यह 'मैं' कभी अपनेको तुमसे अलग न मान बैठे। बस, तू ही तू रहे।

● ● ●

हे प्यारे आनन्द- मुकुन्द ! तुमने मुझे अपनाया। स्पष्ट रूपसे कहा और मेरे अंग-अंग, रग-रग और रोम-रोममें लिख दिया-'तुम मेरे हो;' तथापि अभी मुझे सन्तोष नहीं है। मैं चाहता हूँ कि मेरे हृदयमें जो तुम्हारे प्रति भक्ति एवं प्रीति है, उसका उपयोग और भोग एकमात्र तुम्हीं करो। वे केवल तुम्हारे लिये हों, और किसीके लिये नहीं।

● ● ●

यह जीवन चार दिनकी चाँदनी है, कब समाप्त हो जाय, कुछ पता नहीं। रोग लगे रहते हैं, बड़े-बड़े स्वस्थ भी तो चल बसते हैं। इसलिए किससे राग और द्वेष? किससे ममता? कहाँ आसक्ति? अपने मनको संसारसे हटाकर भगवान्‌की ओर लगाना चाहिए।

★ ★ ★

प्रेमी आराधकके गुण

★ ★ ★

आनन्दमुकुन्दके प्रेमी आराधकके जीवनमें यह बातें सर्वदा रहती हैं–

१. सम्मान–अपने इष्टदेव प्रियतमके प्रति सर्वदा सम्मानका भाव। अर्जुन किसी भी अवस्थामें हों, कृष्णको देखते ही खड़े हो जाया करते थे।

२. बहुमान–अपने प्राणारामको स्मरण करानेवाली वस्तुओंको देखतें ही तन्मयता। नृसिंह पुराणमें कथा है कि राजा इक्ष्वाकु कृष्णसार मृगको देखते ही 'कृष्णसार-कृष्ण कृष्ण–', कमल सामने आते ही 'कमलनयन' और श्याम मेघ देखकर 'मेघश्याम श्यामसुन्दर' पुकारते हुए तन्मय हो जाते थे।

३. प्रीति–अपने हृदयमें आनन्दात्मक रागका उल्लास फुदकना। अक्रूरके घरपर कृष्णके आनेपर, उनका हृदय बल्लियों उछलने लगा था।

४. विरह–एक गोपी कहती है–'अपने बड़ोंके सामने कैसे बोलूँ ? हृदय फट रहा है।'
दूसरी कहती है–'जब हम विरहकी आगमें जल ही मरेंगी, तब यह निगोड़ी लाज किस काम आयेगी।

५. इतर विचिकित्सा–'दूसरेपर दृष्टि न डालना। भक्त उपमन्युपर शिवजी प्रसन्न हुए। ऐरावतपर चढ़कर वज्रधारी इन्द्रके वेशमें आये वरदान देने। उसने मुँह फेर लिया, बोला–'शंकरजी कीड़ा बना दें, नरकमें डाल दें, स्वीकार है। आप त्रिलोकीका राज्य भी दें तो नहीं चाहिये।

६. महिमख्याति–जहाँ-तहाँ, मौके-बेमौके अपने स्वामी की महिमा प्रकट करना। यमराजने नरकमें पड़े जीवोंसे कहा–'तुमने पहले कृष्णकी भक्ति क्यों नहीं की ?' दूतोंसे बोले–'भगवद्भक्तोंके पास कभी न जाना।

७. तदर्थ प्राणधारण–केवल उसीके लिये जीना। खाये-पीये, सोये, पहने बिना शरीर ठीक नहीं रहेगा, तो उसे कैसे सुखी करेंगे। मुझे दुःखी

देखकर वह भी दु:खी हो जायगा। जीते हैं तो उसीके लिये, मरेंगे तो उसीके लिये।

८. तदीयता—अपनी सब वस्तुओंको उसीकी समझना।

९. सर्वत्र तद्भाव—सबमें उसीका दर्शन।

१०. अप्रातिकूल्य—कभी प्रतिकूल भाव न आना।

● ● ●

प्रियतमकी सेवा

★ ★ ★

'सखि, मैं खाकमें मिलना चाहती हूँ।'

'क्यों री पगली ?'

'फावडे़से खोदी जाऊँगी, गधे पर लादी जाऊँगी, पिटूँगी, रौंदी जाकर थापकी चोटें खाऊँगी, आँच में तपूँगी। इतनी सब परीक्षाएँ देकर नन्हा सा पात्र बन, अपने हृदयका उपहार ले अपने प्रियके अधरोंतक पहुँचूँगी। 'बस, फिर तो बस चेतन होकर मै ही स्पर्श करूँगी।'

● ● ●

शरणागतके भाव

★ ★ ★

तदीयता— परोक्ष ईश्वरका अर्थात् उसका मैं हूँ।

त्वदीयता—प्रत्यक्ष ईश्वरका अर्थात् तुम्हारा मैं हूँ।

मदीयता—तुम मेरे हो, तुमपर मेरा अधिकार है।

अहंता—तुम्हारा और मेरा 'मैं' एक है।

● ● ●

प्रेम प्रियतमको अपने अधीन करनेके लिये नहीं, बल्कि प्रियतमसे मिल जानेमें है।

● ● ●

प्रश्नोत्तर

★ ★ ★

प्रश्न—भगवान् कैसे मिलते हैं ?

उत्तर—अपनेमें कशिश हो भगवान्से मिलनेकी और प्रयत्न हो। वे खीचें और हम उन्हें मदद दें खींचनेमें, जैसे कुएँमें गिरा हुआ व्यक्ति खींचनेवालेको ऊपर लाने-वालेको रस्सी आदिमें बँधकर और शान्त बैठकर ऊपर आनेमें सहायता दे।

● ● ●

प्रश्न—गुरु और शिष्यका सम्बन्ध कैसा हो ?

उत्तर—पारमार्थिक सत्तामें गुरु और शिष्यकी आत्माका और व्यावहारिक सत्तामें गुरु और शिष्यके मनका एकीकरण।

● ● ●

प्र.—भाग्यवान् कौन ?

उ.—संसारकी समृद्धिसे सम्पन्न।

● ● ●

प्र.—महाभाग्यवान् कौन ?

उ.—संसारके स्वामी प्रभु से सम्पन्न।

प्र.—भगवान् प्रसन्न हैं, यह कैसे जानें ?

उ.—जब वह अपने और जीवके बीचमें पड़े हुए अविद्या और मायाके आवरणको हटा ले। इतनी निकटता में भी दर्शनका न होना अप्रसन्नताका सूचक है।

● ● ●

प्र.—महात्मन् ! क्या कभी आप मेरा भी स्मरण करते हैं ?

उ.—हाँ, सेठ ! तभी जब ईश्वरको भूल जाता हूँ।

● ● ●

थोड़ी दृढ़ता रखनेसे मन अपने निश्चयकी ओर तीव्र गतिसे चलने लगता है।

★ ★ ★

अक्रोध

★ ★ ★

गुस्सा भूत है, भूत ! उसे पास मत फटकने दो । कभी आ ही जाय तो कोई ठण्डी मीठी चीज खा लो या फिर कमरा बन्द करके एकान्त में रो लो ।

● ● ●

अग्निको आश्रयास कहते हैं । जिस लकड़ीको वह पकड़ती है पहले उसीको जलाती है । इसी प्रकार क्रोध जिसे आता है पहले उसीको जलन होती है । दूसरोंपर तो केवल चिनगारी ही पड़ती है ।

● ● ●

मन में क्रोध आता हो तो ले जाओ अपने मनको वहाँ, जहाँ नारायण शयन कर रहे हैं, लक्ष्मीजी पैर दबा रही हैं ओर भृगुजी पहुँचकर एक लात नारायणकी छातीपर मार देते हैं और नारायण कहते हैं, 'मेरी छाती कठोर है और आपके चरण-कमल कोमल, कहीं चोट तो नहीं लगी ?'

● ● ●

जिसके हृदयमें किसीके प्रति भी ईर्ष्या है, उसे ईश्वरकी प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती । शुद्ध हृदयमें भगवान् बसते हैं–'निर्मल मन जन सो मोहिं पावा ।'

● ● ●

स्मृति-विस्मृति भगवान्के वरदान

★ ★ ★

भगवन्नाम स्मरणके विषयमें चर्चा चल रही थी । भगवच्चर्चाके प्रसङ्गमें एक भक्तने कहा–'पंडितजी ! (अब स्वामीजी) यह तो ठीक है कि भगवान्का नाम उनकी कृपा से ही प्राप्त होता है; परन्तु कभी-कभी जब उनका विस्मरण हो जाता है तो बड़ा दुःख होता है ।

श्री पंडितजी–'भाई सोचो, जैसे भगवान्ने अपनेको गीता में स्मृति देनेवाला बतलाया है, वैसे ही विस्मृति भी तो उन्हींकी दी हुई है । स्मृति-विस्मृति दोनों ही अपने प्यारेके वरदान हैं, **'मतः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'**, तब दुःख क्यों

वासनाकी मक्खी

★ ★ ★

एक विरक्त महात्मा गंगा किनारे-किनारे पैदल चलकर गरमीके दिनोंमें लीची खानेके लिये होशियारपुरसे मुजफ्फरपुर जा रहे थे। वाराणसीमें मणिकर्णिका घाटपर उन्हें एक कोने में एक कोढ़ी जैसा पुरुष दीखा, जिसके शरीरपर अगणित मक्खियाँ भिनभिना रही थीं।' महात्मा करुणापूरित हो बोले- -'बाबा, शरीरपर की मक्खियाँ तो उड़ा लिया कर।' वह अवधूत बोला— 'महाराज! अपने मंनकी मक्खीको तो उड़ाओ जो लीची खिलानेके लिये इतना भटका रही है।'

● ● ●

वियोगिनीका कुशल-मंगल

★ ★ ★

कृष्णने एक गोपीसे उसकी सहेलीका कुशल-मंगल पूछा। गोपी बोली- -'जी रही है।' कृष्ण ने कहा—'मैं कुशल-मंगल पूछ रहा हूँ।' गोपी ने कहा- -'मैं भी तो बतला रही हूँ कि जी रही है।' कृष्ण ने आतुर होकर पूछा—'ठीक ठीक बताओ।'

गोपी—'जब तक श्वास ले रही है, तब तक, कैसे कहूँ कि मर गयी।'

● ● ●

सेवा

★ ★ ★

गुरु साहबके दो सेवक थे, एक पुत्र और दूसरा शिष्य। गुरु साहबने अपने बैठनेके लिये दोनोंसे चबूतरा बनानेके लिये कहा। पाँच-छः बार दोनोंने चबूतरे बनाये; परन्तु गुरु साहबने पसन्द नहीं किये। पुत्र सेवक झुँझला गया। उसने कहा-'अब तक आपको कोई चबूतरा पसन्द नहीं आया तो जिन्दगी भर पसन्द नहीं आयेगा।' शिष्य सेवक ने कहा—'मुझे आजीवन आपकी आज्ञाका ही पालन करना है। चाहे प्रतिदिन एकही काम करायें, चाहे नये-नये। मुझे तो इस बातकी प्रसन्नता है कि मैं आपकी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ। कहना न होगा कि

गुरु साहबकी गद्दीका उत्तराधिकारी शिष्य ही हुआ, पुत्र सेवक नहीं ।

● ● ●

दोष अपना

★ ★ ★

एक सेठको नौकरकी आवश्यकता थी । समाचार पत्रोंमें विज्ञापन छपा । लोग मिलनेके लिये आने लगे । एकसे सेठने कहा—'एक गिलास पानी लाओ ।' वह ले आया । सेठने कहा—'फेंक दो ।' उसने फेंक दिया । सेठ—'क्यों फेंक दिया ?'

आगन्तुक—'आपने कहा, इसलिये फेंक दिया ।'

सेठने उसे विदा कर दिया ।

बहुत आये बहुत गये-सबके साथ यही बर्ताव हुआ । अन्तिम व्यक्तिसे जब सेठने कहा—'क्यों फेंक दिया,' तो उसने कहा—'मालिक, मुझसे भूल हुई । सेठने उसे रख लिया ।

● ● ●

जो गुणोके अन्दर ईश्वरका हाथ और दोषोंमें अपनी गलती देखता है, वही ईश्वरका प्यारा होता है ।

● ● ●

ज्ञान कणिका

★ ★ ★

किसीकी गलती बतलाकर काम कराना चाहोगे तो नहीं होगा । उसके कर्ममें अच्छाई बतलाओ, प्रशंसा करके उसका उत्साह बढ़ाओ और झटपट वह काम हो जायगा ।

तुम्हारी मनःस्थिति ठीक है तो तुम्हारि लक्ष्य-प्राप्तिमें आनेवाली कठिनाइयाँ और बाधायें तुम्हारा कुछ भी न बिगाड़ सकेंगी ।

जो मनके विकारोंको जीत ले, वह मनुष्य । विकार-विक्षेप के कारण उपस्थित होनेपर भी जो शान्तचित्त हैं वे ही धीर हैं—

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।'

उतावली नहीं करना। शनैः शनैः मार्गमें चलना। ज्ञान-सूर्यकी रोशनीसे चौंधियाना नहीं। श्याम-सोमकी ज्योत्सनामें स्नान करना, आनन्द-मंगल मनाना। बुद्धकी बुद्धि लेना। गुरुकी आज्ञा मानना। तुम्हारा हृदय शुक्लपक्ष बने।

● ● ●

पाप और पुण्यका विश्लेषण बिलकुल सीधा है। यदि तुम्हारी उन्नति दूसरेकी अवनतिका कारण है तो पाप है। तुम्हारी अवनतिसे दूसरेकी उन्नति होती है तो वह भी पाप है। तुम्हारा अभ्युदय यदि दूसरेके अभ्युदयका, सुखका पूरक है तो वह पुण्य है। दूसरेके दुःखमें सुखी होना पाप, दुःख देना पाप, स्वयं दुःखी होना पाप। सुखका वितरण कर स्वयं उसका आस्वादन करना, सुखी होना पुण्य है।

● ● ●

व्यवहारका दर्शन यही है कि तुम मरो मत, मारो मत-'सत्,' बेवकूफ बनो मत, बनाओ मत-'चित्', दुःखी होओ मत, दुःख दो मत-'आनन्द'; क्योंकि जीवमात्र सच्चिदानन्द है। उसके सत्, चित् और आनन्द स्वरूपमें कोई बाधा न आये। तुम्हारा व्यवहार भी उचित क्यों न हो यदि इनमें से कोई भी एक है तो वह व्यवहार सदोष है, निर्दोष नहीं।

● ● ●

मनुष्यकी आयु सात दिनकी। रविवारसे शनिवार तक के किसी भी दिनमें वह मरेगा ही। इस मृत्युके दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिका एकमात्र उपाय है, भगवद्भजन, भगवद्भक्ति। भजनसे भगवान्‌के प्रति प्रीति, संसारसे वैराग्य, भगवान्‌के विषयमें ज्ञान, संसारके दुःखोंसे ऊपर उठना और परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

● ● ●

श्रद्धा और मननकी सन्तानका नाम मानव है। श्रद्धा अर्थात् दूसरेके अनुभवका लाभ, उपयोग। मनन अर्थात् शोध खोज, विचार। इन गुणोंसे युक्त व्यक्ति ही मानव है। श्रद्धा मां और मनु=मनन पिता है। इनसे ही मानवकी उत्पत्ति हुई अर्थात् श्रद्धा और मनन=खोजका पाथेय लेकर चलने वाला ही अमृतत्व प्राप्त करता है।

आत्मा और ब्रह्मकी एकता परमार्थ सत्य है। चित्तमें समता एवं व्यवहारमें असङ्गता जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख दान करते हैं।

● ● ●

शरीर आदि अनात्म, असत् पदार्थोमें आत्मभाव, सद्भाव और प्रियभाव ही भवरोगका कारण है। इससे निवृत्तिका उपाय है सत्संग और भगवच्चरणारविन्दकी प्रेमपूर्वक उपासना।

● ● ●

प्रियता और सुख वस्तुनिष्ठ नहीं, संस्कारनिष्ठ हैं, अर्थात् सुख संस्कारोंसे आता है, बाह्य विषयोंसे नहीं। एक ही भोज्य पदार्थ एक व्यक्तिको बहुत स्वादिष्ट लगता है तो दूसरा उससे घृणा करता है।

● ● ●

काम-क्रोधादि ज्वर बाहरसे नहीं, अपने भीतरसे ही आते हैं। इसलिये विषयों और व्यक्तियोंको दोष मत दो। दोष तो सब अपने ही मनका है, उसे ठीक करो।

● ● ●

श्रीकृष्ण ब्रह्मकी तरह नपुंसक नहीं है। भक्ति उनकी पत्नी है। ज्ञान, वैराग्य पुत्र हैं। पति, पत्नीका संयोग होनेपर सन्तान तो उत्पन्न होगी ही। देखो, हुआ या नहीं?

● ● ●

मनुष्य जीवनका लक्ष्य परम सुखकी प्राप्ति है—ऐसा सुख जिसे देश, काल और विषय न काट सकें। जो किसी भी प्रकारकी सीमा, अन्तराय, विच्छेद एवं पराधीनतासे असंस्पृष्ट हो, ऐसे सुखको भक्त लोग भगवान् और वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं।

● ● ●

कृष्ण ही सत्य है, उनसे सम्बन्धकी दृढ़ता ज्ञान है। उनसे प्रेम करना ही सच्चा भजन है और ऐसा भजन ही सच्चा आनन्द है।

● ● ●

सफल जीवन व्यतीत करनेके लिये आवश्यक है कि शरीरसे श्रम, इंद्रियोंसे संयम और मनसे सद्भावना की जाय। बुद्धिसे विवेक करके काम किये जायँ और अहं में निरहं बना रहे।

आह ही चाह

★ ★ ★

जीवोंको उनके कार्यके अनुसार फल देनेके लिये ब्रह्माने आहको कुमारी बनाकर मर्त्यलोकमें भेजा। उसे देखकर सब डर गये। किसीने भी स्वीकार नहीं किया। रोती-कलपती आह पितामहके पास लौट आयी। ब्रह्माजीने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'बेटी, तुम खुले मुख गयी थीं, इससे किसीने तुम्हें स्वीकार नहीं किया। लो, यह 'च' कारका चादर अपने मुखपर डाल लो और अब जाओ।' बड़े प्रेमसे 'चकार' का झीना आवरण डाले बनी-सँवरी आह जीवके पास आयी और वह मुग्ध हो गया उसपर। जीव चाहमें फँसकर 'आह-आह' करने लगा।

● ● ●

व्यवहार और परमार्थका ऐक्य

★ ★ ★

प्राणिमात्रकी सेवाको परमार्थ न मानना तुम्हारे मन का दोष है या क्रियाका ?

कोई भी क्रिया वस्तुरूप से परमार्थ ही है या नहीं ?

वस्तुतत्त्वमें, चिद् धातुमें द्रष्टा-दृश्य सम्भव है अथवा नहीं ?

दृष्टा और दृश्यमें कोई सन्धि (विभाजक रेखा) है या नहीं ?

है, तो वह भी दृश्य होनेके कारण सन्धि कैसे ?

नहीं है, तो दृष्टा-दृश्यमें भेद कैसे ?

भेद नहीं, तो जैसे दृश्यको परमार्थ मानना मान्यता मात्र है, वैसे ही दृष्टाको परमार्थ मानना भी मान्यतामात्र है कि नहीं ?

यदि दोनों मान्यता हैं तो संसारके सभी कर्म-भक्ति-ज्ञान सम हैं या नहीं ?

तत्त्वमें, साधनमें, क्रियामें, द्रव्यमें, गुणमें, भावमें जो भेद है वह मान्यता मात्र ही है, तत्त्वगत नहीं-यह जाने बिना निर्द्वन्द्वता, जीवन्मुक्ति अथवा वर्तमान जीवनके आनन्दमें मस्ती आ सकती है या नहीं ?

न भी आवे तो तत्त्वतः कुछ अन्तर हो गया क्या ?

क्या जड़-चेतन दो हैं ?

इनकी सन्धि क्या है ?

सन्धि नहीं है तो सम्पूर्ण एकत्व ही है न ?

फिर व्यवहार और परमार्थ अलग-अलग क्यों ?.....

● ● ●

साक्षि-साक्ष्य भाव कल्पित है। 'इदं के अधिष्ठान रूपसे भी तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता। घटका अधिष्ठान मृत्तिका या सर्पका अधिष्ठान रज्जु है। वह तो अन्य है। जो अन्य रूपसे ज्ञात होगा वह विनाशी और जड़ होगा। उसकी अन्यता जैसे कल्पित है, वैसे ही उसमें जड़ता और विनाशित्व भी कल्पित हैं। इसलिये उस 'इदं' का अधिष्ठान अन्य नहीं, 'मैं ही हूँ'—यह ज्ञान ही आवश्यक है। इसके बिना भ्रान्ति दूर नहीं हो सकती।

देहके विरोधी या अन्तर्भूत होनेका भाव मिटाये बिना परमार्थ और व्यवहारका भेद भी नहीं जाता। यह भेद भी अन्य भेदोंकी भाँति दुःखद है; क्योंकि जो परमार्थ सर्व देश, सर्व काल, सर्व रूप और सर्व अनुभवरूप नहीं है, वह अपने अभावमें दुःख देगा ही, इसमें सन्देह नहीं।

● ● ●

सन् १९३० में असहयोग आन्दोलनके अवसरपर वाराणसीमें कोंग्रेसकी बैठक हो रही थी। एक सम्मान्य नेता कुछ लिखने में तल्लीन थे। उनके बाल कुछ बड़े थे, जो जब-तब लिखते समय आँखोंके सामने आ गिरते थे। वे सज्जन उन्हें पीछे करनेके लिये रह-रहकर अपने सिरको पीछेकी ओर झटक देते थे, और बाल अपने स्थानपर पहुँच जाते थे। यह क्रिया हमारे साथी बड़ी देरसे देख रहे थे। उन्होंने कहा-'जैसे यह महाशय अपने बाल झटककर पीछे कर देते हैं, इसी तरह जब-जब मनमें संसार आये, इसी तरह सिर झटककर उसे हटा दिया करो। कितनी अच्छी युक्ति है।'

● ● ●

द्रष्टा दृश्यका पृथक्करण-विवेक।

दृश्यका निष्प्रयोजन होना-वैराग्य।

दृश्यकी प्रतीति न होना-समाधि।

दृश्यकी प्रतीति-अप्रतीति, दोनोंमें अधिष्ठान- स्वरूप ब्रह्म और आत्माकी

अभिन्नताका बोध ही ज्ञान है।

● ● ●

अधिष्ठान अन्य है तो उसकी सन्मात्रता सिद्ध है, चिन्मात्रता कल्पित। अधिष्ठान 'स्व' है तो चिन्मात्रता स्वतःसिद्ध, सन्मात्रता भी। दोनोंकी एकताके बिना पूर्ण आनन्द नहीं।

● ● ●

कर्मका आश्रय द्रव्य है, प्रेरक है संस्कार। अभिमानी है कर्ता। समाधिमें द्रव्यकी प्रतीति नहीं होती, संस्कार लीन रहते हैं, कर्तव्य शान्त:, परन्तु बीज सबका है। इसीसे कर्मके द्वारा द्रव्य संस्कार और कर्ता तीनोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती, वह भले ही निष्काम हो। समाधि भी नहीं। आत्माको ब्रह्म जाननेसे द्वैत का बाध हो जाता है। यही मोक्ष है।

● ● ●

अपना ब्रह्म स्वरूप ही सच्चा जाग्रत् है। यह जाग्रत् व्यवहार तो स्वप्न सरीखे हैं। तुम स्वयं ब्रह्म हो।

● ● ●

आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसे पृथक् है। इन शरीरोंको आत्मा माननेके कारण तुम्हें आवागमनके चक्करमें भटकना पड़ रहा है। छोड़ दो इन्हें, स्वर्गकी भी परवाह न करो, ब्रह्मलोककी भी इच्छा न करो। उनकी आयु बहुत थोड़ी है, वे कर्मपरतन्त्र हैं। तुम नित्यमुक्त, नित्य स्वतन्त्र आत्मा हो।

● ● ●

जो होनेवाला है, होकर ही रहेगा। भगवान्‌की इच्छा, जीवोंका प्रारब्ध और प्रकृतिकी अनुल्लंघनीय धाराका किसी भी प्रकार उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

● ● ●

आश्चर्य है कि यह तो सहज ही मान लेते हैं कि मन 'मैं' 'मेरा' और सच्चा है; परन्तु मनमें विद्यमान दोषोंको छोड़नेके लिये कोई प्रयास, कोई पुरुषार्थ नहीं करते।

बहुत बड़ी विद्या बुद्धि प्राप्त हो, परन्तु भगवत्तत्त्वका बोध न हो तो वह किसी कामकी नहीं। वही विद्या-बुद्धि सच्ची है जो भगवत्तत्त्वका ठीक-ठीक

बोध करा दे। भगवत्तत्त्वके वास्तविक बोधका रूप 'स्व' है जो नानात्वकी भ्रान्तिको मिटा दे।

●●●

जो कुछ भी आत्माके अतिरिक्त दीखता है, वह सब माया है। उसकी ओरसे दृष्टि हटाकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ। मस्त हो जाओ।

●●●

धधकती हुई आगको शीतल मणिखण्ड समझकर उठा लेना जैसे सुखका कारण नहीं हो सकता तथा विषको अमृत समझकर पीना जैसे अमरत्वका कारण नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार स्थूल, जड़ और विनाशी वस्तुओंको सुखकर मानकर अपनानेसे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

●●●

एक ऐसी सत्ता है जो समस्त परिवर्तनोंमें सदा एकरस है। एक ऐसा ज्ञान है, जो संपूर्ण ज्ञानोंका उद्‌गम है, एक ऐसा आनन्द है जिसका निर्वचन मन और वाणीसे मौन होकर किया जा सकता है और जिसके आस्वादनमें आस्वाद्य और आस्वादकका भेद नहीं रहता, वह मधुरातिमधुर, नित्यनूतन, परम मनोहर परमात्मा ही है। उसे प्राप्त करनेमें ही जीवके जीवनकी पूर्णता है।

●●●

जिन्होंने जगत्का मिथ्यात्व जान लिया, जगत्की दुःखरूपता और हेयताका विचार कर लिया, वे उसकी चमक-दमकनेवाली मिथ्या वस्तुओंकी ओर कभी आकृष्ट नहीं होते।

●●●

ज्ञातज्ञेय महापुरुष कर्तव्य-अकर्तव्यके विधि-निषेधसे ऊपर उठा हुआ होता है।

●●●

आरुरुक्षु साधकके लिये कर्म आवश्यक तो है; परन्तु वह परहित अथवा परमार्थ, लोकसंग्रह एवं आडम्बरके लिये नहीं, वरन् आत्मशुद्धिकी सच्ची भावनासे आत्मकल्याणके लिये साधनके रूपमें हो।

●●●

दुःख आगमापायी

★ ★ ★

एक बहिन कार दुर्घटनामें घायल हो गयी। उसके शरीरकी तीन जगहसे हड्डियाँ टूट गयी थीं। सारा शरीर पट्टियोंसे बँधा था। उसके पति, दो बच्चे और नौकर भी मर गये थे, केवल गोदका शिशु बचा था। एक दिन मैं उसे देखने मथुरा गया। उसके समीप बैठे एक सज्जनने पूछा—'तुमने तो सत्संग बहुत किया है, फिर यह कष्ट क्यों मिला ?' मैं तो चुप रहा; परन्तु वह लडकी बोली—'सत्संग का फल यह नहीं है कि जीवनमें कष्ट न आयें। और वे आते हैं; परन्तु हमारा उनसे तादात्म्य नहीं होता, उनसे हमें विक्षेप नहीं होता। वे आगमापायी हैं; इसलिये हम दुःखमें, पीड़ामें भी शान्त हैं।' सुनकर वे सज्जन गद्गद हो गये।

● ● ●

क्या सद्वस्तु छोड़कर 'घट है-पट है' आदि वृत्तियाँ बनतीं ?
यह अपरोक्ष सदा अन्तरमें स्फुरणरहित आत्मा वे तनतीं।
माता, मान, मेयकी मायासे पर एक स्मरण हो कैसे ?
अनुभव रूप रूप भूपकी स्मृति उसमें दृढ निष्ठा जैसे।
अरे अमृत ! क्यों डरे मृत्युभय से
मृत्युञ्जय-शरण ग्रहण कर।
इससे होगा क्या, मैं-मतिकी मृत्यु
प्रथम क्षण, इसे वरण कर।
मैं अपने को क्या भूला या क्या जाना यह किसे सुनाऊँ ?
भूला अपनी मस्तीमें फिर जाना तो क्या खुशी मनाऊँ ?
भले भूल जाऊँ या जानूँ पर मैं तो ज्यों-का-त्योंही हूँ।
मृत्यु-अमृतके अनृत सन्धि-कौशलका कारीगर यों ही हूँ।

● ● ●

॥ श्रीहरिः ॥

विष्णु सूक्त

(महाराजश्रीके द्वारा अनुदित)

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥१॥

'क्योंकि सर्वव्यापी भगवान् विष्णुने गायत्री आदि सात छन्दरूप साधनोंके द्वारा पृथ्वीपर विविध प्रकारसे अपने चरण स्थापित किये हैं अर्थात् विविध प्रकारके जय करने योग्य मन्त्रसाधनोंके द्वारा हम पृथ्वी निवासियोंके पाप दूर किये हैं, असुरोंको पराजित करके देवताओंको विजय प्राप्त करायी है, इसलिये सब देवता हमारी रक्षा करें अर्थात् हमारे जीवनमें आसुरी सम्पत्ति न आने पाये, दैवी सम्पत्तिकी वृद्धि हो ।'

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुरे ॥२॥

'सम्पूर्ण विश्वमें व्यापक अथवा प्रविष्ट भगवान् विष्णुने इस प्रतीयमान जगत्में विविध प्रकारसे अपना पादविन्यास किया । उन्होंने ही त्रिविक्रम अवतार धारण करके तीन प्रकारसे अपने पदका स्थापन किया । यह सम्पूर्ण सृष्टि अपने कारण मायाशक्ति सहित उनके एक चरणके धूलिकणमें समायी हुई है ।'

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥३॥

'भगवान् विष्णु अविनाशी हैं । उनके नाशका सामर्थ्य किसीमें नहीं है । वे ही सबके रक्षक हैं । उन्होंने अपने केवल तीन पादोंका विन्यास किया है । इसीसे वे त्रिलोकीके धर्मोंकी रक्षा करते हैं ।'

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥४॥

'देखो, देखो ! भगवान् विष्णुके कर्म कि वे कैसे-कैसे सृष्टिका पालन-पोषण

कर रहे हैं। उन्हींकी शक्ति और अनुग्रहसे सभी जीव अपने धर्म और व्रतका अनुष्ठान करनेमें समर्थ होते हैं। वे इन्द्रके योग्य सखा हैं अथवा द्रष्टा त्वं पदार्थसे एक होने योग्य तत् पदार्थ हैं।'

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥५॥

'जैसे नेत्र आकाशमें फैलकर सब कुछ देख लेता है अथवा जैसे आकाशमें सूर्यका विस्तृत प्रकाश देखा जाता है, वैसे ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष भगवान् विष्णुके उस परम पद अर्थात् प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मस्वरूपका सदा सर्वदा अपरोक्ष अनुभव करते हैं।'

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥६॥

'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण व्यवहारमें लिप्त नहीं होते, नित्य निरन्तर परमात्माके चिन्तनमें जाग्रत् रहते हैं। वे ही भगवान् विष्णुके उस अनिर्वचनीय वाङ्मनसागोचर सर्वोपरि विराजमान ब्रह्मपदको प्रदीप्त करते हैं अर्थात् जिज्ञासुओंको उपदेश करके साक्षात्कार कराते हैं।'

—ऋग्वेद

★

यदि मुक्ति चाहते हो तो जीवनमें तीन बातोंका धारण करो—

(१) जो सामने आये, उसमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करो।

(२) अपने कर्मका जो भी फल मिले, उसे खुशी-खुशी भोग लो।

(३) अपना हृदय, अपनी वाणी, अपना शरीर भगवान्‌के सामने झुकाकर रखो, जैसे कोई मोमका पुतला हो—

जाही विधि राखै राम ताही विधि रहिये।

★ ★ ★

उद्‌बोधन

तुम जितना जानते हो, उसका शतांश भी अपने जीवन में उतार लो तो तुम्हें और कुछ करने की आवश्यकता ही न रहे। तुमने अब तक जिसको सर्वश्रेष्ठ जाना है, उसको अपने जीवन में ले आओ। तुम्हारे ज्ञान का अजीर्ण कहीं तुम्हारे जीवनको विशृङ्खल और उद्विग्न न कर दे।

★ ★ ★

तुम जिस विषय पर विचार करो, अपने जीवन की दृष्टि से करो। एक क्षण में ही तुम्हें पता चल जायगा कि वह तुम्हारे जीवन को ऊपर उठाता है या नीचे गिराता है। तर्क और युक्तियों के जाल में उलझ जाओ गे तो तुम्हारा जीवन आश्रयहीन हो जायगा।

★ ★ ★

विचार करो—मेरे चित्तमें जो अशान्ति या असन्तोष है, वह किस अभाव के कारण है ? क्या मैं अनेक प्रकार के अभावों से घिरा हुआ हूँ ? वह कौन-सी वस्तु है, जिसके प्राप्त होने पर सारे अभाव पूर्ण हो जायँगे ? निश्चय ही ऐसी वस्तु एकमात्र परमात्मा है। जब तक वे नहीं मिलेंगे, तब तक इस जीवन के अभावोंसे छुटकारा कहाँ ? मैं तो उन्हें प्राप्त करके रहूँगा।

★ ★ ★

तुम्हारे चित्त में जो इच्छा उठ रही है, उसकी पूर्ति जीवनके लिये कितनी आवश्यक है ? क्या उसके बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता ? कम-से-कम इच्छा करो। हो सके तो उसका नाश कर दो। जब तुम्हारी आवश्यकताओंको तुमसे अधिक जानने वाला और उनको पूर्ण करनेवाला विद्यमान है, तब तुम क्यों इच्छा करते हो ? उसपर विश्वास करो। तनिक सोचो तो उसको तुम्हारे हितका कितना ज्ञान और ध्यान है ?

देखो, तुम्हारे पास अनावश्यक वस्तुएँ कितनी हैं ? उनके बिना यदि संसारके बहुत-से प्राणी दुःखी हैं, तो तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम उन्हें अपने पास रखकर सड़ाओ ? उचित तो यह है कि तुम अपनी आवश्यकताका विचार किये बिना ही दूसरोंकी आवश्यकता पूरी कर दो ।

★ ★ ★

क्या तुमने आज किसीकी कुछ सेवा की है ? यदि नहीं तो आजका दिन तुमने खो दिया । यदि किसीकी कुछ सेवा की है तो सावधान रहो, मनमें कहीं अहंकार न आ जाय ! इस विशाल विश्वमें तुम्हारा कर्तृत्व कितना छोटा है । यदि इससे अधिक सेवा कर पाते तो क्या उत्तम होता !

★ ★ ★

उस समय तुम्हारी परीक्षा होती है, जब दूसरा कोई तुम्हारे साथ कटु व्यवहार करता है । कम से कम वैसा व्यवहार तो तुम्हें किसी औरके साथ नहीं करना चाहिये ।

★ ★ ★

क्या ही अच्छा होता कि तुम जैसा बनना चाहते हो, वैसा बन जाते ! परन्तु वैसा न बननेका कारण क्या है ? तुम्हारी दुर्बलता । शरीर चाहे वहाँ तक न जा सके, मनसे जानेमें तो कोई अड़चन है ही नहीं । तुम जहाँ पहुँचना चाहते हो, मनसे वहीं जाकर बैठो । तुम देखोगे कि तुम्हारा शरीर और उसकी परिस्थितियाँ तुम्हारी सहायता कर रही हैं और तुम अपने प्रियतम प्रभुके पास हो ।

★ ★ ★

आशा पूर्ण होगी, भगवान्से। निराशा पहुँचायेगी, भगवान् तक। दोनोंके बीच लटको मत। दोनों ही मार्ग हैं। किसी एक को पकड़कर चल पड़ो। परमात्माकी ओर चलना, चलते रहना ही शुद्ध जीवन है। प्रेमीको विश्राम कहाँ ?

★ ★ ★

यह तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारी प्रत्येक क्रिया भेंटके रूपमें स्वीकार की जा सकती है, की जाती है। फिर वैसा करके तुम अपने प्राणोंको तृप्त क्यों नहीं कर लेते ? अनुभव करो—जो कुछ मैं कर रहा हूँ, सब मेरे प्रभुके श्रीचरणोंमें भेंट है और वे बड़ी प्रसन्नतासे उसे स्वीकार कर रहे हैं।

★ ★ ★

तुम्हारे अन्तःकरणमें जितनी पवित्रता होगी, उतना ही अधिक तुम शान्ति और आनन्दका अनुभव कर सकोगे। भगवान् की कृपाका आश्रय लेकर सब पाप-ताप धो डालो और परमानन्दका अनुभव करो।

★ ★ ★

केवल भाव ही तो परिवर्तन करना है। जिसे जड़ जगत्के रूपमें देखते हो, उसे भगवद्रूप देखो। यह लीला है—लीला ! इसे सत्य मानकर कार्य-कारण-विवेक मत करो। इस चिन्मयी लीलाकी यथार्थताको जान लो, फिर कहीं कभी शोक-मोह तुम्हारा स्पर्श नहीं करेंगे।

★ ★ ★

तुम्हारे अन्तःस्तलमें एक दिव्य ज्योति रात दिन जगमगाती रहती है। उसे कामनाके परदेसे ढको मत; बल्कि उसे और भी प्रज्वलित करके सब कामनाओंको उसीमें भस्म कर दो। तुम्हारा यह हवन कितना पवित्र होगा !

तुम जो कुछ कर रहे हो, जो कुछ बोल रहे हो और जो कुछ सोच रहे हो, सब भगवान्‌के सामने। तब तुम्हें कितना सावधान रहना चाहिये ?

★ ★ ★

यदि इसी समय भगवान् तुम्हारे पास आ जायँ, जो कि उनकी दयालुताको देखते हुए बहुत सम्भव है, तो तुम उन्हें कहाँ बैठाओगे ? क्या तुमने बाहर या भीतर कहीं भी उनके बैठने योग्य स्थान तैयार रक्खा है ? अबसे अपने हृदयका कमरा उनके लिये साफ कर लो।

★ ★ ★

भगवान् आनन्दमय हैं, जगत् आनन्दमय है, तुम आनन्दमय हो। परन्तु यह आनन्द कहाँ छिपा है ? यह तुम्हारे अनुभवमें क्यों नहीं आता ? इसे ढूँढ निकालो और इस सत्यका साक्षात्कार करके आनन्दमय हो जाओ।

★ ★ ★

कभी तुम्हारे मनमें यह अहङ्कार तो नहीं आता कि तुम प्रेमी या ज्ञानी हो ? यदि ऐसा है तो अभी तुम्हें प्रेम या ज्ञानकी अनुभूति नहीं प्राप्त हुई। प्रतिक्षण बढ़नेवाले प्रेमको कहीं भी पूर्ण मान लेना, उतनेसे ही तृप्त हो रहना प्रेम नहीं, प्रेमाभास है। अपने अज्ञानको जानना ही सच्चा ज्ञान है। तुम सच्चे अर्थमें प्रेमी और ज्ञानी हो न ?

★ ★ ★

अपने हृदयमें अनुसन्धान करो—मैं जिस समय कर्तव्यका उल्लङ्घन करता हूँ, या उपेक्षा कर देता हूँ, क्या उस समय उस कर्तव्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ कर्ममें लगा रहता हूँ ? यदि शरीर-सुख अथवा स्वार्थके लिये मैं अपने कर्तव्यकी अवहेलना करता हूँ तो मैं तमोगुणी हो रहा हूँ। सुखी होनेका साधन है—

सात्त्विकता, सदाचार और तत्परता। निश्चय करो, अब कभी मैं प्रमाद नहीं करूँगा।

★ ★ ★

जिस समय भगवान् हमारी इच्छाके विपरीत कुछ करते हैं, उस समय उनका वात्सल्य-स्नेह अत्यधिक प्रकाशमें आता है। वे हमारी इच्छाओंको अपनी इच्छाके अनुसार रखना चाहते हैं, यह उनकी कितनी कृपा है! इससे उनकी देखरेखका पता तो चलता ही रहता है।

★ ★ ★

इस विशाल विश्वमें तुम कितने नन्हें-से शिशु हो, इसपर विचार करो। क्या तुम्हारी बुद्धि, छोटी-छोटी चीजोंके लिये मचल पड़ने वाली बुद्धि तुम्हारे सम्पूर्ण जीवनका हिताहित सोच सकती है? यदि नहीं, तो परमात्माके अनन्त ज्ञान, शक्ति और कृपापर क्यों नहीं निर्भर हो जाते?

★ ★ ★

विश्वास करनाही पड़ता है—अपनी बुद्धिपर करो, चाहे परायीपर। क्या तुमसे अधिक बुद्धिमान् और तुम्हारा हितैषी दूसरा कोई नहीं है? फिर तो तुम्हारी रक्षाका कोई उपाय ही नहीं है। महापुरुषोंपर, शास्त्रोंपर विश्वास करो। सबसे उत्तम तो यह है कि भगवान् पर विश्वास करो।

★ ★ ★

विश्वास करनेके लिये आत्मबलकी आवश्यकता है। दुर्बल हृदय किसीपर विश्वास नहीं कर सकता। चरित्रभ्रष्ट पुरुष जितना जल्दी प्रभावित होता है, उतना ही जल्दी अविश्वास भी करता है। क्या तुम किसीपर विश्वास करते हो कि ये गला भी काट दें तो हमारा हित ही करते हैं? परमात्मापर ऐसा ही विश्वास करो।

जिसपर तुम विश्वास करते हो, वह तुम्हारा क्या बिगाड़ सकता है ? अधिक-से अधिक सांसारिक सुख-सम्पत्ति। क्या इसके त्यागके लिये तुम प्रस्तुत नहीं हो ? यदि इसके बदले तुम्हारे अन्तःकरणको अतुलनीय आत्मबल, श्रद्धा, सहिष्णुता, अनासक्ति और समता प्राप्त होती है तो तुच्छ वस्तुओंकी हानिमें क्या रक्खा है ? जहाँ तुम सन्देह करते हो, डरते हो, तुम्हारी ही कमजोरी है।

★ ★ ★

तुम निर्भय रहो। क्योंकि यदि तुम परमात्माके प्रति हृदयसे सच्चे रहे तो तुम्हारी हानि कभी हो ही नहीं सकती। जिसे संसारी लोग हानि समझते हैं, वह तो साधकके लिये परम लाभ है। तुम केवल अपने हृदयको शुद्ध रक्खो। उसमें सन्देह और भयको मत आने दो। भगवान् तुम्हारे चारों ओर और हृदयमें रहकर तुम्हारी रक्षा कर रहे हैं।

★ ★ ★

तुम्हारे मनमें किसीपर क्रोध आता है तो सबसे पहले अपने पर क्रोध करो। क्योंकि अपने मनमें क्रोधको आश्रय देकर तुमने उस स्थानको भ्रष्ट किया है, जिसमें केवल प्रेमका निवास होना चाहिये।

★ ★ ★

क्या यह सत्य नहीं है कि तुम अपनी उस अमूल्य निधिकी बहुत कम सम्हाल करते हो, जिसके लिये यह संसार और जीवन है ? जड़को काटकर शाखाको सींचना कहाँ की बुद्धिमानी है ? तुम उसीको, केवल परमात्माको सम्हालते रहो।

★ ★ ★

अनुभव करो—मेरे हृदयके सिंहासनपर परमात्मा विराजमान हैं। मेरे प्रत्येक सङ्कल्प और क्रियाको वे देख रहे हैं। वे मुझसे खेल रहे हैं। मेरे खेलसे वे प्रसन्न हो रहे हैं। मैं कितना भाग्यवान् हूँ कि परमात्माके खेलका साधन बनकर उन्हें प्रसन्न कर रहा हूँ!

★ ★ ★

निश्चय करो—अब मैं कभी ऐसी चेष्टा या सङ्कल्प नहीं करूँगा, जो परमात्माके सङ्कल्पसे होने वाली किसी भी क्रिया—घटनामें असन्तोष प्रकट करता हो। मैं उनके विधानका हृदयसे स्वागत करूँगा।

★ ★ ★

विचार करो—मेरे चित्तमें अपने शरीर और उसके सम्बन्धियोंके लिये जो कामनाएँ हैं, वही प्रत्येक स्थितिमें समता अथवा भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होने देतीं। मैं समस्त कामनाओंका नाश करके उसका अनुभव करूँगा। मेरा चित्त निष्काम और शान्त हो रहा है। मैं समता और कृपाका अनुभव कर रहा हूँ।

★ ★ ★

अनुभव करो—इस भावनामें डूब जाओ कि सर्वत्र भगवान् ही भगवान् हैं—जो कुछ मैं देख, सुन या सोच रहा हूँ, सबमें परमानन्दस्वरूप परमात्मा विद्यमान हैं। सबका रूप धारण करके नाना नामोंसे वही लीला कर रहे हैं। मेरा मन इस सत्यको पहचानकर मुग्ध हो रहा है, मस्त हो रहा है। मस्त हो जाओ।

★ ★ ★

समाधि-भंग

खेल उससे खेल रे मन !
कर न निज जीवन विफल
खेल उससे खेल रे मन !
आ रही मृदु मदिर मधुमय
गंध यह किस ओरसे रे !
गूँजता है मधुर वंशीस्वर,
भला किस छोरसे रे !
चल वहीं, मत रुक कहीं, अब कर उसीसे मेल रे मन !
खेल उससे खेल रे मन !
वे मयूर थिरक रहे हैं
तालसे किस नृत्यपर रे !
गतिरहित हो हरिणदम्पति
मुग्ध हैं किस कृत्य पर रे !
चिर चपल ! अब छोड़ दे चल, योगकी यह जेल रे मन !
खेल उससे खेल रे मन !
देख, हाँ, वह देख कैसा
पीतपट फहरा रहा है !
साँवरा सुन्दर सलोना
लख तुम्हें लहरा रहा है !
अब हिचक दे त्याग उससे खेल हाँ, हाँ खेल रे मन !
खेल उससे खेल रे मेन !

★ ★ ★

तितिक्षाकी शक्ति कहांसे ?

एक बार मैं और सुदर्शन सिंहजी 'चक्र' दोनों अति साधारण रीतिसे कैलाश आश्रम ऋषिकेशकी एक कुटियामें रह रहे थे। रात्रिके दस बजे लघुशङ्काके लिये निकलने पर पाँवमें बिच्छू डंक मार गया। पहाड़ी बिच्छू, बड़े-बड़े, काले-काले, भयंकर और विषैले होते हैं। मैंने सोचा कि यह बात यदि साधुओंको बतला दी जायगी तो उन्हें कष्ट होगा। सुदर्शनजीको चिकित्साके लिये मना कर दिया और कह दिया कि तुम प्रेमसे सो जाओ, मैं भी सोता हूँ। मैं पद्मासन बाँधकर बैठ गया और तीन घण्टेतक स्थिर बैठे रहनेपर नींद आ गयी। चक्रजीको यह घटना याद है और उन्होंने अपने संस्मरणमें लिखी है।

परन्तु मेरे अन्दर उस बिच्छूके डंकके विषको सहनेकी शक्ति कहाँसे आयी, यह उन्हें आजतक मालूम नहीं है। बात यह थी कि उस समयसे कुछ मास पूर्व मैं और मेरे मित्र जे. सिंह—दोनों गंगातटपर एक महात्माका दर्शन करने गये। वे महात्मा अद्वैतनिष्ठासम्पन्न थे और खप्परवाले बाबाके नामसे प्रसिद्ध थे। पहले भी एक-दो बार हम उनका सत्संग कर चुके थे। इस बार जब हम उनके पास बैठे, तो वे कुछ अस्वाभाविक-से लगे। नेत्रोंमें लाली और वाणीमें भी लड़खड़ाहट। पूछनेपर उन्होंने बताया कि बीत जानेवाली रात्रिमें जब वे जंगलमें वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान कर रहे थे, एक बिच्छू उनके शरीरपर चढ़ आया और नौ जगह डंक मार गया। अबतक बीस घण्टे बीत चुके थे, न तो उन्होंने किसीसे कहा था और न कोई चिकित्सा ही की थी। हम लोगोंने बहुत आग्रह किया कि कोई उपचार करें, परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वे केवल एक लङ्गोटी पहिनते थे और रात्रिमें बिना किसी बिस्तरके धरतीपर ही सोते थे। वे थोड़े दिनोंमें स्वस्थ हो गये और हमारे गाँवके पास आकर दो-चार दिन रहे। केवल माँगकर खाते थे।

उस दिन जब मुझे कैलाश आश्रममें बिच्छू डंक मार गया, मैं पद्मासन लगाकर बैठा तो उनका स्मरण हो आया और उनकी सहनशक्तिका ध्यान

करनेसे मुझमें भी सहनशक्तिका संचार हो गया! और तीन घंटेमें सारी पीड़ा निवृत्त होकर नींद आ गयी। यह घटना सन् १९३२-३३ की है।

★ ★ ★

भगवदानुभूतिके प्रसङ्गमें महाराजश्रीने श्रोताओंसे कहा—'आप लोग मेरे लिये ईश्वररूप हैं!'

एक भक्त उनके पास कुछ दिनों बाद पहुँचे। कहा—'मैं आपके लिये ईश्वर हूँ, इसलिये मुझे चढ़ाइये चन्दन-अक्षत और पहनाइये फूल-माला। लगाइये भोग और उतारिये मेरी आरती।'

महाराजश्री हँसे और बोले—'भाई मेरे, मेरा ऐसा भाव है, तो तुम्हें भी तो दूसरोंके प्रति ऐसा ही भाव बनाना चाहिये। अपनेमें ईश्वर बुद्धि मत करो। इससे तो मिथ्या अहंकार ही बढ़ेगा।'

★ ★ ★

सभीके मनकी गहराईमें कुछ अज्ञात भावनाएँ छिपी रहती है। मनुष्यको उनका पता भी नहीं होता। उन अव्यक्त संस्कारोंको एक बार ध्वस्त कर लेनेपर यह सहज होता है कि उन्हें पूरा किया जाय या मिटाया जाय। किस पथसे चलना है, इसका निश्चय तो कोई अनुभवी पुरुष ही कर सकता है, भ्रान्त नहीं। मार्गदर्शनके लिए महापुरुषका आश्रय लो।

★ ★ ★

यदि अबतक जीवनका उद्देश्य निश्चित न किया हो तो आज ही, इसी समय कर लो। उद्देश्यहीन जीवन व्यर्थ है। एक ओर चलो, केवल परमात्माकी ओर बढ़ो। जीवनकी प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक संकल्प केवल उन्हींके लिये हो।

★ ★ ★

● प्रवचन प्रभावहीन क्यों ?

एक सज्जन बहुत अच्छे वक्ता थे; परन्तु श्रोताओंपर उनके प्रवचनका प्रभाव नहीं पड़ता था। जब अपनी उक्ति और युक्तियोंसे उनका काम नहीं बना, तब वे एक मनोविज्ञानके डाक्टरके पास गये। उनकी समस्या जानकर डाक्टरने कहा कि आप तीन दिन तक अपना भाषण मुझे आध-आध घण्टे प्रति दिन सुनाइये। उन्होंने वैसा ही किया। अन्तमें डाक्टरने उन्हें समझाया--'महाशय ! आप प्रवचन करते समय यह नहीं देखते कि हमारे श्रोताको क्या सुननेकी आवश्यकता है। वह क्या सुनना चाहता है और क्या समझ सकता है। आप तो बस, अपने दिल-दिमागका बोझ उतारकर फेंकते जाते हैं और अपनी काव्यचातुरी तथा गम्भीर पाण्डित्य दिखानेमें ही तन्मय हो जाते हैं। इसी कारण आपके प्रवचनका प्रभाव श्रोताओंपर नहीं पड़ता।'

★ ★ ★

● निष्ठा

अरे विश्व तू मूझे लुभानेका करता है व्यर्थ प्रयास
नहीं जानता, मेरे उरमें दीख रहा प्रियका मृदु हास ।
भले फूट जायें ये आंखें, पर न लखेंगी तेरी ओर ।
देख, देख वह नृत्य कर रहा, मेरा प्यारा नन्द किशोर ॥

★ ★ ★

याद रक्खो, तुम परमात्माकी ओर चल रहे हो। रास्तेकी चट्टियोंपर ही कहीं न लुभा जाना, बीहड़ रास्तेसे घबड़ाकर लौटना नहीं। तुम्हारे साथ एक महान् शक्ति है—वह तुम्हारी सतत रक्षा कर रही है।

★ ★ ★

भगवद्भक्ति

ईश्वरने तुम्हें जो उत्तम अवसर दिया है, भोग-विलासमें आसक्त न होकर त्याग, वैराग्य संयमसे अपना भजन करनेका, उसका पूरा लाभ उठाना चाहिये। यह मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता। इसमें मनुष्य साधन, सत्संग और लगनसे परमात्माको प्राप्त कर सकता है, स्त्री, पुरुष सभी। इसलिये बड़े प्रेमसे निरन्तर परमात्माके स्मरणका अभ्यास करना चाहिये।

जब तक जीवनमें ईश्वर प्रवेश नहीं करेगा, दुर्गुणोंका नाश और सद्गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

★ ★ ★

सर्वत्र भगवान्का ही दर्शन करो। आकाशको देखकर भगवान्के श्याम रंगका आभास हो। बादल देखकर घनश्याम, गायको देखकर गोपाल, मोरको देखकर मोर-पंख-धारी, मोर-मुकुट वाले यहाँ तक कि गधेको देखकर होलीके समय भगवान्के क्रीड़ा-कौतुकका स्मरण हो जाय।

★ ★ ★

भगवत्प्राप्तिके लिये यदि भक्त सांसारिक मर्यादाओंका उल्लंघन कर सकता है तो भगवान भी सारी मर्यादाएँ तोड़कर अपने प्रेमी भक्तके पास दौड़े आते हैं। वे अपने भक्तको कदापि नहीं छोड़ सकते। यह उनके वशकी बात नहीं है।

★ ★ ★

व्याकुलता सच्ची हो तो भगवान् एक दिनमें नहीं, एक पलमें मिल जायँ।

★ ★ ★

यह सर्वदा अनुभव करना कि भगवान्की कृपा और प्रेम तुमपर बरस रहे हैं। तुम्हें वे याद करते हैं और तुम्हारी देखभाल करते हैं, खास कर उस

समय जब तुम और दूसरी बातें सोचने लगते हो; क्योंकि वे सर्वदा तुम्हारे अन्दर आशा और उत्साहकी ज्योति जलते देखना चाहते हैं। आगे बढ़ो!

★ ★ ★

द्वादशी हरिवासर है। दस इन्द्रिय, ग्यारहवें मन सहित बारहवें जीवको प्रभुको अर्पण करना।

★ ★ ★

वृत्तिका भगवद्धामाकार होना या भगवदाकार होना ही भक्ति है। या तो मनको गोकुलमें ले चलो या गोकुलको अपने मनमें ले आओ।

★ ★ ★

विश्वास

जब अपना मन ही ईश्वर है,
जब अपना मन ही गुरुवर है
तब बार-बार क्यों पूछ रहे,
विश्वास बिना सब पत्थर है।
जो होता है वह ईश्वरका
करुणासे पूर्ण विधान भला,
यदि अपने मनको खलता है,
तो क्या पथ पर वह ठीक चला?

★ ★ ★

अनुभव करो, तुम्हें एक महान् प्रकाश घेरे हुए है। तुम्हारे अन्दर-बाहर, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे और नस-नसमें वह व्याप्त हो रहा है। अपने ज्ञान, शक्ति और सत्ताको उसमें डुबा दो—डूब जाने दो। फिर जब तुम व्यवहारमें उतरोगे तो तुम्हारे जीवनमें एक नवीन स्फूर्ति और उल्लासका अनुभव होगा। तुम देखोगे कि तुम्हारा जीवन प्रत्येक क्षण परमात्माकी अधिकाधिक सन्निधिमें जा रहा है।

★ ★ ★

● भजनका स्वरूप

जैसे अपने घर कोई अपना ही आया। अब उसकी सेवा कैसे की जाय ? सेवाको ही तो भजन कहते हैं। उसे अच्छे आसनपर बैठाओ। हाथ-पैर धोओ। चन्दन-माला, खाना-पीना, आरती, सोना आदि। उससे जैसा सम्बन्ध हो उसके अनुरूप व्यवहार करो। भगवान्‌को अपना निकट-से-निकट सम्बन्धी मानकर उनसे प्रेम करो, खिलाओ-पिलाओ, सेवा करो, लड़ो-झगड़ो; क्योंकि वे तुम्हारे हैं। उनसे कोई दुराव नहीं है। लालाशाही तकल्लुफ (शिष्टाचारकी अति) न करो। मेवे हों तो ठीक, नहीं तो चने ही सही। बैठे ठाले दिन भर उन्हींसे लाड़ लड़ाया। यही भजन है। उन्हींके साथ खाओ, नहाओ, बैठो, सोओ, खेलो। वे तुम्हारे, तुम उनके। कुछ नहीं तो दो तोलेकी जीभपर उनके मीठे नामकी मिश्री घोल-घोलकर रस लेते रहो। दिन-रात मुँह मीठा रहेगा।

★ ★ ★

भजनके समय आसन बीच-बीचमें बदले तो कोई हानि नहीं। तकलीफ सहकर एक आसनसे बैठनेमें कोई लाभ नहीं। मन ठीक लगना चाहिये। चलते-फिरते भी जप। बैठकर माला। ध्यानमें भगवान् बिलकुल अपने, सम्बन्ध सारे। यदि आसनका अभ्यास बढ़ाना हो तो प्रत्येक पक्षमें पाँच मिनटका बढ़ायें। छः महीनेमें घण्टे भरका अभ्यास हो जायगा। योगमें उतावली नहीं करनी चाहिये।

★ ★ ★

प्र.—कैसे जानें कि भगवान् हम पर प्रसन्न हैं ?

उत्तर—तुम अपने ऊपर प्रसन्न हो या नहीं ? असलमें तुम्हारी आत्माके रूपमें ही भगवान् हैं। तुम और वह एक हैं। तुम प्रसन्न हो तो वह प्रसन्न हैं।

★ ★ ★

भक्तिमें चार बातें आवश्यक हैं—प्रेम, विश्वास, स्मृति और सेवा। स्मृति तो सब समय निरन्तर बनी ही रहे।

★ ★ ★

श्रीकृष्णकी छबिको अपने हृदयमें बसाकर, उससे प्रेम करना ही भक्ति

है। 'भगवान् मेरे हैं और मुझे अवश्य मिलेंगे', मनके इस दृढ़ निश्चयको ही भक्ति कहते हैं।

★ ★ ★

भक्तिका संस्कार बड़ा प्रबल होता है। वह भक्तका पतन कभी नहीं होने देता, बल्कि उसे बचा लेता है।

★ ★ ★

संसारमें सुख-शान्तिसे रहनेके लिये 'भगवान्‌का आशीर्वाद मेरे साथ है', इस विश्वाससे बढ़कर कोई उपाय है ही नहीं।

★ ★ ★

यह बात जान लो और सिद्धान्त रूपसे मान लो कि ऐसा एक भी क्षण नहीं हो सकता, जिसमें तुम परमात्मामें स्थित न रह सको, चाहे तुम जिस परिस्थितिमें हो, भगवान् तुम्हारे साथ हैं और मुस्कराते हुए तुम्हारी सहिष्णुता एवं धैर्यको देख रहे हैं। क्या उनके सामने तुम क्षुब्ध अथवा विचलित हो सकते हो?

★ ★ ★

जिस परिस्थितिमें इस समय तुम हो, वह उन्हीं प्रभुका मङ्गलमय वरदान है। इसमें उनके सुकोमल करस्पर्शका अनुभव करो। देखो, इस समय भी उनके कर-कमलोंकी छत्र-छाया तुम्हारे सिरपर है।

★ ★ ★

जो बीत गया, उसे भूल जाओ। जो आनेवाला है, वह तुम्हारे अधिकारके बाहर है। तुम केवल वर्तमानको सुधारो, कहीं यह क्षण व्यर्थ न बीत जाय। अनुभव करो, आज तुम्हारा दिन सार्थक बीत रहा है। तुम भगवान्‌की ओर बढ़ रहे हो।

★ ★ ★

● ईश्वर मुझे पहचानता है

भारतका विभाजन हो जानेके बाद एक भक्त बहुत गरीब हो गये। उनकी सारी सम्पत्ति पाकिस्तानमें रह गयी। भारतमें वे जहाँ भी कोई नया व्यापार शुरू करते, कुछ ही दिनोंमें उन्हें वह बन्द कर देना पड़ता। वे सज्जन सचमुच ही बड़े भगवद्विश्वासी हैं। एक दिन चर्चा चलनेपर कहने लगे—"भगवान् सचमुच मुझे पहचानते हैं। तभी तो कोई भी जीविकोपार्जनका काम प्रारम्भ करने पर उसमें घाटा आता है, वे रोक लगा देते हैं। कहते हैं, 'क्या प्रवृत्तिमें पड़े हो, मेरा भजन करो, रोटी-दाल तो मिल ही रही है।' कितनी कृपा है प्यारेकी !" और कहते-कहते वे द्रवित हो गये, आनन्दके आँसू उनके नेत्रोंसे ढुलक पड़े।

★ ★ ★

ईश्वरप्राप्तिके प्रयत्नकी शिथिलता ही जरा (बुढापा) है और उनसे सम्बन्धका टूटना ही मृत्यु है। प्रत्येक शरीरधारीमें 'मैं' के रूपमें जो स्फुरित हो रहा है, उस 'मैं' के मूलको भूल जाना ही मृत्यु है।

★ ★ ★

भगवान्‌को लेकर जो स्मरण है, वही वास्तविक स्मरण है। 'स्मरण' का 'स' ही ईश्वर है। 'स' के बिना, ईश्वरके बिना स्मरण मरण है और स्मृति मृति अर्थात् मृत्यु। इसलिये सच्चा स्मरण करो, भगवान्‌को अपने हृदयमें लेकर।

★ ★ ★

सेवाके द्वारा स्वसुखकी कामना अथवा सेवासे मुक्त या रिटायर होनेकी इच्छा जिसे हो गयी वह भक्ति-सुखसे वंचित है। भक्तिका रहस्य न तो उसे ज्ञात ही होगा और न ही उसके हृदयमें भक्तिसुखका उदय होगा।

★ ★ ★

तुम्हारे संकल्पोंकी पूर्तिमें बाधक हैं—तुम्हारी हीन भावना, अपनी अयोग्यता, अपूर्णता तथा सांसारिक पदार्थोंकी दृढ़ आसक्ति। महात्मा इन सबसे सर्वथा असंग और मुक्त होता है। उसके पास जाओ, वह तुम्हारे संकल्पोंको

★ ★ ★

पूर्ण करनेकी शक्ति देगा, सामर्थ्य देगा ।

★ ★ ★

रोगीको दवा देते समय चार बातें बतलायी जाती हैं– दवा, अनुपान, पथ्य सेवन और कुपथ्यका त्याग । इनका पालन करनेसे ही रोग मिटता है । इसी तरह साधकको चित्त-निरोधके लिये, उसकी एकाग्रताके लिये अभ्यास और वैराग्यरूप पथ्यका सेवन और वासनारूप कुपथ्यका त्याग करना चाहिये । नाम औषध है, श्रद्धा अनुपान है, सद्‌गुण-सदाचार पथ्य और दुर्गुण-दुराचार कुपथ्य है ।

★ ★ ★

मनकी एकाग्रताके लिये चार बातें अपेक्षित हैं–प्राणायाम, इन्द्रियसंयम, सत्संग और स्वाध्याय ।

★ ★ ★

तुम्हारा मार्ग अनदेखा और साजन अनमिला है । उसके लिये चलना और उसका मिलना तब तक असम्भव है, जब तक कि कोई तुम्हें उसका पता न बतला दे ।

★ ★ ★

भजनमें मन लगनेके लिये प्रयत्नशैथिल्य आवश्यक है । बैठनेके पूर्व यह संकल्प करो कि अब तो हम भगवान्‌के साथ बैठ रहे हैं । वे जब कहेंगे कि अब उठो, तो उठ जायँगे, नहीं तो बैठे रहेंगे । और यदि कहेंगे कि मेरे धाममें चले चलो तो उसके लिये भी तैयार हैं ।

★ ★ ★

भजनमें मन चंचल न हो और शरीर न हिले इसके लिये पहले पाँच मिनट तक अनन्तसमापत्ति करो । अर्थात् शेष नागकी गोदमें भगवान् विष्णु हैं और सिरपर पृथ्वी । यदि सिर हिले तो पृथ्वी हिलकर नष्ट हो जायगी, भगवान् को भी विश्राममें बाधा होगी । इसलिये वे शान्त और स्थिर हैं । शेष भगवान्‌का यही ध्यान अनन्तसमापत्ति कहलाता है । अपने हृदयमें ऐसा ध्यान करनेसे आसन अचल हो जाता है ।

★ ★ ★

भक्तिके तीन रूप :

(१) ईश्वर उपाय और संसार फल–यह निकृष्ट भक्ति है ।

(२) धर्म, जप, ध्यान आदि उपाय और ईश्वर फल—यह मध्यम भक्ति है।

(३) ईश्वरही उपाय अर्थात् उन्हींकी शरणागति उपाय और उन्हींकी प्राप्ति फल—यह सर्वोत्तम फल है।

★ ★ ★

व्यवहारके चार सूत्र :

विनय, मर्यादा, सभ्यता और बुद्धिमत्ता। इन चारोंसे सम्पन्न ही व्यवहार कुशल है। उर्दूमें यही गुण क्रमशः अदब, क़ायदा, तहज़ीब और तमीज़ कहलाते हैं।

★ ★ ★

प्रश्न—अव्यभिचारिणी भक्तिका स्वरूप कैसा होता है ?

उत्तर—जैसे पतिव्रताका एकमात्र अपने पतिसे। भक्तका सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ हो, कामके साथ नहीं। भक्तियोगमें ईश्वरकी पूजा करके उसके अतिरिक्त किसी अन्य भौतिक पदार्थकी कामना ही व्यभिचार है।

★ ★ ★

मनुष्यकी पहचान उसके नित्यके आहार (इन्द्रियों द्वारा), व्याहार (भाषण), विहार (भोग, रहन-सहन) और व्यवहार (बर्ताव, चाल-चलन)से होती है।

★ ★ ★

प्रश्न—कृपण कौन है ?

उत्तर—भगवान् भले ही न मिलें, पर संसार न छूटने पाये—ऐसी चेष्टा वाला।

प्रश्न—बुद्धिमान कौन है ?

उत्तर—जो परमात्माको पानेके लिये संसार छोड़नेको उद्यत है।

★ ★ ★

कहाँ बैठे हो ?

श्री हरिबाबाजी महाराज वृन्दावनमें एक गृहस्थ गोस्वामीपादके यहाँ हरिकथा-श्रवणके लिये जाते थे। उनके साथ एक सेवक भी जाता था। बाबा जाते, बैठते, कथा सुनते, न इधर देखते न उधर, चुपचाप चले आते। एक दिन बाबा-सेवक-संवाद हुआ। बाबाने कहा—'कथा अत्यन्त सुन्दर, मधुर, गम्भीर, प्रेम रससे भरी है! क्या भक्तिसे भरा हृदय पाया है!'

सेवक—'महाराज कथा तो बहुत अच्छी कहते हैं; परन्तु उनकी बैठककी एक-एक खूँटी पर बीसों शाल-दुशाले टँगे हुए हैं। क्या प्रदर्शन है!'

बाबा—'मैं दो महीने से प्रतिदिन उनके घर जाता हूँ; मैंने उनकी भीत, खूँटी, शाल-दुशाले कभी नहीं देखे। तुम उनकी कथा सुनते हो या शाल-दुशाले देखते हो ?'

कहनेका अभिप्राय यह है कि अपने अन्तर्देशके निभृत प्रदेशमें कहीं समाधि लगी रहती है, कहीं भक्ति-भावकी गंगा बहती रहती है, कहीं वासनाके गन्दे पनाले बहते रहते हैं। इसका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व तो इस बातका है कि तुम अपनी दृष्टि कहाँ जमाते हो और किसके साथ 'मैं' करके बैठते हो ? तुम अपनेको जिसके साथ एक कर देते हो, वही हो जाते हो।

★ ★ ★

शान्त रहो, अत्यधिक शान्त रहो। विचार करो कि प्रलयमें भी मेरा चित्त अक्षुब्ध रहेगा, क्योंकि वह परमात्मासे युक्त है।

भक्तकी स्थिति

भक्तकी स्थिति होनी चाहिये—सबमें 'हाँ-हुजूर'। जो कुछ है ठीक है। राजाने मन्त्रीसे कहा—'बैंगन बहुत अच्छा !' मन्त्रीने कह दिया—'जी हाँ, वह तो बहुगुन है।' राजाने कहा—'बैंगन तो बुरा होता है।' मन्त्रीजी झट बोले—'जी हाँ, क्योंकि बेगुन है' राजा बोले—तुम तो बड़े खुशामदी हो।' मन्त्रीने उत्तर दिया—'हुजूर, मैं सेवक आपका हूँ बैंगनका तो नहीं।'

इसी प्रकार सभी परिस्थितियोंमें भगवान्‌का हाथ देखनेवाला, जो कुछ सामने आये, उसमें अपने प्रभुका दर्शन करने और प्रसन्न रहनेवाला भक्त है।

★ ★ ★

किसी चोरको यह सूचना मिली कि जिस तम्बूमें वह ठहरा है, उसमें परदेके पीछे बहुत बड़ी सम्पत्ति रखी हुई है। उसे पानेके लिये वह इतना व्याकुल रहा कि रात भर सो न सका। कब लोग सोयें, बेखबर हों और परदा फाड़कर वह सम्पत्ति चुरा ले, यही चिन्ता उसे लगी रही।

तुम्हारे हृदयमें भी सम्पत्तियोंका सार परमेश्वर छिप रहा है, क्यों नहीं सारे आवरण फाड़कर वेगके साथ उससे मिल जाते ?

★ ★ ★

पर-दोष चिन्तन चित्तमें दोषोंका संस्कार डालता है। दूसरोंमें वे दोष भले न हों; अपनेमें तो आ ही जाते हैं।

★ ★ ★

अपराधीको क्षमा करना अपराधको प्रोत्साहन देना नहीं है। उससे अपनी सहिष्णुताको बल मिलता है।

★ ★ ★

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

कर्मका फल कर्ताको मिलता है। सेवा सेव्यके लिये नहीं, अपितु अपने निर्माणके लिये, अभिमानादि दोषोंकी निवृत्तिके लिये की जाती है। दस-बीस व्यक्तियोंकी भूख मिटाकर सन्तुष्ट हो जाना सेवा नहीं है। सेवा यह समझकर हो कि दुनियाँ तो क्षुधार्तोंसे भरी पड़ी है, मैं खिला न सका।

★ ★ ★

प्रश्न—संन्यास क्या है ?

उत्तर—सं=सम्यक्+नि=नितरां+आस=समर्पणम्। कर्मके भली भाँति और सम्पूर्ण रूपसे भगवानके प्रति निक्षेप या समर्पण का नाम संन्यास है—'इदं न मम'।

★ ★ ★

प्रश्न—दीक्षा किसे कहते हैं ?

उत्तर—दीयते गुरुणा, क्षिप्यते शिष्येण। गुरुके अनुग्रह और शिष्यकी श्रद्धाका मिलन। अनुग्रह और श्रद्धाके विवाह महोत्सवका नाम ही दीक्षा है।

★ ★ ★

जैसी श्रद्धा ईश्वरमें होती है वैसी ही गुरुदेवके प्रति होती है, तभी उनकी वास्तविक कृपाका आविर्भाव होता है। तभी शास्त्रोंका रहस्य समझमें आता है और तभी अद्वय तत्त्वका साक्षात्कार होता है।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

★ ★ ★

'सम्प्रदाय' सम्प्रदान—सम्यक् प्रदानसे बना अत्यन्त पवित्र शब्द है। शास्त्रोक्त योग्य गुरुसे शास्त्रोक्त योग्य शिष्यको प्राप्त ज्ञान-सम्पत्तिका नाम सम्प्रदाय है।

★ ★ ★

कृपा रस है, धारा है। जलकी भाँति वह नीचेकी ओर ही चलती है। जो नम्र है, विनयी है, उसे पाता है। अभिमानी और अविनीत उससे वंचित ही रहेगा।

★ ★ ★

सूर्य प्रकाश देता है, आँख भौतिक पदार्थ देखती है। अन्तःस्थ वासुदेव बुद्धिको प्रकाश देता है और वह निश्चयपर पहुँचती है।

★ ★ ★

मन रक्तबीज है और अहंकार-अभिमान महिषासुर। इनकी बलि देकर देवी—ब्रह्मविद्याको प्रसन्न किया जाता है।

★ ★ ★

भगवान् राम, दशरथ अर्थात् दस इन्द्रियोंके रथपर सवार, ऐन्द्रियक सुख-भोगको नियन्त्रणमें रखनेवालेके बेटे और दशमुख रावण अर्थात् दसों इन्द्रियों द्वारा विषयभोग करनेवालेके शत्रु हैं।

★ ★ ★

ध्यानके पाँच विघ्न :

(१) लय-मनका सो जाना।
(२) विक्षेप-मनका चंचल होना।
(३) रसास्वाद-मजा लेना, भोक्ता होना।
(४) कषाय-रागास्पद या द्वेषास्पदका स्मरण।
(५) अप्रतिपत्ति-ध्येयके स्वरूपको ठीक-ठीक ग्रहण न कर सकना।

★ ★ ★

ध्यानके समय नेत्रकी स्थिति

(१) पुतली स्थिर हों, अपने स्थानपर। जोर नहीं लगाना चाहिये। जैसे दो गुलाबके फूल रखे हों।

(२) नींद आती हो तो नेत्र खुले रखने चाहिये। इसे उपनिषद्‌में पूर्णा दृष्टि कहते हैं।

(३) मन चंचल होता हो तो नेत्र बन्द कर लेना चाहिये। इसका नाम है अमादृष्टि।

(४) निद्रा, आलस्य और चंचलतासे रहित मन होनेपर, अर्धोन्मीलित नेत्रोंसे ध्यान करना चाहिये। नींद और चंचलता-दोनोंका प्रकोप हो, तब भी यही दृष्टि उपयोगी है। यह प्रतिपद् दृष्टि है।

(५) नेत्र खुले हों, बन्द हों या अधखुले, लक्ष्य अन्तर्देशमें ही होना चाहिये। पुतली और पलकें दोनों ही स्थिर होनी चाहिये।

शास्त्रमें कहा है कि जिसकी दृष्टि लक्ष्यके बिना, प्राण निरोधके बिना और वृत्ति आलम्बनके बिना स्थिर है, वह योगी, पूज्य एवं गुरु है।

★ ★ ★

भगवान् भोजन पहुचाते हैं

मैं और चक्रजी दोनों ही उन दिनों कहीं-कहीं यात्रा करनेको चले जाया करते थे। पासमें कुछ थोड़े-से पैसे और सीमित सामग्री चादर, कम्बल, लोटा। एक बार इसी प्रकार हम लोग बिहारमें तपोवन नामक स्थानमें गये। बौद्ध एवं जैन युगके भग्नावशेष देखते हुए दिनभर चलते, रातको कहीं सो जाते। कहीं चना-चबेना खाते, कहीं खिचड़ी बना लेते। कई बार लोग एक गाँवमें सोने नहीं देते तो दूसरे-तीसरे गाँवमें जाना पड़ता। कभी कचहरीमें तो कभी मन्दिरमें। एक धुन थी। राजगिरिसे चले, दोपहरको बिहारशरीफ आये। अपराह्नमें चलनेपर सायंकाल कहीं भी ठहरनेको जगह न मिली। अनजान मार्ग, धानके खेतोंके मेंड़परसे चलकर रात्रिके ग्यारह बजे लाइट रेल्वेके एक स्टेशनपर पहुँचे। शरीर थककर चूर चूर हो रहा था। वहाँ न गाँव न दुकान। खाने-पीनेकी कोई विधि नहीं बैठी। रात्रिमें कोई गाड़ी आती-जाती नहीं थी। मुसाफिरखानेमें हमारे अतिरिक्त और कोई यात्री भी नहीं था। चादर, बिछायी, लेट गये। इसी बीच पन्द्रह-सोलह वर्षके दो किशोर आये। उन्होंने हमें उठाया। हम तो उनका सौन्दर्य देखकर चकित रह गये। गौरवर्ण हृष्ट-पुष्ट शरीर, भरा चेहरा, बड़े-बड़े नेत्र, मुस्कराते हुए। दुग्ध-धवल वस्त्र। उन्होंने हमारी चादरपर बैठकर पूछा—'कुछ खाया-पिया है?' हमने कहा—'नहीं, यहाँ क्या मिल सकता है?' उन्होंने कहा—'खोया खाओगे?' और पाव-पाव भर खोयेके दोने हम दोनोंको देकर वे जाने लगे। हमने पूछा—'आप कौन हैं, कहाँ रहते हैं?' वे बोले—'यहींपर।' मुस्कराकर हमारी ओर देखा और चले गये।

हमें वह सुन्दर सुकुमार रूप, वह मुसकान अब भी स्मरण है। वैसा सौन्दर्य, माधुर्य, स्नेहकोमल स्वभाव धरतीपर नहीं हुआ करता। अवश्य ही हमें भोजन देनेके लिये स्वयं भगवान् श्याम-बलराम युगल किशोरके रूपमें आये थे। यह घटना सन् १९३२-३३ की है।

★ ★ ★

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

साधन-पथ

प्र.—भगवन्, नमस्कारका अर्थ बतलाइये !

उ.—अपने 'अहं' की त्रिविध सत्ता अर्थात् पृथक् सत्ता, ज्ञान और आनन्दको परमात्मासे मिला देना । अभिमानका न होना और नम्रताका आना-यही वास्तविक नमस्कार है ।

★ ★ ★

संसारमें जो कुछ भी दृश्यमान है, उसीमें परमात्माको देखो । केलेके तनेको चीरो तो परतके सिवा वहाँ कुछ नहीं है । वह परत ही केला है । इसी प्रकार संसार भी परमात्मा है, वही विष्णु है । इसलिये जो भी सामने आये उसकी सम भावसे सेवा करो । वह परमात्माकी सेवा है--'समत्वमाराधनमच्युतस्य' ।

★ ★ ★

भगवन्नाममें समस्त पापोंको निवृत्त करनेका सामर्थ्य है । किन्तु वही नाम जब पाप कर्ममें साधन हो तो वह पाप वज्रलेप हो जाता है ।

★ ★ ★

जीवके जीवनमें चार सबसे बड़े बन्धन हैं—अज्ञान, अनैश्वर्य, अवैराग्य और अधर्म । यह बन्धन ही उसके दुःखके कारण हैं । अज्ञानको ज्ञानसे, शरणागति द्वारा अनैश्वर्यको, भक्तिसे अवैराग्यको और धर्मसे अधर्मरूप बन्धनको काटो और सुखी हो जाओ ।

★ ★ ★

व्यक्ति चाहे कितनी ही समाधि लगा ले, योगमें स्थित हो जाय और चाहे कितना ही धर्मनिष्ठ हो जाय, जबतक भगवदाकारवृत्तिका उदय नहीं होता, तबतक जीवनमें सुख-शान्ति नहीं आ सकती ।

★ ★ ★

धनके तीन दोष हैं–धन स्वयं, धनका अभिमान और धनकी तृष्णा। इस दोषकी औषध है दारिद्र्य। दारिद्र्यमें धन ही नहीं, तो धनका अभिमान कहांसे होगा ? तृष्णा अवश्य रहती है सो सत्संगके द्वारा मिट जायगी। त्रिदोष मिटनेमें विलम्ब लगता है, परन्तु एक दोषसे शीघ्र ही निवृत्त होकर चैनसे रह जा सकता है।

जैसे महात्मा सुखमें-दुःखमें, दिनमें-रातमें, घरमें-वनमें, राग और वैराग्यमें, मिलन और वियोग–सभी अवस्थाओंमें सम रहकर अपने स्वरूपका अनुभव करता है, वैसेही परमात्मा भी शहदमें शहदपना, नीबूमें नीबूपना और करेलेमें कटुताकी श्रेष्ठताको स्थिर रखते हुए सबको सत्ता, स्फूर्ति और प्रकाश देते हुए सम भावसे स्थित है, यह उसका स्वभाव है।

★ ★ ★

संस्कृत भाषामें भक्त शब्दका अर्थ भात है। जैसे, भात (पका हुआ चावल) सिद्ध हो जानेपर कोमल, कणरहित, स्वादिष्ट और अलग-अलग रहनेपर भी पक्वतासे भरपूर रहता है, वैसे ही भक्त भी कोमल, अभिमानरहित तथा रसमय होता है। उनकी पृथक्तामें भी भावकी परिपक्वता एकरस रहती है।

★ ★ ★

स्थिर शरीर और अचञ्चल मनसे हठताके साथ बैठो। निश्चय करो कि अब एक क्षणके लिए भी परमात्माके अतिरिक्त और किसी वस्तुको चित्तमें स्थान नहीं दूँगा। मेरा सम्पूर्ण जीवन परमात्माके लिये हैं।

महात्माका अनुभव

ऋषिकेशमें शताधिक आयुके एक महात्मा शरीर त्याग रहे थे। शिष्योंने उनसे अपना एकान्त अनुभव सुनानेकी प्रार्थना की। वे बोले—'यहाँसे लाहौरतककी भूमि स्वर्णसे ढ़क दो तो भी मेरे मनमें उसके लिये किंचित् भी लोभ न होगा; परन्तु जबतक यह शरीर श्मशानमें नहीं चला जाता, तबतक मनमें काम नहीं आयगा, इसका आश्वासन मैं नहीं दे सकता।'

वस्तुतः काम बड़ा प्रबल है। भाई-बहिन, माता-पिता आदिके अनेक छद्म रूपोंमें वह आता है। उसे पहचानना बड़ा कठिन है। उससे बचनेमें ही भलाई है।

★ ★ ★

जो जितना अधिक निर्वासिन होगा, उसे भगवद्भजन, भगवन्नामका उतना ही अधिक रस, आनन्द आयगा। संसारके पदार्थोंमें मन अटका रहे तो नाम-जप, कीर्तन आदिसे संसार ही मिलेगा, भगवान् नहीं। भजनका नियम यह है कि निर्वासिन होकर करनेसे भगवान् मिलते हैं। वासनायुक्त भजन विलम्बसे चित्त शुद्ध करता है।

★ ★ ★

जो धनका न भोग करे और न दान, वह तो हलवेको पलटने वाली कलछी है। उँटकी पीठ पर वेदोंका बोझ है, वह धन; क्योंकि न कलछीको स्वाद आता है और न उँटको ज्ञान होता है।

★ ★ ★

जैसे गंगाजीकी धारा अखण्डरूपसे समुद्रमें गिरती है, वैसे ही चित्तवृत्ति लय-विक्षेपके बिना परमात्माको ही विषय करे और उसीमें समाती जाय। भावका परमात्मामें उदय-विलय होना ही भक्तिकी दृढ़ता है।

★ ★ ★

भक्तका जीवन भगवच्चिन्तन है। भय, संकट, प्रमाद, विक्षेपके समय और इनके अतिरिक्त भी भगवान्‌का नाम स्मरण आये—यही जीवन है। इसके बिना मृत्यु है, दुःख है—

कह हनुमन्त बिपति प्रभु सोई, जब तव सुमिरन भजन न होई।

★ ★ ★

साधनाका मार्ग प्राइवेट है। अकेले चलनेका, अन्तरङ्ग मार्ग है। इसमें सगे-सम्बन्धी, स्वजन-परिजनको साथ लेकर नहीं चला जा सकता। ये सब तो यहीं छूट जाते हैं। संसारके सब रास्ते, सब सम्बन्ध जहाँ समाप्त हो जाते हैं, साधन-पथ वहींसे प्रारम्भ होता है।

जीव सच्चिदानन्दके मार्गसे च्युत, नाम-रूपके गढ़ेमें गिर गया है। मनुष्य जिस धरतीपर गिरता है उसीका सहारा लेकर उठता है। इस न्यायके अनुसार भगवान्‌के नाम-रूपका सहारा लेकर ही वह उठ सकता है।

★ ★ ★

मार्गमें चलते-चलते पाँव फिसल जाना या गिर जाना अपराध नहीं है। अपराध है फिर न उठना और आगे न बढ़ना।

★ ★ ★

जो कुछ परमात्माकी ओरसे आये, प्रेमसे उसका स्वागत करो। चित्तमें अपनी ओर विचारोंको न ठूंसकर—चित्तके उद्गममें-से उन्हें उभरने दो। तुम्हारा एक-एक विचार परमात्माका सन्देश लायेगा। देखो तो सही, तुम्हारे हृद्देशस्थित परमात्मा क्या कहते हैं।

चाकू मित्रके हाथमें

दो मित्र यात्रा कर रहे थे। रात्रिमें जंगलमें विश्रामके लिये रुकना पड़ा। दोनोंने बारी-बारीसे सोनेका निश्चय किया। एक जागता तो दूसरा सोता। जब एक दूसरेकी गोदमें सिर रखकर सो रहा था, एक सर्प आया उसे काटने के लिये। बैठे हुए मित्रने उसे रोका—

'ठहरो, इसे क्यों काटते हो ?'

सर्प—इसने पहले मुझे मारा था, इसलिये मैं भी इसका रक्त लूँगा।

मित्र—तुम्हें रक्त ही चाहिये न ?

'हाँ।'

'यदि तुम्हें मैं इसका रक्त दे दूँ, तो इसे छोड़ दोगे ?'

'हाँ, छोड़ दूँगा।'

मित्रने चाकू निकाली और सोये हुए व्यक्तिकी गर्दनपर रखी। मित्रने आँख खोलकर एक बार देखा और पुनः सो गया। जागनेवाले मित्रने थोड़ा रक्त निकालकर सर्पको दे दिया और इस प्रकार मित्र मरनेसे बच गया।

जागनेके पश्चात् उससे बैठे हुए मित्रने पूछा—'मेरे हाथमें खुला चाकू देखकर तुम्हें भय अथवा सन्देह नहीं हुआ ?' 'भय क्यों लगता' ?—साथी बोला--'मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरा साथी जो भी करेगा उसमें मेरा हित ही होगा।'

★ ★ ★

दृढ़ निश्चय करो—मेरा मन पवित्र हो रहा है। दुर्विचार, दुर्गुण, दुराचार आदिकी वृत्तियाँ अब उसके अन्दर प्रवेश नहीं कर सकतीं। तभी तो उसके सामने एक अलौकिक दिव्यता प्रकट हो रही है।

दुर्गुण और सद्गुण

जहाँ राष्ट्रपतिको जाना होता है वहाँ राजपुरुष पहलेसे जाकर उनके रहनेके स्थान खाने-पीने, सुख-सुविधा आदिकी व्यवस्था करते हैं। वैसे ही जिस हृदयमें दु:खको आना होता है, उसमें पहलेसे ही काम-क्रोध आदि दोष आकर दु:खके दौरे और निवासका प्रबन्ध करते हैं। दोषोंका आगमन दु:खकी पूर्व सूचना है।

★ ★ ★

जीवका जिससे विवाह होना है, वह दिव्य पुरुष है। उसके सामने जानेके लिये अपनेको सजाओ-सँवारो, साफ-सुथरे हो जाओ। कामनाओं-वासनाओंके मलको उतारो। श्रद्धा-भक्ति, साधना, जिज्ञासाके आभूषण धारण करो। दिव्य होकर उसके सम्मुख जाओ। दिव्यका ही दिव्यसे सम्बन्ध होता है।

बदरीनाथ जाते समय जोशीमठमें एक परिचित सेठके अतिथि बने। उसकी लड़कीने मोटी-मोटी पूरियाँ देखकर थाली फेंक दी और कहा—'मैं ऐसी पूरियाँ लेकर स्वामीजीके पास जाऊँगी ?'

★ ★ ★

धनके लिये सेठकी पूजा, ईश्वरकी नहीं, धनकी पूजा है। स्त्रीको 'प्राणेश्वरी, हृदयेश्वरी' कहना उसके रूपकी, कामकी पूजा है। किसीके दोष भी गुण दीखना, रागवश उसे ही पूर्ण मानना ईश्वरकी नहीं, मोहकी पूजा है। अपनेको सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरोंको हेय समझना, तिरस्कार करना अपने अहंकी पूजा है।

★ ★ ★

पतिकी पहचान

एक महिलाके पति मेलेमें बिछुड़ गये। स्वयंसेवक उन्हें द्वारपर ले गये और जो अपरिचित पुरुष उधरसे निकलता, पूछते—'यही हैं क्या ?' श्रीमतीजी 'ना' कर देतीं। जब वे आये, मुखकी प्रसन्नता और आँखोंके इशारेने ही बता दिया—'बस, बस, यही हैं।' इसी प्रकार श्रुति भी अपरिचितके लिये 'नेति' और ब्रह्मके लिये मौनके द्वारा संकेत करती है।

★ ★ ★

'आ समन्तात् हन्ति'-जो सब ओरसे मारे सो आह। चाह ही आह है।

★ ★ ★

निन्दाकी परवाह न करना बहादुरी हो सकती है; परन्तु स्तुतिका मीठा जहर पचा लेना उससे भी बड़ी बहादुरी है।

★ ★ ★

विचार निकालो कि जगत्‌की कौन-सी वस्तु इतनी आकर्षक महत्त्वकी वस्तु समझते हैं, वह सर्वथा सारहीन है। जिसके प्रति जिसकी वासनाओंका झुकाव रहता है, वह उसीको बड़ा मान लेता है। जब तुम मोहका पर्दा फाड़कर देखोगे तब जान सकोगे कि वह तो बच्चोंके खिलौनेसे अधिक महत्त्व नहीं रखता। तुमने निश्चयपूर्वक वह परदा फाड़ दिया है, ऐसा अनुभव करो।

प्रेम रसायन

सहृदय व्यक्तिकी एकमात्र पूंजी है प्रेम। प्रेम झिलमिल-झिलमिल ज्योतिसे देदीप्यमान एक श्रेष्ठ हीरा है, जो हृदयकी मंजूषामें रहता है और जिसकी जगमगाहट कभी फीकी नहीं पड़ती।

★ ★ ★

प्रेमका उदय भावी मङ्गलकी सूचना है। प्रेमकी विद्यमानता परमानन्दकी अनुभूति है। प्रेमका परिणाम—उसकी परिपक्व अवस्था परम कल्याण है।

प्रेम आनन्द देखता है प्रियतममें; परन्तु उसको खींचकर ला देता है प्रेमीमें। प्रेमसे आनन्दका उदय होता है प्रेमीमें और प्रेमी उसे पहुँचा देता है प्रियतमतक। वह एक ऐसा रसायन है, जो प्रेम प्रियतम दोनोंको केवल आनन्दमय बना देता है।

★ ★ ★

प्रेम सुख और दुःख, संयोग और वियोग, सामीप्य और दूरी, तत्काल और देरी, संवाद और विवादकी कोई परवाह नहीं करता। यह नित्य-निरन्तर वर्द्धिष्णु आह्लाददायी चन्द्रमा है। इसमें दिन-रात्रिका भेद नहीं है। अमावास्या और पूर्णिमा भी नहीं।

★ ★ ★

प्रेममें जागकर काम करना, भविष्यके सपने सँजोना, गाढ़ी नींदमें सो जाना या ध्यानस्थ हो जाना—सब अपने प्रियतमके लिये ही होता है। वह अपने जीवनकी सभी स्थितियों, गतियों, मतियों और रतियोंको प्रियतमकी ओर मोड़ देता है।

★ ★ ★

प्रेम प्रबल परिश्रमको भी विश्राम बना देता है। कटुको मधुर और विषको

अमृत बनानेकी रासायनिक शक्ति प्रेममें ही है। ज्ञान संसारका बाध करके अधिष्ठान सत्यको 'ब्रह्म' अनुभव कराता है। प्रेम संसारको दृश्यमानरूपमें ही ब्रह्म बना देता है।

★ ★ ★

प्रेम पर कालका प्रभाव नहीं पड़ता। शरीरकी वृद्धावस्थासे वह जीर्ण-शीर्ण नहीं होता। मृत्यु और प्रलयके विकराल गालमें भी अपनी स्निग्धता और माधुरी नहीं छोडता। उसके रसमें निरन्तर वृद्धि होती जाती है।

★ ★ ★

प्रेम एक स्नेह-सार पदार्थ है। ज्यों-ज्यों तपाया जाता है त्यों-त्यों नवनीतसे घृतके समान अपने परिपक्व और स्थायी स्वरूपको प्रकट करता है। वह संसारकी क्षुधा मिटाता है, जीवनमें तुष्टि-पुष्टिका सञ्चार करता है और दृष्टिकोणमें आमूलचूल रस भरकर दर्शनकी दिशा ही बदल देता है। इससे सर्वत्र प्रियतम ही प्रियतम दीखने लगता है।

★ ★ ★

प्रेम सन्तोष और तृप्तिको जला देता है। इसमें फँसकर छूटना असम्भव है। प्रेमास्पदको देखनेसे प्रारम्भ करके आत्मसात् करलेनेमें ही इसकी पूर्णता है।

डूबा प्रेमसिन्धुका कोई फिर नहीं कभी उछलते देखा।

★ ★ ★

प्रेमका अधिकारी भिखारी नहीं, दाता है। प्रेम वह अस्त्र है, जो फेंके जानेपर दूसरेका प्रेम लेकर लौटता है।

★ ★ ★

प्रेम आश्चर्य है

१. प्रेमका जन्म होता है, परन्तु मृत्यु नहीं।

२. वह हृदयकी चट्टानको गलाकर प्रियतम-सिन्धुसे मिला देता है; परन्तु स्वयं कभी गलता नहीं।

३. उसमें मानकी वक्रिमा है; परन्तु चन्द्रमाके समान अपूर्णता नहीं है।

४. वह अपनी छवि-छटाकी घटासे सारे संसारको डुबो देता है; परन्तु उसमें भयका कीचड़ पैदा नहीं होता।

५. वह दु:खमें साथ-साथ रोता है, दोषमें साथ-साथ रहकर उन्हें दूर करनेका प्रयास करता है। द्वेषको अपने आश्रयकी छाया भी नहीं छूने देता।

६. प्रेमकी सुगन्ध मादक है; प्रेमका रस प्यास और तृप्तिका मिश्रण है। प्रेमका सौन्दर्य नेत्रोंका अद्भुत चमत्कार है। प्रेमका स्पर्श लोकोत्तर तन्मयता है। प्रेमका शब्द सङ्गीतका आकर्षण है। वह नित्य-नूतन, चिर सुकुमार, अनन्त सुन्दर है, सुधाको तिरस्कृत करनेवाली माधुरी है!

★ ★ ★

धरती अधरमें

उन दिनों वसिष्ठ और विश्वामित्रमें यह विवाद चल रहा था कि बड़ा कौन है ? जब परस्परके विचार-विनिमयसे निर्णय न हो सका, तब दोनों धरणीधर भगवान् शेषके पास पहुँचे। उनके कलहका कारण जानकर शेष भगवान्ने कहा—'मेरे सिरपर पृथ्वीका बोझ है। आपमेंसे कोई इसे क्षणभर धारण कर लें तो मैं निर्णय दे दूँगा।'

विश्वामित्रको बडी त्वरा थी। उन्होंने अपने जीवनभरके सम्पूर्ण जप-तप-यज्ञ-व्रत-स्वाध्यायसे अर्जित शक्तिके द्वारा क्षणभर पृथ्वीको धारण करना चाहा; परन्तु वह डगमगाकर गिरने लगी। शेषने उन्हें रोक दिया।

वसिष्ठने अपने जीवनके थोड़े-से भागमें किये हुए सत्संगका एक अंश लगाया। उसकी शक्तिसे पृथ्वी अधरमें स्थिर हो गयी।

शेषने मुस्कराकर पूछा—'महात्माओं, अब भी निर्णय देनेकी आवश्यकता है ?'

कहनेका अभिप्राय यह है कि क्षणभर सत्संगकी शक्ति करोड़ों यज्ञ, तप आदिसे बढ़कर है। सत्सङ्ग शक्तियोंका खजाना है।

★ ★ ★

पति पर विश्वास

पत्नीने पतिसे कहा—तूफानका इतना जोर है। जहाज उभ-चुभ हो रहा है। सब यात्री घबड़ाकर इधर-उधर दौड़-धूप कर रहे हैं और तुम शान्तिसे बैठे हो! क्या तुम्हें डर नहीं लगता ?'

पतिने आव देखा न ताव, जेबसे रिवाल्वर निकालकर पत्नीकी छातीपर निशाना लगाते हुए कहा—'क्या तुम्हें भय नहीं लगता ?'

पत्नी—'जब रिवाल्वर तुम्हारे हाथमें है तब मुझे भय किस बातका ?'

पति—'मैं तुम्हारा पति हूँ, तुम्हें मुझपर विश्वास है। जिसके हाथमें तूफान है, वह मेरा पति है। मुझे उसपर विश्वास है। फिर डर किस बातका ?'

★ ★ ★

● जीवन ही व्यर्थ है।

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटीके प्राध्यापक श्री दे महाशयका प्रतिदिन दस मिनट भगवान्‌का भजन करनेका नियम था। एक दिन कुछ प्रोफेसरोंने उनसे कहा 'ईश्वर तो है नहीं; फिर आप व्यर्थ ही क्यों दस मिनट खराब करते हैं ?' दे साहब बोले—'भाई, ईश्वर न होनेपर तो मेरे दस मिनट ही खराब होंगे; परन्तु यदि वह कहीं निकल आया तो तुम लोगोंका तो सारा जीवन ही व्यर्थ हो जायगा।'

★ ★ ★

महापुरुषोंके उपदेश श्रवणसे अज्ञानकी निवृत्ति और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे जीवन निर्माण होता है। श्री उद्धवजीने भगवान् श्रीकृष्णसे दोनों

वस्तुएँ माँगी थीं ।

★ ★ ★

कल्पवृक्ष सबकी कामना पूर्ण करता है । अग्नि सबकी शीत मिटाती है, तभी जब कोई उसके समीप जाय । इसी प्रकार भगवान् भी सबके मनोरथ पूर्ण करते हैं तभी जब कोई उनके सम्मुख हो ।

★ ★ ★

जब तक अज्ञान है, अविद्या-निवृत्ति नहीं हुई तब तक यह शरीर खेलने योग्य नहीं है । इससे ऊपर उठो । और जब अविद्याका ध्वंस हो गया, सब कुछ परमात्मा है—ऐसा बोध हो गया, तो इसी शरीरसे जीवन्मुक्तिका आनन्द आता है । सभी क्रियाएँ आत्मक्रीड़ा हो जाती हैं । अघासुरकी मृत्युके अनन्तर उसका वह अजगर शरीर श्रीकृष्ण और उनके साथियोंका क्रीड़ा स्थान बन गया था ।

★ ★ ★

प्र.—शरणागति क्या है ?

उ.—अपने भविष्य और वर्तमानके मानका खण्ड-खण्ड अर्पण । अश्वमेघ आदिके समान नरमेघ, नहीं, नहीं, अहंमेघ अर्थात् 'मैं'का अर्पण ही वास्तविक शरणागति है ।

★ ★ ★

लक्ष्मी जब नारायणके साथ होती हैं, तब वाहन गरुड़ होता है । जब वे अकेले चलती हैं, उल्लू पर सवारी करती हैं । तुम्हारे पास केवल लक्ष्मी हैं अथवा लक्ष्मी-नारायण ?'

★ ★ ★

चित्तकी शुद्धिके लिये शुद्ध भोग, शुद्ध कर्म, शुद्ध भाव और शुद्ध स्थिति अर्थात् समाधिकी शुद्धि अपेक्षित हैं, आवश्यक हैं । इसका सबसे सुगम उपाय है चिन्तनकी शुद्धि; क्योंकि चिन्तनका नाम ही चित्त है ।

★ ★ ★

आधिभौतिक असुरके नाशके लिये देवताका तथा आध्यात्मिक असुर--अहंकारके नाशके लिये महात्माका अवतार होता है। अभिमानीमें विनय नहीं होती। अविनीतका सिर झुकेगा ही क्यों ?

★ ★ ★

'महात्माजी, घरमें बड़ी अशान्ति है, बड़ा दुःख है।'

'घरमें अशान्ति रहने दो, दिलमें शान्ति रखो। दुनियाँमें ऐसा कोई घर न होगा जिसमें थोड़ी बहुत अशान्ति न हो। अपना हृदय शान्त रखो, तभी तो सर्वत्र शान्ति दिखेगी। महात्मा लोग वनमें रहते हैं। वहाँ उन्हें अशान्तिकी कोई बात नहीं होती, फिर भी अपने चारों ओर आग जलाकर उसका ताप सहते हैं। तुम भी ऐसी ही भावना करो कि यह अशान्ति ही तुम्हें तपाकर दृढ़ और सहिष्णु बना रही है।

★ ★ ★

यदि सचमुच अपने जीवनको महान् बनानेका निश्चय कर लिया है तो तुम्हारी महत्तामें कोई सन्देह नहीं; परन्तु उसके लिए अपेक्षित साधन-सामग्री एकत्र कर ली है क्या? एकबार अपने सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और निर्भीकताकी परीक्षा कर लो। साधन जुट जानेपर साध्य स्वयं तुम्हारी सेवा करने लगेगा।

राजा काहेका

राजाकी सवारी जा रही थी। मार्गके बीचमें एक साधु बैठा था। कर्मचारियोंके कहनेपर भी न उठा। राजाने कहा—'हट जाओ !'

साधु—क्यों भला ?

राजा—मैं सम्राट हूँ।

साधु—क्या विशेषता है तुममें ?

राजा—चाहे जिसे अपने राज्यसे निकाल सकता हूँ।

साधु—अच्छा, तो अपने राज्यके सभी मक्खी, मच्छर, चींटी, सांपोंको आज्ञा देकर निकाल दो !.......

साधु—नहीं निकाल सकते ? फिर काहेके राजा ?

★ ★ ★

प्रार्थना की गयी। साधु राजाके साथ महलकी ओर चले। प्रवेश द्वारपर बन्दूकधारी प्रहरी।

पूछा—'क्यों खड़ा है ?'

उत्तर मिला—'रक्षाके लिये।'

साधु—यह तो कैदी है, राजा काहेका ?

★ ★ ★

राजा भगवान्‌के सामने प्रार्थना कर रहा था सुख-समृद्धिके लिये। दरबारमें बैठकर कर वसूल करता, भेंट ग्रहण करता। साधुने कहा—'भिखारी है, राजा काहेका।'

★ ★ ★

● त्यागी कौन

सेठजीने महात्माको प्रणाम किया। महात्माने भी सेठजीको प्रणाम किया। सेठजीने कहा—'महाराज आप बड़े हैं, वैराग्यवान् हैं, मुझे क्यों प्रणाम करते हैं ?'

महात्मा—'सेठजी आप बड़े हैं, विरक्त हैं। मैंने तो छोटेसे संसारको छोड़कर परमात्माको पकड़ा; परन्तु आपने तो छोटेसे संसारके लिये उसके बनानेवाले परमात्मा (बड़ी चीज) का त्याग किया है। इसलिये आप मुझसे बड़े त्यागी है। मैं आपको प्रणाम करता हूँ।'

★ ★ ★

● मिथ्या अभिमान

एक सेठजी महात्माको अपनी विशाल कोठी और उद्यान स्वयं घूम-घूमकर बतला रहे थे। उसके कलाकौशल और संग्रहमें आत्मख्याति भी करते जाते थे। फिर कहा कि एशियामें इस ढंगका स्थान नहीं है। महात्माने वहीं पृथ्वीका नकशा देखा। पूछा—'क्या है ?'—'पृथ्वी।' 'इसमें एशिया कहाँ है ?' बतला दिया। फिर भारत, उसमें बम्बई बिन्दुके रूपमें। महात्माने पूछा—'इसमें आपकी कोठी भी है?' सेठ बोले—'नकशेमें कोठी नहीं दिखलायी जा सकती।' महात्मा बोले—'फिर आपका अभिमान व्यर्थ है।'

★ ★ ★

● अर्पणका स्वरूप

एक धनपतिने श्रीनाथजीको दस हजार मुहरें अर्पित कीं। ढेर लगाते समय खनखनाहट हुई। महाप्रभुजीने सेठ को रोक दिया—'तुम्हारी भेंट श्रीनाथजी स्वीकार नहीं करेंगे।'

'क्यों महाराज !' सेठने पूछा।

'तुम्हारे हृदयमें विज्ञापन की वासना है। प्रेम व्यक्त करनेकी वस्तु नहीं है।

★ ★ ★

● लालसा

गोपियोंने कहा—'प्रियतम आनन्द मुकुन्द ! हमारे हृदयपर हाथ रखो। हमारे सिरपर हाथ रखो। अपने कर-कमलोंकी छत्रछायामें ले लो।' अर्थात् हमारा प्रेम और हमारी बुद्धि ले लो। हम तुमसे ही प्रेम और तुम्हारा ही चिन्तन, अनुध्यान करें। भले ही हमें बार-बार जन्म लेना पड़े, प्रेम तुमसे और चिन्तन तुम्हारा ही हो।

★ ★ ★

श्रीरमण महर्षिसे उनके भक्तोंने अपनी मातासे बोलनेके लिये बहुत आग्रह किया। वे बोले—

'जो हो चुका, उसे मिटाया नहीं जा सकता। और जो होने वाला है, उसे टाला नहीं जा सकता।' (इसलिये बोलनेकी आवश्यकता नहीं है।) कहकर वे मौन हो गये।

★ ★ ★

सार्थक जीवन

जीवनकी पूर्णताके तीन सूत्र—जीवन सादा, विचार उच्च और आनन्द निर्विषय ।

★ ★ ★

जहाँ हमारे संकल्पकी पूर्ति हो, वहाँ ईश्वरका मन अपने मनके अनुकूल होता है; परन्तु जहाँ अपना संकल्प कटता है, वहाँ हमारे मनको ईश्वर अपने मनमें मिलाता है । दूसरी स्थितिमें प्रेम अधिक है ।

अपने मनको गोपी बनाओ । तुम देखोगे कि मनकी सभी वृत्तियाँ गोपियाँ बनकर श्रीकृष्णका अभिसार करनेके लिये दौड़ेंगी ।

★ ★ ★

संसारका समस्त सौन्दर्य एक ओर तथा मनमोहनकी मुस्कान एक ओर; किसे चुनोगे ? मुस्कान सब मटियामेट कर देगी, जगत्का सौन्दर्य फीका पड़ जायगा ।

★ ★ ★

मुस्कान अर्थात् आनन्द । चितवन अर्थात् ज्ञान । भगवान्में दोनों हैं । आनन्द उगलनेका नाम मुस्कराना है । श्रीकृष्णके हासमें ज्ञान और आनन्दका सम्मिश्रण है ।

★ ★ ★

मनोवृत्तिका आकर्षण जबतक ईश्वरकी ओर नहीं होता, तभी तक विषय उसे अपनी ओर खींचते हैं । जब मनोवृत्ति ईश्वराभिमुख हो जाती है, विषय अपने-आप निवृत्त हो जाते हैं ।

★ ★ ★

● दृष्टि ईश्वरपर

एक विद्वान् सज्जन एक महात्मासे दूसरे महात्माकी आलोचना कर रहे थे कि उन्होंने अपने ग्रन्थमें यह अशुद्धि की है, वह अशुद्धि की है, इत्यादि। महात्माने कहा—

'पण्डितजी, आप मेरी ओर देखिये और काग़जपर कुछ लिखिये।' पण्डितजीने पाँच लाइन लिखते-लिखते दस अशुद्धियाँ कर दीं। महात्माने कहा-—'पण्डितजी, तुम मेरी ओर देखते हुए एक लाइनको भी शुद्ध न लिख सके, फिर जो निरन्तर ईश्वरकी ओर देखता है, वह शुद्ध कैसे लिखेगा?'

★ ★ ★

रेडियो वस्तुतः स्वयं नहीं बोलता और न गाता है। कहीं अन्य देश, कालमें वक्ता गाता या बोलता है और रेडियो उसे अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार भगवान् स्वयं ही अपनी लीला, अपने गुण, महापुरुषोंके हृदय प्रदेशमें प्रकट करते हैं। महात्माका शरीर रेडियो है, संगीत तो ईश्वरका ही है।

★ ★ ★

किसी स्टेशनसे गाना सुननेके लिये रेडियोकी सुई उसके मीटरपर लगानी होती है। यदि सुनाई नहीं पड़ता, तो या तो सुई ठीक स्थानपर नहीं लगी अथवा यन्त्र दोषपूर्ण है। इसी प्रकार भगवान्‌का चिन्तन, ध्यान यदि ठीक़-ठीक करना है तो अपने हृदय-रेडियोकी सुई ठीक स्थानपर लगानी होगी। उसमेंसे अभिमान, रागद्वेष आदि त्रुटियोंको मिटाना होगा। चित्तवृत्तिका भगवदाकार होना ही सुईका ठीक स्थानपर लगना है।

★ ★ ★

दुनियांमें क्या कोई ऐसा भी व्यक्ति है, जो तुम्हें सर्वथा दोषमुक्त दीखता हो। यदि हाँ, तो तुम्हारा बेड़ा पार है; क्योंकि तुम्हें गुरु मिल गया और कोई भी दोषमुक्त नहीं दीखता तो भी बेड़ा पार है, क्योंकि तुम्हारी कहीं भी आसक्ति नहीं है।

★ ★ ★

ज्ञानकी सुखात्मक तरंगका नाम ही प्रेम है। यही गाढ होकर जब स्थायीभावको प्राप्त होता है, तब रति कहलाता है। जब मन चंचलता त्यागकर अपने इष्टदेवमें ही रमे, कहींसे भी आकर वहीं ठहरे, उसी स्थिरतामें उसे शान्ति मिले; इसी स्थिरताका नाम रति है।

★ ★ ★

● मन्त्रका अर्थ

मैं वाराणसीमें एक सिद्ध सन्तके दर्शन करने गया। उन्होंने पूछा—'मन्तर (मन्त्र) का अर्थ जानते हो ?'

'नहीं, महाराज ! कृपा करके बतलाइये'—हाथ जोड़कर मैंने कहा। वे बोले--'मन अन्तर मन्तर। जिससे मन अन्तर्मुख हो जाय, जिससे मन तर हो जाय सो मन्त्र।'

★ ★ ★

श्रीकृष्ण स्वयं ही रस, रस्य और रसिक हैं। बाँसुरीमें अपना हार्द रस--अमृत भरते हैं। वंशी वही अमृत गोपियोंके कर्णकुहरोंमें पहुँचाती है। कानोंसे हृदयमें, फिर रोम-रोममें वह व्याप्त होता है। वही अमृत गोपियोंके अधरोंमें आता है और भगवान् अपने उसी अमृतका पुनः पान करते हैं। यह अमृत संसारी नहीं, दिव्य, अलौकिक है। भगवान् तो **'आपै अमृत आप अमृत घट आपै पीवन हारी'** हैं।

★ ★ ★

प्र०—नित्य ही **'तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी'** कहनेसे क्या अपनेमें दैन्य और हीनभाव नहीं आ जाता ?'

उ०—यह दैन्य ईश्वरके सामने है, जगत्‌के सामने नहीं। जो ईश्वरके सामने दीन है, उसकी शरणमें है, संसारकी कोई भी वस्तु उसे प्रलोभन नहीं दे सकती,

झुका नहीं सकती। इससे उसके प्रति दैन्य भी नहीं आ सकता।

★ ★ ★

संसारमें सम्राट् दो ही हैं :—एक वह जिसके हाथमें सब है और दूसरा वह जिसने परब्रह्म परमात्माको जानकर सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका बाधकर अपनेको सबसे एक कर दिया।

★ ★ ★

समाहित अर्थात् समाधानसे युक्त। चाहे कोई कुछ कहे, करे, कुछ हो जाय, अपनी निष्ठामें अडिग, अपने इष्टमें निष्ठा करके बैठ जाना।

★ ★ ★

समाहित अर्थात् समाधिस्थ। जैसे महात्माको समाधि दी जाती है, इसी प्रकार आगे-पीछेकी फिक्र छोड़कर परमात्माके चिन्तन-भजनमें बैठ जाना।

★ ★ ★

प्रश्न—कृष्ण कैसे मिलें ?

उत्तर—यह प्रश्न चौबीस घण्टोंमें तुम्हारे मनमें कितनी बार उठा ? इक्कीस हजार छः सौ श्वास चलते हैं, क्या उतने बार उठा है ? इनका सौवाँ हिस्सा भी उठे तो श्रीकृष्ण-प्राप्तिका उपाय भी मिल जाय। पहले ललक तो हो, तड़प तो हो दिलमें। मचल जाओ कृष्णके लिये। प्रश्न कृष्णका नहीं, धन, मोटर, मकान, भोग-सामग्री, स्त्री-पुत्रादिका उठता है। भूख तो इनकी है।

★ ★ ★

प्र—बाहरका संघर्ष कैसे मिटे ?

उ.—अन्तरका संघर्ष तो मिटाओ। तुम्हारे भीतर जो द्वन्द्व है, उसे शान्त करो। सब कुछ उसीके कारण है।

★ ★ ★

ईश्वरके लिये सच्ची जिज्ञासा, सच्ची ललक, तड़प, व्याकुलता जाग जाय

तो एक चिड़िया भी लक्ष्य प्राप्तिका उपाय बतला देगी ।

★ ★ ★

कौओंको खिलाओ तो कभी तुम्हारे द्वारपर हंस भी आ जायँगे । दीनकी सेवा करो तो दीनबन्धु क्यों न पधारेंगे ?

★ ★ ★

(१) वेदको प्रमाण मानना
(२) ईश्वरको आराध्य मानना
(३) यज्ञ-यागादिको धर्म मानना
(४) मन्त्रवेत्ता, ब्राह्मण आदिको आचार्य मानना और
(५) गंगा स्नानादिको पावन मानना
—यह पाँच बातें वैदिक धर्मके प्राण हैं ।

★ ★ ★

धनके पाँच संविभाग
(१) धर्मके लिये
(२) यशके लिये
(३) धन-वृद्धिके लिये
(४) अपने लिये, और
(५) अपने कुटुम्बियोंके लिये
—यही लोक-परलोक हितकारी मार्ग है ।

★ ★ ★

दुःख उस दिन नहीं आता जिस दिन धन जाता है । वह तो उसी दिन आकर जम जाता है जिस दिन हम बेईमानीके साथ उसे कमाते हैं ।

★ ★ ★

भोगसे योग भी होता है और रोग भी । संयमसे करो तो योग और असंयमसे करो तो रोग ।

धन बांटकर गरीब होनेवाला शोभायमान—उज्ज्वल होता है और धन खोकर गरीब होने वाला दीन-दुःखी होता है।

★ ★ ★

श्रीकृष्णके दर्शनमें बाधा डालनेवाले गोपियोंको प्रिय नहीं और गोपियोंके दर्शनमें बाधा डालनेवाले श्रीकृष्णको प्रिय नहीं। ब्रह्माजीसे श्रीकृष्णने बात तक नहीं की, क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्णसे ग्वाल-बाल, गाय, बछड़ोंका विछोह जो करा दिया था !

★ ★ ★

जो कम भोजन करता है, उसे भोजनमें रस आता है। इसी प्रकार जो कम बोलता है, उसकी वाणीमें रस आ जाता है।

★ ★ ★

अपनी शक्तिसे अधिक जप, ध्यान, प्राणायाम आदि नहीं करना चाहिये। जितना भजन शरीर और मस्तिष्क सह सके, उतना ही करना चाहिये। हठपूर्वक अधिक करनेसे मस्तिष्कमें विकृति हो जाती है। बढ़ाना ही हो तो क्रमशः धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये।

★ ★ ★

मैं शरीर नहीं हूँ, मैं शुद्ध आत्मा हूँ। शरीर—अपवित्र शरीर लेकर परमात्माके राज्यमें प्रवेश कैसे होगा? मैंने शरीरका मोह छोड़ दिया है, तभी तो मैं परमात्माकी सन्निधिका अनुभव कर रहा हूँ।

गुरुकृपा

जैसे शरीरके लिये खिलाने-पिलाने तथा पलंगपर सुलाने आदिकी व्यावहारिक क्रियाएँ आवश्यक हैं उसी प्रकार अपने व्यावहारिक अन्तःकरणको व्यावहारिक परमात्मासे जोड़ो तभी उसकी शुद्धि होगी। परमात्माका व्यावहारिक रूप गुरुदेव ही है।

★ ★ ★

संसारमें संसारी इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले तो बहुत हैं, पर हमारे दिलको संसारी इच्छाओंसे छुड़ानेवाले एक गुरुदेव ही हैं।

★ ★ ★

अध्यापकने ब्लैक बोर्डपर रेखा खींची। कहा—'इसे बिना मिटाये छोटा कर दो।'

स्वामी रामतीर्थ उन दिनों बालक तीर्थराम थे। उठे और उसी रेखाके ऊपर एक बडी रेखा खींच दी और पहली रेखा अपने-आप छोटी हो गयी।

सारी विषय—वासनाओंके ऊपर एक बड़ी वासना श्रीकृष्ण विषयक जोड़ दी। संसार-वासना अपने-आप छोटी हो जायगी।

★ ★ ★

ऐसा समय आता है, जब चित्त-वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं, बाहरकी स्फुरणाएँ बन्द और श्वासकी गति धीमी। बड़ी सावधानीके साथ उस समय परमात्माकी ओर देखो। तुम उनका प्रेम-सङ्गीत सुन सकोगे।

प्रेमामृत

प्रेम मान-अभिमान-सम्मान नहीं सह सकता। परिधिके भीतर रहनेवाला असीमसे नहीं मिल सकता। हनुमान हनुमान इसलिये कहलाये कि उन्होंने मानका हनन कर भगवान्‌का नित्य दास्य स्वीकार किया था।

★ ★ ★

चतुर व्यक्तिसे प्रेम नहीं किया जाता, भोलेसे प्रेम किया जाता है। चतुरसे धोखा खा जानेका डर रहता है और भोलेको तो यह सब आता ही नहीं।

★ ★ ★

प्रेम दीपक है, हृदय मन्दिर है। जब तक दीपक मन्दिरमें जलता रहता है, सुरक्षित रहता है, पर बाहर आते ही या तो डगमगाने लगता है या फिर बुझ ही जाता है। प्रेम भी ऐसा ही है। जब तक हृदयरूपी मन्दिरमें छिपा रहता है,. सुरक्षित रहता है और बढ़ता भी रहता है, पर जहाँ यह जीभ रूपी देहलीसे बाहर निकला कि दुनियाँकी नजर लगी! अतः प्रेमको हमेशा छिपाकर ही रखना चाहिये।

★ ★ ★

ईश्वरके मार्गमें चलनेवालोंको संग्रह-भोगका त्याग, धर्मका लंघन और मोक्षका विलंघन करके अनन्यता करनी पड़ती है। तभी तो कहा है—

यह प्रेमको पंथ करारौ महा तरवारकी धार पै धावनों है!

★ ★ ★

प्रेममें इतनी शक्ति होती है कि वह दोको एक कर देता है, दूरको निकट कर देता है, गुणहीनको गुणवान् बना देता है और प्रेमी और प्रियतम के बीच किसी तरहके भेदभावको नहीं रहने देता।

★ ★ ★

केवल ईश्वरकी जानकारी प्राप्त करनेसे काम नहीं बनता, प्रेम करनेसे

काम बनता है ।

★ ★ ★

प्रेममें बदला चुकाना अच्छा नहीं मानते और चुकाया जा भी नहीं सकता । (सेवाका बदला तो तब चुकाया जा सकता है जब प्रेमी किसी आपत्ति-विपत्तिमें पड़ जाता है—और ऐसा प्रेमी चाह कैसे सकता है ?)

★ ★ ★

कोमल हृदयमें अपने प्रियतमके प्रति जो एकमात्र ममता है—वह प्रेम है ।

★ ★ ★

प्रेमीका सुख, सौन्दर्य, माधुर्य व धर्म साराका सारा प्रियतमको मिल जाय, न कि प्रियतमका उसके पास आ जाय—प्रेमकी कसौटी है ।

★ ★ ★

प्रेम जिससे होता है, उसके चारों ओर प्रेमीका मन उसी तरह मंडराता रहता है, जिस तरह फूलके चारों ओर भंवरे मंडराते रहते हैं । प्रेममें विस्मृतिको कोई स्थान नहीं ।

★ ★ ★

प्रेम वह बिजली है जो बिना तार के ही प्रेमीके मनकी शक्तिको, मनको ले जाकर प्रियतमके सम्मुख रख देता है ।

★ ★ ★

प्रेमका सबसे बड़ा गुण कहो, दोष कहो—उसमें सन्तोष नहीं—'अरबरात मिलिबेको निसिदिन' ।

करते हैं, अपने सिरपर धारण करते हैं। क्यों ? क्या वह बहुत सुन्दर है ? नहीं। मयूरकी बोली कर्कश, पांव लड़खड़ाते हुए और सद्भक्षी भी नहीं; पर राधारानीका सम्बन्ध जो उससे है। वे जो उसे मोर—मेरा कहती हैं, अतः श्रीकृष्ण उस मयूरपिच्छको बड़ा मान देते हैं, बड़े प्रेमसे उसे धारण करते हैं। तो प्रेम जिससे जुड़ता है, उसे सुन्दर बना देता है।

★ ★ ★

जबतक अहं भाव रहता है, अपनी शक्ति रहती है, तबतक श्रीकृष्णका आविर्भाव नहीं होता और जब प्रेमरसकी धारामें सब कुछ बह जाता है, डूब जाता है, तब अपने-आप भगवान् प्रगट हो जाते हैं।

★ ★ ★

धाम, गुणानुवाद, रूप, लीला और सेवा—यह पाँच बातें, भगवत्प्राप्तिकी एक इच्छाके उदय होनेसे, अपने-आप क्रमशः भक्तके जीवनमें आ जाती हैं।

★ ★ ★

'हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुत्तमा'—भगवत्प्रीत्यर्थ अपनी इन्द्रियोंका विनियोजन ही उत्तम भक्ति है। अपनी रूप-सज्जा, अपने गानका, शब्दका प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उपयोग, अपने हाथों द्वारा उनकी सेवा, पैरों द्वारा उनतक यात्रा—अपनी प्रत्येक पवित्र कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियका सर्वथा प्रियतम प्रभुके लिये उपयोग ही उत्तम भक्ति है।

★ ★ ★

नटराज (शङ्करभगवान्) आनन्दमें भरकर आत्मसुखके लिये नाचते हैं और नटवर (श्रीकृष्ण) आनन्दमें भरकर दूसरोंको आनन्दित करनेके लिये नाचते हैं।

★ ★ ★

श्रीकृष्ण-भक्ति फल है और सब साधन। अतः भक्ति जिस किसीसे और

जब मिले ले लेनी चाहिये ।

★ ★ ★

मुक्ति चाहते हो तो जीवनमें इन तीन बातोंको धारण करो –

१. जो कुछ सामने आवें, उसमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव हो ।

२. अपने कर्मका जो भी फल मिले, खुशी खुशी भोग लिया जाय ।

३. अपना दिल, अपनी वाणी, अपना शरीर भगवान्‌के सामने झुका रहे, जैसे कोई मोमका पुतला हो—'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये' ।

★ ★ ★

पहले सेवा करो, फिर प्रेम होगा । मन अशुद्ध रहते हुए भी आचरण शुद्ध रक्खोगे, तो मन शुद्ध होनेकी सम्भावना है, अन्यथा जिन्दगी भर ही अशुद्ध रह जाओगे ।

★ ★ ★

मधुपति कृष्णका मधुवनमें प्रवेश तब होता है जब उसमें—

१. मानसरोवरकी-सी निर्मलता, स्वच्छता रहती है ।

२. सरिताका-सा वेग रहता है ।

३. पर्वतकी-सी स्थिरता, दृढता रहती है ।

४. वेदपाठकी-सी पवित्रता रहती है ।

५. भँवरोंकी-सी आत्मविस्मृति रहती है, और

६. फूलोंकी-सी प्रफुल्लता रहती है ।

प्रीति मधु है और हृदय मधुवन ।

(वेणुगीतान्तर्गत 'कुसुमित वनराजि०' श्लोकका व्याख्यासार)

★ ★ ★

यदि तुम्हारे मनमें कोई इच्छा ही नहीं है तब तो बहुत अच्छा; पर यदि कोई इच्छा है तो उसकी पूर्ति भगवान्‌से करो । भगवान्‌से ही मांग लो । उनसे कैसा संकोच ? स्त्रीको कुछ आवश्यकता होती है तो वह अपने पतिसे ही तो मांगती है, पड़ोसीसे नहीं । भगवान् हमारे परमपति हैं, हमारे हैं । हमें कुछ चाहिये तो उनसे ही मांगना चाहिये ।

—जो भगवान्‌का स्मरण करता है, भगवान् केवल उसका स्मरण ही नहीं करते, बल्कि अपना दिल, अपनी आत्मा—सब कुछ दे डालते हैं।

★ ★ ★

यदि तुम्हें कृष्ण-प्राप्तिकी चाह है तो मन-ही-मन उनसे बातचीत करो और अपने हृदयके भावका गान करो। और यदि तुम्हें संसार प्यारा हो तो भूलकर भी उनकी ओर मत देखो, अन्यथा किसी कामके नहीं रहोगे।

★ ★ ★

अपने स्थूल शरीरकी ओरसे अपनी चित्तवृत्तिको बिल्कुल हटाकर ध्यान करो—संसार तुम्हारे मनमें आ ही नहीं सकता।

★ ★ ★

द्रौपदीको जबतक अपना भरोसा था, भगवान् नहीं मिले और जब उसने अपना भरोसा छोड़कर, सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारा, तो भगवान् उसी क्षण उसकी रक्षाको वस्त्ररूपमें आ गये। बस, पुकार सच्ची हो।

★ ★ ★

भगवान्‌का दुश्मन कौन ?—अभिमानी।
भगवान्‌का प्यारा कौन ?—निरभिमानी!

★ ★ ★

ज्ञान कणिका

बुद्धिका स्वभाव है सत्यका पक्षपात करना । मनुष्यकी मलिन वासनाएँ उसे कुपथपर ले जाती हैं । शास्त्र बुद्धिकी शुद्धिके लिये वासना-शुद्धिपर जोर देते हैं । वे कहते हैं—जितने भी नाम-रूपात्मक पदार्थ हैं, यों तो सब ब्रह्म है; परन्तु मलिन संस्कार और वासनाओंके परिवर्तनके लिये एक नाम-रूपका आधार लेकर संसारके अन्य नाम-रूपोंको छोड़ दे । वासनाकी शुद्धि भगवत्प्राप्तिकी परम मंगलमयी इच्छासे होगी और वह होगी भगवद्‌गुणानुवाद श्रवणसे ।

★ ★ ★

शरीरसे अकेला, मनसे अकेला और ज्ञानसे अकेला ही सच्चा कैवल्य है ।

★ ★ ★

जिसके हृदयमें आनन्दका विकास नहीं होता, उसको संसारसे वैराग्य नहीं होता । और जहाँ इस आन्तर रसकी प्राप्ति हुई कि संसार छूटा ।

★ ★ ★

जहाँ इष्टभेद होता है, वहाँ मतभेद होता है और जहाँ इष्टभेद नहीं होता, वहाँ मतभेद भी नहीं होता ।

★ ★ ★

संसारके समस्त दृश्य प्रपञ्च तथा भावोंमें सबसे अधिक सारहीन पदार्थ सम्बन्धका भाव है । रुपया भले रहे, स्त्री भले रहे; किन्तु इनके साथ जो 'मेरा' पनका सम्बन्ध है, वह तो विचार करनेपर सर्वथा सारहीन है । इस सम्बन्धको पहिले काटना चाहिये ।

★ ★ ★

बन्धन काटनेकी रीति ही यह है कि पहले स्थूल बन्धन काटे जायँ और फिर क्रमशः सूक्ष्मकी ओर बढ़ा जाय। पहिले विषय-वस्तुओंसे सम्बन्ध-मेरापन दूर किया जाय। यह विवेकसे होता है। जो लोग पहिले अविद्या दूर करने चलते हैं, उनकी स्थिति विचित्र बन जाती है। ऐसे साधु जूता तो सी लेंगे, पर भगवान्‌की पूजा नहीं करेंगे। आसक्ति गयी नहीं, राग-द्वेष बना है, मैं-मेरापन छूटा नहीं तो, केवल वाचिक ज्ञानका घोष करनेसे दुःख ही बढ़ता हैं।

★ ★ ★

भगवदर्पित कर्मसे सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, ये तीन प्रकारकी मुक्ति प्राप्ति होती हैं। ज्ञानमिश्रा भक्तिसे सायुज्य मोक्ष मिलता है। कर्म-ज्ञान-निरपेक्ष प्रेमसे भगवत्सेवाकी प्राप्ति होती है और अमिश्र शुद्ध ज्ञानसे कैवल्यकी सिद्धि होती है।

★ ★ ★

गौएँ अनेक रंगोंकी—लाल, सफेद, काली, धौरी, चितकबरी आदि होती हैं; किन्तु उन सबका दूध एक जैसा ही होता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं। ये गौ हैं। इनका दूध—इनसे होनेवाला ज्ञान एक है।

★ ★ ★

इन्द्रियोंके द्वारा विषयका प्रत्यक्ष होनेसे ही कोई संस्कार चित्तमें नहीं बनता। हाथसे हम बहुत कुछ छूते हैं, नेत्रसे तारोंको देखते हैं, कान पता नहीं कितने शब्द सुनते हैं। इनका कोई संस्कार चित्तपर नहीं पड़ता। इन्द्रियजन्य ज्ञानमें बुद्धि जब हेय-उपादेयकी भावनासे जुड़ती है तब उससे संस्कार उत्पन्न होता है।

★ ★ ★

जो लोग दूसरोंको सुनानेके लिये अध्यात्मशास्त्रका अध्ययन करते हैं, उनके हृदयमें अध्यात्मशास्त्रका रहस्य प्रगट नहीं होता। वह उन्हींके हृदयमें प्रगट होता है, जो अपने लिये उसका अध्ययन करते हैं।

सुनानेका सुख राजस सुख है। दूसरोंने बड़े प्रेमसे सुना, श्रोताओंको खूब आनन्द आया। लोग खूब तन्मय हो सुनते रहे। बड़ी प्रशंसा हुई। इस प्रकार वक्तामें जो आनन्द आया, वह राजस सुख है। इससे अहंकार बढ़ा। सात्त्विक आनन्द एकान्तमें अपने अन्तरके भावसे आता है।

★ ★ ★

'साक्षात् पश्यति इति साक्षी', अर्थात् जो साक्षात् देखता है, उसे साक्षी कहते हैं। इन्द्रियादि प्रमाणोंके द्वारा जो देखता है, वह प्रमाता है। इन्द्रियादि प्रमाणोंके बिना देखनेवाला साक्षी है। इसी प्रकार इन्द्रियोंको और वृत्तियोंको भी वह साक्षात् देखता है।

★ ★ ★

आनन्द, ज्ञान और अस्तित्व—ये आत्माके स्वरूप हैं और दुःख, अज्ञान तथा मृत्यु अनात्माके। जैसे जलते दीपककी लौ अग्निका स्वरूप है और धुआँ बत्तीका है।

★ ★ ★

संसारमें कोई भी घटना दुःखका कारण नहीं है। वैराग्यकी न्यूनता ही दुःखकी जननी है। उसकी निवृत्तिका उपाय है—दुःखका चिन्तन न करना—

'भैषज्यमेतदुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।'

★ ★ ★

कर्ता, कर्म और करण तथा भोक्ता, भोगका साधन और फल-भोग—यह छः बातें जीव अज्ञानसे अपनेमें आरोपित करता है।

★ ★ ★

जो कानको दबा दे, वही आँख वास्तविक है। सुने हुए से देखा हुआ प्रामाणिक होता है।

★ ★ ★

ईश्वर सबसे बड़ा नास्तिक है; क्योंकि उसका ईश्वर कोई नहीं। यदि उसका भी कोई ईश्वर हो तो उसका ईश्वरत्व नहीं रहता।

★ ★ ★

मैं हूँ, यह तो सब जानते हैं। मैं द्रष्टा साक्षी हूँ, यह कोई-कोई जानते हैं। मैं ही अपना प्रिय हूँ, यह भी समय-समयपर भान हो जाता है; परन्तु यह सब वेदान्त ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान इन्द्रियोंसे, अनुमानसे या बुद्धिसे हो सकता है, उसके प्रतिपादनमें वेदकी सार्थकता नहीं है। वेदका वेदत्व प्रमाणान्तरसे अज्ञात और अबाधित तत्त्वके निरूपणमें ही है। आत्मा और ब्रह्मकी स्वतःसिद्ध एकताको जानकर अविद्या को मिटा देना वेदान्त है।

★ ★ ★

जहाँ अपना भाग अलग और ईश्वरका भाग अलग, वहाँ भक्ति नहीं है। सब ईश्वरका भाग मान लेना ही भक्ति है।

★ ★ ★

सत्पुरुषको चाहिये कि वह सामनेवाले व्यक्तिकी वह बात स्वीकार कर ले, जिसे स्वीकार करनेमें अपने धर्मकी हानि न होती हो। लोभ, कष्टका भय अथवा अहंकारके कारण ही सामान्य जन दूसरोंकी बात नहीं मानना चाहते; किन्तु सत्पुरुषमें ये दुर्बलताएँ नहीं होती।

★ ★ ★

अधर्मका—पापका कोई काम न किया जाय और वृत्तिको निर्विशेष ज्ञानमें स्थापित किया जाय-साधकके लिये इतना ही पर्याप्त है। फिर मनके निरोध अथवा शुद्धिके लिये और कोई प्रयत्न आवश्यक नहीं है।

★ ★ ★

इच्छा या कामना उठनेमात्रसे तत्त्वज्ञका ज्ञान नष्ट हो गया, ऐसा मानना अज्ञान है। मनमें भय या लोभ आ गया तो इससे ज्ञान नष्ट हो गया, ऐसी धारणा अविवेकी करते हैं। जैसे शरीरमें रोग आते हैं, मनमें भी आते-जाते

हैं। उससे तत्त्वज्ञके ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं आता; क्योंकि उसकी प्रदीप्त ज्ञानाग्निसे उसके शरीर, मन, विकार और उसका कारण अज्ञान भी—सब भस्म हो जाते हैं।

★ ★ ★

भजन-सत्संगका फल यह नहीं है कि व्यापारमें घाटा न हो, स्वजन-सम्बन्धी न मरें, मुकदमेमें हारें नहीं अथवा अयश-अपमान न हो और रोग न आवें। ये सब तो प्रारब्धके अनुसार आवेंगे ही। भजन-सत्संगका फल यह है कि इन विपरीत स्थितियोंके आनेपर भी चित्तमें विक्षेप न हो और अन्तरमें धैर्य, शान्ति बनी रहे।

★ ★ ★

हमारी सबसे बड़ी सिद्धि यह है कि जो कुछ भी होता है, उस सबको 'ओम्' कहते (स्वीकृति देते) चलें। संन्यासीका मन्त्र ही है 'ओम्'।

★ ★ ★

काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वानसाएँ-कामनायें परमात्माने ही बनायी हैं, शैतानने नहीं। हमारे यहाँ एक ही निर्माता है, परमात्मा। उसकी बनाई ये वासनायें व्यर्थ नहीं हैं। सबकी कामनाओंका उपयोग परमात्माकी प्राप्तिमें है। सब उसीके लिये हों।

★ ★ ★

ध्यान किया नहीं जाता, स्वतः होता है। जिसके प्रति तुम्हारा सबसे अधिक मोह है, जिसे तुम सबसे अधिक चाहते हो, उसका ध्यान होता है। यदि तुम्हारा ईश्वरसे मोह नहीं है, तुम उसको नहीं चाहते तो तुम ईश्वरका ध्यान भी नहीं कर सकते। बिना साधनके, बिना अभ्यासके जो वासनाहीन बनते हैं, उनसे ध्यान, भजन, चिन्तन कुछ नहीं होता और उनकी निर्वासनता भी कच्ची ही है।

★ ★ ★

सब वासनाओंमें जो सर्वोत्तम हो उसे पहले सबसे प्रबल करो। उसके प्रबल होनेसे दूसरी वासनाएँ दब जायँगी। फिर उस प्रबल वासनाको भगवान्‌में लगादो। भगवान्‌का चिन्तन-ध्यान जब होने लगेगा, तब लौकिक वासनाओंकी निवृत्ति हो जायगी। यही सच्ची निर्वासनता है

★ ★ ★

सकाम व्यक्तिकी पकड़ दृढ़ होती है और निष्काम व्यक्तिकी ढ़ीली। अतः भगवान्‌के चिन्तनमें सकामता अधिक उपयोगी है। भगवच्चिन्तन जब बढ़ेगा, तब अपने-आप कामनाएँ मिट जायँगी।

★ ★ ★

भगवान्‌का चिन्तन अपनी वासनाके अनुरूप करो। क्रोधी व्यक्तिको प्रलयङ्कर महारुद्रका और कामीको परमसुन्दर त्रिभुवन मोहन रूपका चिन्तन करना चाहिये। आचारनिष्ठ धर्मात्मा, मर्यादापुरुषोत्तमका चिन्तन करे तो उसका मन ठीक लगेगा।

★ ★ ★

जो विषमताएँ तुम्हारे सामने हैं—जिनमें तुम उलझ रहे हो, जिनके बारेमें तुम अनुभव करते हो कि इनकी जटिलता असीम है—वे कुछ नहीं हैं। तुम परमात्माके सनातन अंश हो, उनके स्वरूप हो। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें बाँध सके। तुम स्वतन्त्रतासे—परमात्माकी शक्तिका आश्रय लेकर आगे बढ़ो। सफलता अवश्यम्भावी है।

सद्गुण सबमें है

यह अपना अहंकार ही है कि हम कहीं किसीमें दोष देखते हैं। इसी प्रकार गुण देखना भी अहंकार ही है। किसीके भी गुणका क्या भरोसा ? क्या पता है कि किसमें कब वासना जाग पडेगी ? और जब सबमें सर्वत्र ईश्वर है तो किसीमें भी सद्गुण कभी भी व्यक्त हो सकते हैं।

एक सज्जन नदीके किनारे-किनारे कहीं जा रहे थे। उन्होंने देखा—कगारकी आड़में बैठकर दो स्त्री-पुरुष सुरापान कर रहे हैं और वासनासे सनी गन्दी चेष्टाएँ। वे सोचने लगे—'ये कितने घृणित हैं, नीच हैं। मैं तो इनसे सौ गुना अच्छा हूँ।' इतने ही में क्या देखते हैं कि सामने ही नदीमें एक नाव उलट गयी। नदीकी वेगवती धारामें बहुतसे स्त्री-पुरुष उभ-चुभ गोते खाने लगे। 'बचाओ-बचाओं' के चीत्कारसे वातावरण मुखरित हो गया। शराबी बोतल फेंककर, स्त्रीको एक ओर हटांकर नदीमें कूद पड़ा और डूबते लोगोंको पकड़-पकड़कर किनारे पहुँचाने लगा। वह स्त्री भी उसकी सहायतामें लग गयी। शराबीने तटपर खड़े किंकर्तव्यविमूढ़ सज्जनसे कहा—'हम घृणित हैं, नीच हैं, ठीक है; परन्तु हमारा यह काम तो ठीक है न ? आइये, आप भी हमारे साथ डूबते लोगोंको बचाइये।' वे सज्जन भी जुट गये। उन्होंने अपने मनमें निश्चय किया कि कोई क्रिया देखकर हमेशाके लिये यह निश्चय कर बैठना कि यह नीच है, एक गलत निश्चय है। सबके अन्दर सत्यं शिवं सुन्दरं छिपा है। पता नहीं, कब प्रकट हो जाय।

★ ★ ★

आसन-प्राणायम-धारणा-ध्यानादि योगके साधनोके द्वारा चित्तके चाञ्चल्यकी निवृत्ति होती है; किन्तु राग-द्वेषकी निवृत्ति नहीं होती। राग-द्वेषकी वासना ध्यानके समय भी बीज रूपमें चित्तमें बनी रहती है और ध्यानसे उठने पर जाग जाती है। राग-द्वेषकी निवृत्ति भक्तिसे होती है। भक्तिमें वैराग्य स्वयं निहित है, क्योंकि भगवान्‌से राग हो तो संसारके विषयोंसे वैराग्य अपने-आप हो जायगा।

जीवका पुनर्जन्म या उसे स्वर्ग-नरकादिकी प्राप्ति क्यों होती है ? कर्म-संस्कारके कारण। कर्म-संस्कार क्यों होते हैं ? वासनाके कारण। वासना क्यों होती है ? लौकिक विषयोंमें राग-द्वेष क्यों होते हैं ? देहात्मबुद्धिके कारण। देहात्मबुद्धि क्यों है ? अविद्याके कारण—अपने ब्रह्मस्वरूपको न जानने से। अतः पुनर्जन्मकी निवृत्ति ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे अविद्या-निवृत्ति होनेपर हो जाती है।

★ ★ ★

ज्ञान तो हो, किन्तु वह ज्ञेय पदार्थोंसे न लिया जा रहा हो और ज्ञाता होनेका अभिमान न हो। आनन्द तो हो, परन्तु विषयोंसे न लिया जा रहा हो अर्थात् भोग न हो और भोक्ता होनेका अभिमान न हो—ऐसी अवस्थाका नाम ही ध्यान है। इस अवस्थामें जो ज्ञान और आनन्द है, वह ईश्वरका स्वरूप ही है।

★ ★ ★

मैने कहीं पढ़ा है कि जिस सभामें अपनेसे बड़े अधिक हों, वहाँ उपदेश नहीं देना चाहिये। बड़े लोग सुनते जाते हैं और सोचते भी हैं कि 'यह छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा है।'

★ ★ ★

यह मनुष्य शरीर पुष्प है। माताके गर्भमें पुष्पके भीतर यह पुष्प बना, जैसे मोगरा आदि कई पुष्पोंमें एकके भीतर एक पुष्प होते हैं। उत्पन्न हुआ तो नाल लगा था। पीछे नालसे पृथक् हो गया। इसका हृदय भी कमल ही है। यह ईश्वरका पुष्प खिला रहे, तभी ईश्वरपर चढ़ सकता है। यदि यह मुरझा गया तो फिर मिट्टीमें मिलेगा और पता नहीं फिर कब इसे पुष्प बननेका अवसर प्राप्त होगा। इसलिये सदैव हर्षोत्फुल्ल रहना चाहिये।

★ ★ ★

दुःख, अज्ञान, बुराई और आत्महत्याके लिये युक्ति नहीं ढूंढना चाहिये। इनके निवारणके लिये युक्ति ढूंढना चाहिये।

★ ★ ★

मरना-मारना, दुःखी होना दूसरेको दुःख देना, स्वयं मूर्ख बनना-दूसरेको मूर्ख बनाना, ये छः शैतानके बच्चे हैं। इन्हें अपने घरमें बसाना उचित नहीं है। जो अपना घर छोड़कर पराये घर (संसार) में जाता है, उसे ही ये पकड़ते हैं।

★ ★ ★

● सुखकी कुंजी

एक सच्ची घटना है। एक विद्वान् लेखकको कहींसे पाँच सौ रुपये मिले। उन्होंने अपनी पत्नीको दे दिये। पत्नीको उसकी पड़ोसिनने समझाया 'तुम्हारे पति उड़ा देनेवाले हैं। घरमें रुपया रहेगा तो वे उड़ा डालेंगे। अतः रुपया मेरे पास रख दो।'

उस भोली स्त्रीने रुपया पड़ोसिनके पास रख दिया। उन सज्जनको कुछ दिनों बाद रुपयोंकी आवश्यकता हुई। पत्नीसे माँगे तो उसने पहिले टाल दिया; किन्तु जब उसे समझाया गया कि रुपया ऐसे काममें लगाना है, जिसमें लाभ होना निश्चित है, तब वह पड़ोसिनसे मांगने गयी। पड़ोसिनने पहिले तो समझाना चाहा कि रुपया पतिको मत दो; किन्तु जब स्त्री नहीं मानी, तब कह दिया कि मुझसे वे खर्च हो गये।

इसका तात्पर्य यह है कि अपना सुख यदि तुम दूसरेके घर रखोगे—संसारके वस्तु, व्यक्तिमें तुम्हारा सुख होगा, तो वहाँसे उड़ा दिया जायगा। सुखी तुम तभी रहोगे, जब तुम्हारा सुख तुम्हारे पास रहे।

★ ★ ★

सुख

संसारी सुख चार प्रकारके हैं—विषय सुख, अभिमान सुख, मनोरथ सुख और अभ्यास सुख ।

यह सब सुख तीन-तीन प्रकारके हैं—लोकसुख, परलोक सुख और दिव्य सुख ।

इनकी उपलब्धिके लिये शरीर, विषय, करण, भाव और जीवत्वकी अपेक्षा है । व्यष्टिके लिये समष्टिका अनुग्रह अनिवार्य है । यही कारण है कि ये सब परतन्त्र हैं ।

जीव सुख जन्य है, इसलिये अनित्य है । ब्रह्म सुख सहज हैं, स्वतन्त्र है, निरपेक्ष है । इसलिये वह संसार-सुखसे सर्वथा विलक्षण है ।

संसार सुख परिणाम, ताप, संस्कारकृत दुःख और गुणवृत्ति-विरोधसे ग्रस्त है । ब्रह्म सुख निरामय ।

ब्रह्मसुखमें पाँच बातें नहीं हैं—कारण, कार्य, द्वैत, विरोधी तथा अवान्तर भेद ।

★ ★ ★

धन कमाने, भोग भोगने, कामना करने तथा अभ्यास करनेके लिये धर्मका बन्धन अनिवार्य है । इसके बिना अनियन्त्रित संग्रह, भोग, मनोरथ और अभ्यास गड्ढेमें गिरा देंगे । धर्म देह और बुद्धि दोनोंको संस्कृत करता है—(१) वासनाओंको मर्यादामें लाना तथा (२) देहके अतिरिक्त आत्मा है, यह दर्शन देना ।

★ ★ ★

'मेरा' कटे बिना 'मैं' नहीं कट सकता। जिसका 'मेरा' मिट गया, उसका 'मैं' भी नहीं रहा। वह संन्यास है। 'मैं' के पेटमें कुछ डालोगे, तो तुम्हीं उसपर चढ़ जाओगे। 'मेरी घड़ी, मेरी पुस्तक, मेरा शरीर'—इन सबके अभिमानी हो जाओगे, परिच्छिन्नतामें आबद्ध। धर्म अर्थात् पाप, दोष-दुःखसे निवृत्ति और आत्मदृष्टि।

★ ★ ★

हीरा हीरेको काटता है, इसी प्रकार कल्पनासे कल्पना कटती है। बुरे संकल्प दूर करनेके लिये सत्सङ्कल्प करो। धर्मसे कर्मकी शुद्धि, उपासनासे वासनाओंका शोधन, योगसे चाञ्चल्यकी निवृत्ति, सांख्यसे आत्मानात्म-विवेक और वेदान्तसे अविद्यानिवृत्तिपूर्वक प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न अद्वय स्वरूपका बोध।

★ ★ ★

मन तुम्हारा सेवक है। उसे शुभ कर्मोंकी ओर प्रेरित करो। नौकरसे अनुचित कार्य कराओगे तो वह तुमपर हावी हो जायगा। तुम्हारी अधीनता नहीं मानेगा। इसी प्रकार मनसे गलत काम किये नहीं कि फिर तुम भी उसके हाथ अर्पित हुए, उसके पराधीन हुए। सावधान!

★ ★ ★

मनसे काम लेना बन्द कर दो, जैसे मजदूरोंसे काम न लेनेके लिये मिलकी तालाबन्दी की जाती है, यह योग हो गया। और मनसे मिल सकने वाली सभी चीजें, ठुकरा दो। बस, मनका सारा व्यापार ठप्प हो गया—यह हो गयी समाधि।

★ ★ ★

जब तक मनसे मिल सकने वाले सुखकी वासना है, तभी तक दुःख है। जहाँ उस सुखका त्याग किया कि दुःख मिट गया। समाधि लग गयी, मनोराज्य मिट गया। निर्विकल्पता आ गयी। यही मनका वशीकार है। यह मन्त्र है।

एक महात्माकी एक आँख खराब हो गयी—बड़े दु:खी हुए कि देखनेमें भी कष्ट और लोग भी काना कहेंगे। दूसरे महात्मा आये। वे अन्धे थे, बड़े प्रसन्नचित्त। पूछने पर कहा—'पहले तो दुनियां दीखती थी, वासनाएँ बढ़ती थीं। अब संसार दीखना बन्द हो गया। पहले तो ध्यान करनेके लिये आँख बन्द करनी पड़ती थी। अब सहज ही बन्द हैं, करो दिन-रात ध्यान! है न बड़ा मजा?'

★ ★ ★

घर अपना होनेपर भी, उसमें जैसे पैरोंकी गन्दगी मिटाकर, साफ सुथरे होकर प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार अपने आत्माको जाननेके लिये, इस घरमें घुसनेके लिये चरित्रकी शुद्धि, मनकी पवित्रता और गुरु, शास्त्र और ईश्वरकी कृपा प्राप्त करनी पड़ती है, षट्सम्पत्तिसम्पन्न होना पड़ता है।

★ ★ ★

जब तक शास्त्रकी एक भी बात तुम्हें गलत मालूम पड़ती है, तुम्हारा अनुभव अपूर्ण है। वृत्तियोंको बहिर्मुख करनेवाला, भोगमें प्रवृत्त करनेवाला ज्ञान ज्ञान नहीं है। गुरुदेवके तथा तुम्हारे अनुभवके ऐक्यका नाम ही ज्ञान है। अनुभवकी पूर्णता गुरु, शास्त्र तथा ईश्वरके अनुभवके ऐक्यमें है।

★ ★ ★

ढूँढ़ निकालो कि जगत्की कौन-सी वस्तु इतनी आकर्षक है कि वह तुम्हें परमात्माकी ओर न जाने देकर जगत्में खींच लाती है। एक बार उसे उलट-पलटकर देखो। वह इतनी तुच्छ है कि एकबार विवेककी दृष्टिसे पूर्णत: देख लेनेपर फिर उसका प्रलोभन नहीं रहेगा।

स्वरूप को जानो

पाप करो अथवा आत्महत्या, दण्ड तो मिलेगा ही। सरकार शायद फांसी न भी दे; किन्तु पापसे कैसे छूटोगे ? सूक्ष्म उपाधियोंके संस्कार जो तुम्हारे साथ हैं सदा-सदासे ! परमात्माकी प्राप्ति बिना आवागमनका चक्र चलता रहेगा संस्कार, कर्म, भोगके अनुसार।

पुनर्जन्म नहीं माननेसे भी काम नहीं चलेगा। ऐसा कोई धर्म, मजहब नहीं जो मृत्युके अनन्तर जीवात्माका अस्तित्व न मानता हो। जन्मसे पूर्व जीवका अस्तित्व न मानें ऐसे पन्थ तो हैं, मरनेके पश्चात् भी जीव रहता है- यह सब मानते हैं।

जीवका पुनर्जन्म न होता तो वेदान्तका अध्ययन व्यर्थ था। क्योंकि इसी जन्म-मृत्युके बन्धनसे मुक्त करनेके लिये ही तो वेदान्तकी आवश्यक्ता है। व्यक्तिगत जीवन भोग, उपासना कर्मकाण्ड आदिसे भी सुधरेगा ! परन्तु हमेशा-हमेशाका बन्धन छुड़ायेगा वेदान्त—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

अतः जीवके रूपपर विचार करके स्वरूपको जानो।

★ ★ ★

अनुभव करो—मेरा जीवन रहस्यका जीवन है और उसका स्वरूप है प्रेम। मेरा हृदय अनन्त प्रेमकी क्रीड़ास्थली है। मैं विशुद्ध प्रेम हूँ, मेरे जीवनमें प्रेम विकसित हो रहा है। प्रेम-विशुद्ध प्रेम, जो कि आत्मिक है, जिसमें शारीरिक मोहकी गन्ध भी नहीं है।

चित्रशालाकी महिमा

१. यह संसार एक चित्रशाला है, आर्ट गैलरी ।

२. अनेक प्रकारके चित्र हैं इसमें—शान्त, करुण, अद्‌भुत, वीर, श्रृङ्गाररस प्रधान ।

३. चित्र बडे सुन्दर हैं; परन्तु नाम और रूपके अतिरिक्त कुछ नहीं ।

४. चित्र-भेदके अनुसार मनमें भिन्न-भिन्न भाव और रसका उद्दीपन भी होता है, फलतः हम उन्हें देखकर सुखी या दुःखी होते हैं ।

५. चित्रशालाके चित्रोंका स्पर्श वर्जित है; हम छूना चाहें तो भले छू लें; परन्तु नाम-रूपके सिवा वहाँ कुछ है नहीं । उन्हें छूनेपर मनकी शान्त, करुण आदि स्थितियाँ होकर हम विषाद या आनन्दमें भर सकते हैं ।

६. चित्रशालाके बाहर आनेपर, चित्रके सौन्दर्यपर उसके कलाकौशलपर उसके निर्मातापर दृष्टि जाती है, उसकी हम प्रशंसा करते हैं । वस्तुतः आनन्द चित्रमें नहीं, उसके कला-कौशलसे हुआ और यह कौशल उसके चितेरेका है ।

७. 'इस सृष्टिका चितेरा—चित्रकार-कारीगर परमात्मा है । उसके द्वारा सृष्ट हम प्रत्येक रसका उसकी पूर्णताका अनुभव करते हैं, और उसकी प्रशंसा करते हैं, करनी ही चाहिये ।

८. वह चित्रकारमैं ही हूँ, परमानन्दका समुद्र ।

९. चित्र भी मैं ही हूँ, चित्रकार भी मैं ही हूँ और उसके भिन्न-भिन्न रस (शान्त आदि) भी मैं ही हूँ । रस, रस्य और रसिक भी मैं ही हूँ । अन्यकी सत्ता नहीं है ! तब त्रिपुटी मिट गयी, समाधि लग गयी । वस्तुतः समाधि भी आत्माका विलास मात्र है । अपने अतिरिक्त कोई चीज न थी, न है और न कल्पना की जा सकती है । सच्चिदानन्द घन ।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

भेद कहाँ

मैं उनके लिये रो रहा था, उनकी प्यारी-प्यारी स्मृतिमें अपनेको खोकर। वे आये मन्द-मन्द मुस्कराते हुए। हृदयकी भेंट उनके सामने रखते हुए मैंने कहा—'मैं तुम्हारे लिये।'

वे बोले—'और मैं, मैं तुम्हारे लिये!'

दोनोंने एक-से-ही शब्दोंका प्रयोग किया। तब क्या अर्थमें भेद है? ऐसा कैसे सम्भव है? मेरे शब्दोंकी गम्भीरतामें भेद सम्भव है—उनकी सत्यता तो असन्दिग्ध है।

ऐसी अवस्थामें शेष और शेषीका, भोक्ता और भोग्यका विभाजन कितना निराधार होगा?

इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हारा 'मैं' और मेरा 'मैं'—ऐसा कुछ अलगाव नहीं है। दोनोंका 'मैं' एक ही है। तुम्हारे लिये 'मैं' और मेरे लिये 'तुम' यह दोनों विकल्प मात्र हैं—अर्थशून्य वाग्व्यवहार मात्र।

सुख सभीको इष्ट है। ऐसा सुख जो अविनाशी है, सर्वत्र है, सर्वदा है तथा जिसके लिये किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है, जो पराधीन नहीं है। तब वह सुख अपनेमें ही है। मैं ही सुखरूप हूँ। यही सुख जो अविनाशी, सर्वव्यापक, स्वन्तन्त्र, अनायास, और ज्ञात है, इष्ट है। यही परमेश्वर है। इसे आस्तिक, नास्तिक, कर्मी, विधर्मी—सभी चाहते हैं; क्योंकि मूलतः लक्ष्य सभीका एक है। यह अज्ञात होता है, तब इसका नाम परोक्ष परमेश्वर होता है। वस्तुतः यह अनुभवस्वरूप आत्मा ही है।

★ ★ ★

सत्य सर्वदा सरल होता है। उसमें दाव-पेंच नहीं होते। चेष्टा सत्यकी प्राप्तिके लिये नहीं, असत्यके त्यागके लिये करनी चाहिये।

★ ★ ★

● उपलब्धि ही सुख है

प्र०—सुख इष्ट है या सुखकी उपलब्धि (ज्ञान) ?

उ०—उपलब्धिके अतिरिक्त सुख कुछ नहीं है। उपलब्धि न हो तो सुख क्या ?

प्र०—ठीक है, परन्तु उपलब्धिका विशेष आकार सुख है।

उ०—फिर तो वह नाशवान् और दुःखपरिणामी होगा; क्योंकि आकार एक-से नहीं रहते, बदलते रहते हैं।

प्र०—ऐसा क्यों ?

उ०—तत्त्व नित्य होता है, आकार नहीं। अनुपलब्ध सुखकी सत्ता नहीं है। उपलब्धिमात्र ही सुख है।

प्र०—सुखकी क्षणिकतासे उपलब्धि भी क्षणिक क्यों नहीं ?

उ०—क्षणिकता उपलब्धिका विषय है। इसलिये उपलब्धि अकाल है। आकारगत क्षणिकता उपलब्धिमें आरोपित। उपलब्धि ही सुख है। अकाल ही सत्य है।

प्र०—उपलब्धिमात्र ही सुख है, क्या अभिप्राय ?

उ०—चाहे जिस आकारकी उपलब्धि हो, वह उपलब्धिका परिणाम नहीं, विवर्त्त ही है। इसलिये कोई भी आकार प्रतीत हो अर्थात् सभी आकार तत्त्वतः उपलब्धि स्वरूप ही हैं। उपलब्धि ही सुख है, उसका आकार चाहे सुख हो दुःख हो या और कुछ। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वही तो सुख है। यह भावना नहीं, सत्य है।

★ ★ ★

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

● पसन्दका संसार

प्र०—अनादिकालसे इस संसारको सँवारने सुधारनेका प्रयास चल रहा है। यह कितना सुधर जायगा, तब तुम इसे पसन्द करोगे ?

उ०—संसारका स्वभाव ही सड़ना है, बिगड़ना है। इसे राम, कृष्ण, शङ्कर, रामानुज, बुद्ध, महावीर, गान्धी-सबने सुधारनेका प्रयत्न किया; परन्तु यह अपनी गतिसे बहता जा रहा है। किसीके रोके न रुका, किसीके सँवारे न सँवरा। योगी अरविन्दके अथक प्रयत्नके बाद भी धरतीपर स्वर्ग नहीं उतरा। इसलिये कोई भी मुमुक्षु इसकी दिव्यता पर विश्वास नहीं कर सकता। वह तो दृश्यसे मुक्त होकर अपने द्रष्टा स्वरूपमें, बन्धनसे छूटकर अपने मुक्तस्वरूपमें स्थित होनेके लिये ज्ञान-सम्पादन करेगा। सुधारनेकी चेष्टा सब अपनी-अपनी वासनाके अनुसार करते हैं। काम पूरा नहीं होता, समय पूरा होता है। परमात्मा उसको मिलता है जो इसकी ओरसे आँख बन्द करके उसको पानेके लिये चल पड़ता है। चिन्मात्र ब्रह्ममें गोलोक भी स्फुरण है और धरती भी। स्फुरणमात्रमें बनाने-बिगाड़ने की क्या आवश्यकता ?

★ ★ ★

● मस्ती और निष्ठा

किसीने महात्मासे कहा—'दुनियां बिगड़ रही है, बड़े-बड़े अनर्थ हो रहे हैं और तुम मस्तीमें बैठे रहते हो, कोई फिक्र ही नहीं है, क्या बात है ?'

महात्मा—'सब दीख ही तो रहा है। भक्तके लिये ईश्वरकी लीला है, आत्मनिष्ठके लिये अपनी स्फुरणा है, जिज्ञासुके लिये मायाका खेल-तमाशा है। अरे भाई, सब ब्रह्म ही तो है ! दृगमात्रके सिवाय दृश्यकी सत्ता ही क्या है। तुम दृश्यको रोक रखना चाहते हो और विवेकी होनेका अभिमान भी रखते हो !

★ ★ ★

प्र०—महाराज, क्या आप ब्रह्मनिष्ठ हैं ?

उ०—निष्ठा है वृत्तिकी स्थिरता। वह जीवमें होती है। क्या ब्रह्म निष्ठावान् होता है ? ब्रह्म में निष्ठा कैसी ? ब्रह्म ही है।

★ ★ ★

जिज्ञासु—आप तो जीवन्मुक्त है महाराज ! आपमें बड़ी मस्ती दीखती है।

ज्ञानी—अरे बावरे। मस्ती तो देहवान्का धर्म है। मस्त-बेमस्त जीव होता है। ब्रह्म तो मस्ती-बेमस्तीमें ज्यों-का-त्यों है।

★ ★ ★

● शान्तिका उपाय

कचने सम्पूर्ण शास्त्रोंके स्वाध्याय एवं मीमांसाके अनन्तर पिताके सामने निवेदन किया—'पिताजी, सब जान लिया, परन्तु शान्ति नहीं मिली।'

बृहस्पतिने कहा—'बेटा, त्यागके बिना शान्ति नहीं मिलती।'

और उसने सब कुछ त्याग दिया। केवल कौपीन-कमण्डलु रखकर वर्षों व्यतीत हुए। एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष—त्यागका संकेत मिलनेपर कौपीन-कमण्डलु भी छोड़ दिया। फिर भी शान्ति नहीं मिली। पिताके संकेतपर कि त्याग करो। चिता जलाकर शरीर भस्म करनेके लिये उद्यत हुआ। पिताने हाथ पकड़ लिया, बोले-

'बेटा, जबतक वासनाओंसे भरा चित्त है, उसके प्रति अहंता-ममता है, तबतक देह भस्म करनेसे कुछ न होगा। वासनाके अनुसार देहपर देह मिलते जायँगे। वस्तुतः देहका त्याग त्याग नहीं है, चित्तका त्याग ही त्याग है। चित्त-त्याग ही शान्ति है, चित्त-त्याग ही मुक्ति है।'

कच–'चित्त त्यागकी युक्ति क्या है, पिताजी ?'

बृहस्पति–'अपने आत्माको ब्रह्म जान लेनेसे चित्त, चेत्य और चिति अर्थात् त्रिपुटीका बाध हो जाना ही चित्तका सच्चा त्याग है। फिर तो फुरता हुआ चित्त भी अकिंचित्कर है।'

★ ★ ★

(स्वामीजीके एक पत्रका सार)

'बचपनसे ही मेरा त्याग-पक्षकी ओर झुकाव है। मुझे संसारकी कोई वस्तु इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जँचती, जिसके लिये संघर्ष करना आवश्यक हो। एक अन्तःकरणमें रहनेवाली शान्ति कोटि-कोटि मानव हृदयके लिये शान्तिका उद्गम बन जाती है। यह अवश्य है कि त्याग तपस्याकी अपेक्षा रखता है। जो तपस्वी संयमी नहीं है, वह त्यागी भी नहीं हो सकता। **'चौथेपन नृप कानन जाहीं'** के आदर्शके अनुसार आपको घरपर ही रहकर–बिना किसी संघर्षके लोकहितके लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर देना चाहिये।'

★ ★ ★

● बंधन कहाँ ?

आवरण लक्ष्यपर नहीं है। अपना आत्मा ही अविचारित-अज्ञात होकर आवृत-सा प्रतीत हो रहा है। अज्ञातरूपसे आत्मा ही अन्य-सा, अप्राप्त-सा भासता है। न केवल लक्ष्य स्वतः प्राप्त है, वस्तुतः साधन भी स्वतः प्राप्त ही है। अनन्तता अपना स्वयंसिद्ध स्वरूप है, तो ज्ञान क्या अपना स्वयंसिद्ध स्वरूप नहीं है ? अनित्यता हमें छू नहीं सकती–हम विविक्त हैं। अद्वितीय असङ्गमें राग कहाँ ? हम विरक्त हैं। मन, इन्द्रिय, कर्म, शरीर, अभिमान, मनोराज्य--इनका विषय या आश्रय आत्मा नहीं है। फिर षट्सम्पत्तिकी न्यूनता अपने स्वरूपमें कहाँ ? बन्धन, किसका, किसको और क्या ?

★ ★ ★

निश्चय, निर्णय एवं स्थितिको श्रवण, मनन और निदिध्यासन कहते हैं। पिछले दो पहलेकी अदृढ़ता या प्रतिबन्धको मिटाते हैं। निश्चय अन्य विषयक हो तो प्रवर्तक होता है। स्व विषयक निश्चय साध्यका नहीं, सिद्धका ही होता है। सिद्ध वस्तुका अनिश्चयसे कुछ बिगड़ता नहीं, निश्चयसे बनता नहीं। वह तो ज्यों का त्यों रहता है, केवल सत् हो तो। चित् तो निश्चय अनिश्चयका प्रकाशक है। उसे उनकी आवश्यकता नहीं। आनन्द हो और स्व हो तो निश्चयका कोई प्रयोजन ही न रहा। क्या अपना होना, जानना और प्रियता अपरोक्ष निश्चित नहीं है ?

★ ★ ★

● गिलास साफ कर लो !

ऋषिकेशमें चन्द्रभागा नदीके पारकी झाड़ियोंमें एक तपस्वी सन्त रहते थे। वर्षाके दिन, पहाड़ी नदी, वेगवती धारामेंसे होकर किसी प्रकार वहाँ पहुँचा। वे महात्मा बड़े तपस्वी, आसूर्योदयास्त सूर्यकी ओर मुख करके खड़े रहते थे। तेजस्वी मुखमण्डल, लाल-लाल आँखें। उनके पास जानेको हुआ, तो वे मेरी ओर ढ़ेले चलाने लगे। डरकर मैं वहीं साष्टांग लोट गया। फिर उठा और सहमता हुआ उनके पास पहुँचा। वे प्रसन्न हुए और बोले–

'अपनी बुद्धिमें शुद्ध ज्ञान, शुद्ध बोध रखना हो, तो उसे निर्विषय बनाओ। 'मेरा'पन और 'मैं'पन मिटाओ। गिलासमें मिट्टी भरी हो और उसमें दूध डालो तो वह खराब हो जायगा। पहले गिलास तो साफ करलो। तुम्हारा अन्तःकरण ही वह गिलास है। उसे शुद्ध करलो।'

★ ★ ★

● मोक्ष आत्माका स्वरूप ही है

धर्म चरित्रशुद्धिके द्वारा अन्तःकरण-शुद्धिका हेतु है, इसलिये वह तत्त्वज्ञानमें परम्परा साधन है। शम-दमादि ज्ञानके करण अर्थात् अन्तःकरणके

शोधक हैं, इसलिये बहिरङ्ग साधन हैं। श्रवण-मननादि जीव-पदार्थ अर्थात् ईश्वर और जीवके स्वरूपके शोधक हैं, अत: अन्तरङ्ग साधन हैं। अविद्याकी निवृत्ति केवल तत्त्वज्ञानसे होती है, इसलिये मोक्षका साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान ही है। तत्त्वज्ञानसे अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी निवृत्ति नहीं होती, बल्कि नित्य प्राप्तमें अप्राप्तिका और नित्य निवृत्तमें अनिवृत्तिका जो भ्रम होता है उसकी निवृत्ति होती है। इसलिये मोक्ष अपने आत्माका स्वरूप ही है। अर्थात् आत्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म ही है।

★ ★ ★

अन्न आत्मा नहीं है। विष्ठा और भस्म भी आत्मा नहीं हैं। फिर दोनोंके बीचकी अवस्था देह और इन्द्रियाँ आत्मा कैसे हो सकती हैं? जिसकी पूर्वावस्था आत्मा नहीं है और परावस्था आत्मा नहीं है, वह वस्तु मध्यमें भी अविद्यासे आत्मा मानी हुई है।

★ ★ ★

जैसे एक ही बीज पुआल, भूसी और चावल—तीन रूप धारण करता है, वैसे ही भोजन किया हुआ अन्न विष्ठा, मांस और बुद्धिका रूप ग्रहण करता है। यह सब जड़के विकार हैं, आत्मा नहीं।

★ ★ ★

जैसे मल जब शरीरसे अलग हो जाता है और दोष-बुद्धिसे छोड़ दिया जाता है, तब उसकी निन्दा-स्तुतिसे अपने ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वैसे ही जब विवेकके द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शरीरका परित्याग कर दिया जाता है, तब उनमें बतलाये हुए दोषोंका अपने ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता।

★ ★ ★

जिसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्र एवं अपने शरीरमें एक ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा विद्यमान है, उस विवेकी पुरुषको वैसे ही राग-द्वेष नहीं होता, जैसे अपने शरीरके अङ्गोंमें।

★ ★ ★

तत्त्वज्ञ महापुरुषकी दृष्टिसे न कुछ त्याज्य है और न कुछ ग्राह्य । वह सभीको स्वीकृति देता है और सभीका निषेध करता है; क्योंकि व्यवहारमें प्रपंच फुर रहा है और स्वरूपमें उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है । श्रीसुरेश्वराचार्यने कहा है—

सर्वमेवानुजानाति सर्वमेव निषेधति ।
भेदात्मलाभोऽनुज्ञा स्यान्निषेधोऽतत्स्वभावतः ।

★ ★ ★

इस प्रतीयमान प्रपंचमें मुझसे भिन्न कोई दूसरा आत्मज्ञानी नहीं है और न तो मुझसे भिन्न कोई अज्ञानी ही है । जो अपने कूटस्थ चैतन्य स्वरूपसे बिना परिणामिनी वृत्तिके ही ऐसा अनुभव करता है, वह श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता है । क्या ही श्रेष्ठ वचन है :—

नेहात्मविन्मदन्योऽस्ति न मत्तोऽज्ञोऽस्ति कश्चन ।
इत्यजानन् विजानाति यः स ब्रह्मविदुत्तमः ॥

★ ★ ★

सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपंच अपने स्वयंप्रकाश अधिष्ठानसे अभिन्न ही है । यही कारण है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिका पक्षपात नहीं करता; क्योंकि उसके लिये दोनों अपने स्वरूप ही हैं ।

★ ★ ★

वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि ब्रह्मज्ञान न किसीको बनाता और न बिगाड़ता । वह तो वस्तुतत्त्व जैसा है, वैसा दिखा भर देता है । प्रपञ्च तो अपने-आप ही बाधित हो जाता है । प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रपंचमें हैं; इसलिये बोध हो जानेपर दो ही अपने-आप मर जाती हैं, उनकी ओर दृष्टिपात करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं ।

★ ★ ★

यदि मेरी निन्दा करनेसे किसीको सन्तोष होता है तो यह बिना किसी प्रयत्नके ही उसका अनुग्रह मुझे प्राप्त हो गया; क्योंकि संसारमें लोग दूसरोंके सन्तोषके लिये परिश्रमसे कमाये हुए धनका दान करते हैं। मुझे तो कुछ नहीं करना पड़ा।

★ ★ ★

संसारमें लोग दीन हैं, दुःखी हैं। यदि मुझपर लाञ्छन या कलङ्क लगाकर किसीको क्षणभरके लिये भी हर्ष होता है, तो वह चाहे मेरे सम्मुख और चाहे पीठ-पीछे, चाहे जितना दोषारोपण कर ले, मुझे कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि इस दुःखबहुल जगत्में किसीका क्षणभरके लिये आनन्दित होना भी दुर्लभ है।

★ ★ ★

धन्य है, धन्य क्रोध देव ! तुम्हें पुनः पुनः धन्यवाद है; क्योंकि तुम जिसके मनमें पैदा होते हो, उसको तो देते हो जलन और जिसपर पैदा होते हो, उसको देते हो वैराग्य और अपनी त्रुटियोंका ज्ञान।

★ ★ ★

● मानसके वासी हंस

आकाशमें झुण्डके झुण्ड हंस उड़े आ रहे थे। धरतीपर मांसके टुकड़े खाते हुए चीलोंने देखा। डर गये। अपने-अपने चोंचमें टुकड़े दबाकर भागने लगे। उनका भय और दुःख देखकर हंसोने कहा—'प्यारे भाइयो ! हम मानसरोवरके वासी हैं, कमलका रस पीते हैं, मोती चुगते हैं, नीर-क्षीर-विवेक करते हैं। हम मांस नहीं खाते। तुम स्वस्थ चित्तसे अपना भोजन करो, हम जाते हैं।' हंस अपने पथपर बिना रुके उड़ते रहे।

हंस हैं परमहंस महात्मा ब्रह्मानन्दमें मग्न। चील हैं संसारी विषयासक्त मनुष्य। वे व्यर्थ ही डरते हैं कि यह लोग कहीं हमारा संसारी सुख छीन न ले जायँ ? महात्मा उन्हें निर्भय करके अपने पथ पर चलते रहते हैं।

संन्यास

प्र०—संन्यासका स्वरूप क्या है ?

उ०—सम् अर्थात् विधिपूर्वक्, नि अर्थात् पूर्णरूपसे और आस अर्थात् त्याग कर देना। अथवा ज्ञानपूर्वक सम्पूर्णतया अपने स्वरूप ब्रह्ममें निष्ठावान् हो जाना।

प्र०—संन्यासका क्या प्रयोजन है ?

उ०—अर्थ, धर्म और भोगकी चिन्तासे सर्वथा मुक्त होकर वेदान्तज्ञानके लिये प्रयत्न करना। इससे सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति होकर परमानन्द स्वरूप आत्मा ब्रह्मकी सिद्ध एकताका साक्षात्कार होता है। संन्यास अन्तःकरण शुद्धिका असाधारण साधन है।

प्र०—संन्यासकी विशेषता क्या है ?

उ०—संन्यासमें मुख्यतः यह विधि सम्पन्न की जाती है—

१. अपने जन्म-जन्मके किये हुए सम्पूर्ण पापोंका प्रायश्चित्त।

२. संसारके सम्पूर्ण सम्बन्धोंसे अलगाव।

३. विधिपूर्वक यज्ञोपवीतादि संस्कारके द्वारा स्वीकृत अपने कर्तव्योंका विहित रीतिसे परित्याग। अर्थात् पितृ ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋणसे मुक्त होकर अकर्ता, अभोक्ता आत्माके अनुसन्धानकी ओर अग्रसर होना।

४. विरजा होम अर्थात् निवृत्तिका दृढ़ निश्चय।

५. प्रैषोच्चारण अर्थात् सब प्राणियोंको अभयदानका संकल्प।

इन क्रियाओंसे संन्यासकी विशेषता स्पष्ट है। जैसे कोई विधानके अनुसार कोई पद स्वीकार करे तो उसके ऊपर बहुत-से कर्तव्योंका दायित्व आ जाता है और जब वह विधानके अनुसार त्यागपत्र दे देता है तब उनसे मुक्त हो जाता है। वैसे ही दूसरे आश्रमोंमें जिन कर्तव्योंका पालन न करनेसे पाप लगता है, संन्यास आश्रममें उनके पालनकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि उसने विधानके अनुसार त्याग कर दिया है। जो विधानके विपरीत त्याग करते हैं, उनको त्यागका भी पाप लगता है और अनधिकारी होनेके कारण उन्हें संन्यासका फल अन्तःकरणकी शुद्धि अथवा ब्रह्मलोककी प्राप्तिसे वञ्चित ही रहना पड़ता है।

प्र०—जिसको तत्त्वज्ञान हो गया हो, उसके लिये संन्यासका क्या उपयोग है ?

उ०—ज्ञानसम्प्रदायकी रक्षा। ज्ञानके पूर्व अन्तःकरणशुद्धिके लिये की हुई तपस्याकी स्वाभाविक अनुवृत्ति, बहिर्मुखता, विसंवाद आदि दुर्गुणोंका निवारण, लौकिक दुःखोंकी निवृत्ति एवं निरंकुश तृप्ति ही ज्ञानोत्तर संन्यासका प्रयोजन है।

प्र०—आपको संन्यास लेकर किसी नवीनताका अनुभव हुआ क्या ?

उ०—मुझे किसी नवीनताका अनुभव नहीं हुआ। केवल कपड़े बदल गये, मैं तो ज्योंका-त्यों ही रहा।

प्र०—'मैं संन्यासी हूँ,' यह भाव आपको बना या नहीं ?

उ०—नहीं बना; क्योंकि मेरे चित्तसे 'मैं जीव हूँ' यह कल्पना पहले ही कट चुकी थी, मिट चुकी थी। इसलिये 'मैं मनुष्य हूँ, हिन्दू हूँ, ब्राह्मण हूँ' इन अभिमानोंका पहले ही बाध हो चुका था। इसलिये 'मैं ब्राह्मण हूँ' के स्थानपर 'मैं संन्यासी हूँ' इस अभिमानान्तरकी उत्पत्ति नहीं हुई। यह सब व्यवहार तो अज्ञ दृष्टिसे है। स्व दृष्टिमें अज्ञ, अन्य और व्यवहार भी अपने स्वरूप ही हैं।

प्र०—संन्यासके समय आपको कुछ विलक्षणता मालूम पड़ी ?

उ०—संन्यास ग्रहण करनेवाली रात्रिमें बैठे ही बैठे मैंने स्वप्न देखा कि मैं एक उँचे सिंहासनपर संन्यासीके रूपमें स्थित हूँ और मेरे पिता-पितामह दोनों ओर खड़े होकर वेदमन्त्रोंका उच्चारण करके मेरा अभिषेक कर रहे हैं। उन्होंने अत्यन्त प्रसादपूर्ण मुद्रामें मेरे संन्यासका अभिनन्दन किया।

प्र०—संन्यासी कौन है ?

उ०—जिसकी प्रदीप्त अन्तर्दृष्टिकी अग्निज्वालामें स्थान, व्यक्ति और वस्तुका मोह भस्म हो गया है।

प्र०—महन्त कौन है ?

उ०—जो लौकिक सम्पत्तियों अर्थात् मठ, सिंहासन, विद्या, धन, शिष्यसंख्या आदिके द्वारा अपनेमें महत्ताका आरोप करे सो महन्त।

प्र०—सन्त कौन है ?

उ०—जो अपनेमें किसी भी कारणसे किसी विशेषताका आरोप न करके निर्विशेष सन्मात्र ब्रह्मसे एक अनुभव करे सो सन्त। दत्तात्रेय, ऋषभदेव, जड़भरत, ऋभु, निदाघ, शुकदेव, वामदेव आदि सन्त हैं।

★ ★ ★

प्रपन्न प्रार्थना

संसारसागरान्नाथौ मित्रपुत्रगृहाकुलात् ।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ ॥ १ ॥

मेरे प्यारे स्वामी ! युगलकिशोर ! मित्र, पुत्र और गृहसम्बन्धी तरङ्गोंसे आकुल-व्याकुल इस संसार-सागरसे आप ही दोनों मेरी रक्षा कर सकते हैं; क्योंकि आप प्रपन्न जनताके भय-भञ्जन हैं ।

योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिह लोके परत्र च ।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम् ॥ २ ॥

मैं जो कुछ हूँ और इस लोक तथा परलोकमें मेरा जो कुछ है, वह सब आज मैं आपके चरणोंमें समर्पित करता हूँ । वह पहलेसे भी आपका ही था, भ्रमवश मैंने अपना मान रखा था । अब ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा ।

अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः ।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः ॥ ३ ॥

मैं अपराधोंका निवासस्थान हूँ । मैंने साधन सब छोड़ दिये हैं । न मुझे मार्गको ज्ञान है और न चलनेकी शक्ति । इसलिये मेरे प्यारे युगल सरकार केवल आप ही दोनों मेरे साधन, साध्य एवं आश्रय हैं ।

तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा ।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम ॥ ४ ॥

हृदयेश्वर, राधिकारमण ! मैं कर्मसे, मनसे, वाणीसे आपका ही हूँ । कृष्ण प्रिये ! स्वामिनि श्री राधारानी ! मैं आपका ही हूँ । आप ही दोनों मेरे गति,

पति, मति एवं रतिके एकमात्र आश्रय हैं ।

शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि ॥ ५ ॥

हे राशि-राशि करुणाके निधान ! मैं आप दोनोंकी शरणमें आया हूँ । यद्यपि दुष्ट हूँ, अनधिकारी हूँ, तथापि आप अपने कोमल स्वभावसे ही मुझपर प्रसन्न हों और प्रसादके रूपमें मुझे अपना दास्य (सेवा) दान करें ।

इत्येवं जपतां नित्यं स्थातव्यं पद्यपञ्चकम् ।
अचिरादेव तद्दास्यमिमिच्छता मुनिसत्तम ॥ ६ ॥

शिवजी कहते हैं कि हे नारद ! जो व्यक्ति शीघ्रसे शीघ्र युगल सरकारके दास्य अथवा सेवाका इच्छुक हो, उसे प्रतिदिन इन पाँच पद्योंका भावना सहित जप करते रहना चाहिये दीर्घ काल तक । इससे उसका मनोरथ सिद्ध होता है ।

—पद्मपुराण, पातालखण्ड

★ ★ ★

निश्चल भावसे विश्वासके साथ मनको आज्ञा दो—रे मन, तू मेरा सेवक हूँ। मेरी सत्ता और चेतनासे तेरा जीवन है। तू मेरी एक स्वीकृतिमात्र है। मेरी आज्ञा मान और जैसे मैं चाहूँ वैसे रह। इधर-उधर किया तो मैं तुझे नष्ट कर दूँगा।

सेतु सामगान

(महाराजश्रीके द्वारा अनुदित)

हाउ ३ सेतूंस्तर दुस्तरान् ३ दानेनादानं हाउ ३ ।
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्या ३ ॥ १ ॥

मेरे प्यारे मित्र ! तुम्हारे जीवनकी सफलताके मार्गमें चार बड़ी-बड़ी रुकावटें हैं । इनसे पार जाना बहुत कठिन है; परन्तु तुम इस पवित्र भावना और ज्ञानके बलपर इन्हें पार कर लो । पहली रुकावट है अदान, संग्रह, परिग्रह, लोभ । इसपर दानके द्वारा विजय प्राप्त करो । तुम यह भावना करो, निश्चय करो कि 'मैं सत्यकी प्रथम सन्तान, वेदोक्त ऋतका सर्वश्रेष्ठ पुत्र हिरण्यगर्भ हूँ । मैं सम्पूर्ण सम्पत्तियोंका, वैभवोंका स्वयं कोष हूँ । मुझे बाह्य सम्पत्तियोंकी क्या आवश्यकता है ?' अवश्य ही तुम इस प्रकार अपनी कृपणतापर विजय प्राप्त करोगे ।

हाउ ३ सेतूंस्तर दुस्तरान् ३ अक्रोधेन क्रोधं हाउ ३ ।
पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभा इ हाउ ३ ॥ २ ॥

मेरे प्यारे मित्र ! सचमुच यह बड़े कठोर प्रतिबन्ध हैं । ये तुम्हारे जीवनकी पूर्णतामें बाधक हैं । इन चारोंपर विजय प्राप्त करो ! दूसरा प्रतिबन्ध है— क्रोध । सचमुच इस जैसा सुख-शान्तिका विरोधी और कोई नहीं है । अक्रोधके द्वारा इसपर विजय प्राप्त करो । अपराधीके प्रति भी क्षमा, सबके प्रति प्रेम- यही अक्रोध है । तुम इस भावना और निश्चयको आत्मसात् कर लो कि 'मैं सम्पूर्ण देवताओंसे और मन, इन्द्रियोंसे पूर्ववर्ती हूँ, अन्तरङ्ग हूँ, सबका साक्षी हूँ । मैं अमृतस्वरूपका ब्रह्मका केन्द्र हूँ, नाभि हूँ, क्रोध मुझे स्पर्श भी नहीं कर सकता ।' इस भावना और निश्चयसे अवश्य ही तुम क्रोधका विरोध कर सकोगे ।

सेतूंस्तर दुस्तरान् हाउ ३ श्रद्धया अश्रद्धां हाउ ३ ।
यो मा ददाति स ३ देवभावाः हाउ ३ ॥ ३ ॥

मेरे प्यारे मित्र ! वस्तुतः तुम्हारे चारों और बड़े ही परिश्रमसे पार करने योग्य कुछ प्रतिबन्धक दीवारें बन गयी हैं। उन्हें तुम अपने स्वरूपके ज्ञानसे पार करो। तीसरा प्रतिबन्ध है अश्रद्धा। तुम वेद, शास्त्र और गुरुके वचनोंपर श्रद्धा नहीं कर पाते हो। यह एक बड़ा प्रतिबन्ध है। श्रद्धाके द्वारा इसे जीत लो। तुम अपनेको इस भावना और निश्चयसे परिपूर्ण कर लो कि 'जो परमेश्वर मुझे देता है, वही मुझसे अभिन्न रूपमें प्रकट हो गया है। मैं वही हूँ। परोक्ष अपरोक्ष हो गया है। सब मेरा स्वरूप है।' ऐसी भावना और निश्चयसे अश्रद्धापर विजय प्राप्त होती है।

सेतूंस्तर दुस्तरान् हाउ ३ सत्येनानृतं हाउ ३ ।
अहमन्नमहमन्नमदन्तमाद्मि ३ हाउ ३ ॥ ४ ॥

मेरे प्यारे मित्र ! यद्यपि यह कठिन काम है, फिर भी तुम्हें करना पड़ेगा; क्योंकि यह तुम्हारे मनके बनाये हुए अत्यन्त संकीर्ण घेरे हैं। चौथा प्रतिबन्ध है अनृत। अनृत क्या है—वेदप्रतिपाद्य सत्यसे विपरीत प्रतीयमान नाम-रूपात्मक प्रपञ्च। सचमुच यह सत्य अधिष्ठानमें मिथ्या ही भासमान है। सत्यके द्वारा इस असत्यपर विजय प्राप्त कर लो। सत्य, यथार्थ, दर्शन, श्रवण, भाषण और धर्माचरणके द्वारा अनृतका तिरस्कार करके अपने-आपको सत्य ब्रह्मके रूपमें अनुभव करो—'यह जो भोक्ताभोग्यरूप प्रपञ्च है, सो मैं ही हूँ। मैं ही भोग्य हूँ ! मैं ही भोक्ता हूँ। मैं इस प्रपञ्चमें भोक्ता बने हुए अग्नि आदिका भी भोक्ता हूँ। वस्तुतः न मुझमें भोक्ता है न भोग्य !' यह दृष्टि प्रपञ्च-भ्रान्ति और प्रपञ्चासक्तिको भस्म कर देती है। तुम इस निश्चयमें स्थित हो जाओ।

वा एषा मतिः एतदमृतं स्वर्गच्छ ज्योतिर्गच्छ
सेतूंस्तीर्त्वा चतुरः ॥ ५ ॥

मेरे प्रिय मित्र ! तुम्हारे लक्ष्यकी प्राप्तिमें, सत्यके साक्षात्कारमें केवल यह चार प्रतिबन्धक, रूकावटें या दीवारें है । आत्मशक्तिके विकाससे तुम इन चारोंपर विजय प्राप्त करके इन्हें पार कर लो । यही तुम्हारे लिये सत्यका मार्ग है । यही परमानन्दका अविनाशी अमृत है । तुम्हें परमानन्दका अनुभव हो । तुम्हें स्वयंप्रकाश अखण्ड ज़्योति प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार हो । यही मेरी प्रेरणा है । यही मेरे शुभाशीर्वाद है ।

(सामवेद संहिता)

★ ★ ★

ध्यान रहे—जो कुछ तुम देख रहे हो, यह परमात्माका ही स्वरूप है। तुम्हारे हृदयकी मलिनता, अभक्ति अथवा, भ्रान्तिसे ही यह भिन्न रूपमें भास रहा है। इसलिए क्रियाकी तो बात ही क्या, सङ्कल्पसे भी किसीका तिरस्कार मत करो। जो तुम्हारे सामने आवे, उससे इस प्रकारका व्यवहार करो मानो परमात्मा ही तुम्हारे सामने वेष बदलकर आये हों।

साधनाके बढ़ते चरण

तुम संसारमें किसीसे राग और किसीसे द्वेष मत करो। सबसे समान प्रेम करो; क्योंकि इस समतामें ही भगवत्प्रेमका उदय होता है।

★ ★ ★

सूक्ष्म दृष्टिसे अपने हृदयकी ओर देखो। कहीं उसमें ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण तो नहीं छिपे हैं? समझ लो कि संसारके किसी भी प्राणीसे जिसका ईर्ष्या-द्वेष है, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। तुम पूरी शक्तिसे उसे निकाल फेंको।

★ ★ ★

तुम जब किसीके दोषोंका चिन्तन करते हो तो उसकी अपेक्षा अपनी ही हानि अधिक करते हो; क्योंकि चिन्तन ही तो चित्त है। तुम्हारा चित्त यदि दोषोंका चिन्तन करेगा तो दोषमय हो जायगा। इसलिये दूसरोंकी तो क्या बात, अपने दोषोंका चिन्तन भी खतरेसे खाली नहीं है। तुम अपने दोषोंका चिन्तन न करके उन्हें तत्क्षण छोड़ दो।

★ ★ ★

आत्मनिरीक्षणका यह एक बहुत सरल मार्ग है। तुम देखो कि तुम्हारा चित्त दोषोंपर जाता है या गुणोंपर? सभी वस्तुएँ अपने केन्द्रकी ओर आकर्षित होती हैं। यदि तुम्हारा चित्त दोषोंकी ओर आकर्षित होता है तो यह इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि तुम्हारे चित्तमें अभी दोष-ही-दोष भरे हुए हैं। तुम्हारा चित्त गुण-ही-गुण देखे, यह कितना उत्तम है?

★ ★ ★

जब तुम दूसरोंके सम्बन्धमें कोई धारणा बनाते हो, तब कितने अन्धकारमें रहते हो—इसका तुम्हें बिल्कुल पता नहीं रहता; क्योंकि अभी तो तुमने अपने मनको ही कभी प्रत्यक्षरूपसे नहीं देखा है—जो कि तुम्हारा मापदण्ड है। इस

अज्ञात मनके जालमें फँसकर कोई धारणा बनाओगे तो व्यर्थ ही राग-द्वेषके शिकार हो जाओगे। सावधान रहो, यह कहीं तुम्हें उलझा न दे !

★ ★ ★

यदि तुम्हारा चित्त केवल परमात्माके या उनके गुणोंके चिन्तनमें ही नहीं लगता तो तुम्हारी दृष्टिमें जो आदर्श पुरुष हो, उसका और उसके गुणोंका चिन्तन करो। भावना करो—कितना मस्त हो रहा है उसका चित्त ! जहाँ जाता है—घासपातमें, तिनकेमें, सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन करके मुग्ध हो जाता है। तुम भी मुग्ध हो जाओ !

★ ★ ★

जो व्यक्ति अपने सामने खड़ा है—अभी जिससे तुम व्यवहार कर रहे हो, उसके हृदयमें नारायण हैं। कहीं वही यह वेश धारण करके न आये हों ! खूब सावधान रहो—कहीं प्रमाद न हो जाय !

★ ★ ★

जो काम इस समय तुम कर रहे हो, उसकी पवित्रता और उत्तमताके सम्बन्धमें तुम्हारी क्या धारणा है ? यह सचमुच पवित्र और उत्तम तो तब है यदि तुम इसे भगवान्‌के लिये, उनकी प्रसन्नताके लिये कर रहे हो।

★ ★ ★

कर्म यदि भगवान्‌के उद्देश्यसे हो, तब तो भगवान्‌के स्मरणमें कोई बाधा पड़ ही नहीं सकती। यदि कर्मके साथ तुम इतने आसक्त हो कि उसके लिये भगवान्‌का स्मरण तक छोड़ बैठते हो, तो अवश्य कहीं-न-कहीं तुम्हारा स्वार्थ है। इस स्वार्थको ढूँढकर तुम यदि प्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पित कर सको तो आज ही तुम्हारा जीवन धन्य हो जाय।

★ ★ ★

मनपर निगाह न रखनेके कारण ही तुम्हारे मार्गमें बहुत-सी कठिनाइयाँ आती हैं। उसके बारेमें तुम्हारा ज्ञान और ध्यान कम है। वह तुम्हारा सेवक

है । तुम्हारी आज्ञा और अनुमतिके बिना वह कुछ नहीं कर सकता । एक बार तुम उसपर अपना अधिकार कर लो, फिर तो वह निरन्तर तुम्हारे सामनें सेवकके रूपमें हाथ जोड़े खड़ा रहेगा ।

★ ★ ★

यह जो मनकी चञ्चलताकी कठिनाई है—वह साधन प्रारम्भ होनेके पूर्वकी ही है । जिस समय तुम साधन प्रारम्भ करोगे, उसी समय यह तुम्हारे वशमें हो जायगा; क्योंकि अन्तर्मुख होना ही साधन है ।

★ ★ ★

बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धमें तुम्हारा ज्ञान चाहे जितना बड़ा हो, वह पर्याप्त नहीं है; परन्तु भीतरके सम्बन्धमें तुम्हारा थोड़ा-सा ज्ञान भी अत्यन्त महान् है । क्योंकि उसका बिना किसी बाह्य उपकरणोंके तुम अनुभव कर सकते हो ।

★ ★ ★

आकाशकी विशालता और गम्भीरताको एक बार अपने हृदयमें स्थापित करो । फिर देखो कि यह ब्रह्माण्ड, यह पृथिवी, ये घटनाएँ और विचित्रताएँ तुम्हारे लिये कितनी हलकी हैं ! उस समय तुम्हारा हृदय भगवान्‌का सिंहासन हो जायगा । तुम उन्हें देख सकोगे ।

★ ★ ★

भगवान्‌की इच्छापर सर्वथा निर्भर हो जाना अथवा उनके लिये व्याकुल हो जाना—भगवत्प्राप्तिके बस, दो ही उपाय हैं । तुम विचार करो—दोनोंमें से कौन-सा उपाय तुमने अपनाया है ?

व्याकुलताका मार्ग निरापद् है, यदि सच्ची व्याकुलता हो । निर्भरताके मार्गमें कोई विघ्न नहीं है, यदि स्वार्थ-परमार्थ सबके लिये समान निर्भरता हो । तुम दोनोंकी परीक्षा करके देख लो । यदि इनमें से कोई एक भी तुम्हारे जीवनमें उतर रहा है तो तुम्हें कोई भय नहीं है ।

तुम्हारे चित्तमें किन-किन बातोंका भय है ? धन-हानि, मान-हानि, विपत्ति, रोग, शोक आदिका भय तभीतक तुम्हारे चित्तमें है जबतक तुम उस एक परमात्माका भय नहीं करते। एकसे डरोगे तो सब भय छूट जायँगे। उससे निडर हो जाओगे तो भयकी परम्परा कभी टूट ही नहीं सकती। तुम केवल उससे डरो। उसीके सामने सच्चे रहो। सच्ची बात तो यह है कि तुम परमात्मासे भी डरो मत, प्रेम करो। उससे बढ़कर प्रेमपात्र और कौन होगा ?

★ ★ ★

एक बार अपनी कामनाओं—इच्छाओंकी निगरानी करो। तुम स्वार्थ और परमार्थ, भोग और मोक्ष एक साथ चाहते हो ? सम्भव है ऐसा ही हो; परन्तु तुम्हारे चित्तमें जो परमार्थप्राप्तिकी उत्कट इच्छाका अभाव है, वह तो तुम्हारी दुर्बलता ही है। उसे निकालनेके लिये तत्पर हो जाओ !

★ ★ ★

भगवान्‌की कृपा, शक्ति और आश्रयसे कुछ भी असाध्य या असम्भव नहीं है। तुम उनके चिन्तन-स्मरणमें लगे रहो। निश्चय ही तुम्हें वे वस्तुएँ—वे दिव्यताएँ प्राप्त होंगी, जिनके सम्बन्धमें कभी तुम कोई कल्पना ही नहीं कर सकते।

★ ★ ★

जब तुम अपनेको अरक्षित समझते हो, तभी तो भयभीत होते हो। क्या तुम्हारा कोई रक्षक नहीं है ? क्या तुम्हारे सिरपर किसीका हाथ नहीं है ? तब तो तुम वास्तवमें दुःखी हो। आओ, भगवान्‌के करकमलोंकी छत्रछायामें निर्भय हो जाओ ! यहाँ शान्ति और सुखका अक्षय सदावर्त्त चलता रहता है।

★ ★ ★

विश्वास करो, केवल भगवान्‌का विश्वास करो। संसारका विश्वास करोगे तो धोखा खाओगे। भगवान्-सा विश्वासपात्र जब तुम्हें सुलभ है, तो क्यों दर-दर मारे-मारे फिर रहे हो ?

★ ★ ★

देखो, तुम्हारे अन्दर-बाहर चारों ओर अमृतकी, शान्तिकी धारा प्रवाहित हो रही है। उसपर आँख जमते ही तुम लोकोत्तर शीतलताका अनुभव करोगे।

★ ★ ★

पवित्र देखो, पवित्र सुनो और पवित्र बोलो। तुम्हारा कोई भी काम अपवित्र न हो। तुम्हारा हृदय पवित्र हो जायगा तब तुम देख सकोगे कि परमात्मा कितना पवित्र है और वह कितने पवित्र हृदयमें प्रकट होता है!

★ ★ ★

तुम्हारी साधनाकी पूर्णता तुम्हारी सचाईमें है। प्रार्थनाके समय तो तुम कह देते हो—मैंने अपना सर्वस्व और अहङ्कार भी समर्पित कर दिया; परन्तु क्या व्यवहारमें तुम इस बातकी स्मृति भी रख पाते हो? तुम भगवान्‌के प्रति सच्चे बनो। सब समय अपना हृदय उनके सामने खुला रहने दो।

★ ★ ★

तुम अपना हृदय परमात्माके सामने रख दो। उनसे कहो भगवन्, यह तुम्हारी वस्तु है। इसमें तुम्हीं रहो। इसमें केवल अपना ही प्रकाश होने दो। अनुभव करो—मेरा हृदय भगवान्‌के प्रकाशसे पूर्ण हो रहा है।

★ ★ ★

भगवान् ही एकमात्र सत्य हैं। और सब सत्यताएँ तो उनकी इच्छामात्र हैं—इस विचारसे अपने हृदयको भर दो और सर्वत्र, सब रूपोंमें उसी एक सत्ताका अनुभव करो।

★ ★ ★

परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। प्रत्येक वृत्तिका प्रत्येक ज्ञान परमात्माका ज्ञान है। परमात्मा जब जिस ज्ञानका रूप धारण करके आवें, तब उसी रूपमें उन्हें पहचान लेना साधनाकी उत्तम स्थिति है। तुम अनुभव करो—मेरे हृद्देशस्थित परमात्मा मेरी प्रत्येक वृत्ति और संकल्पके साथ प्रकट हो रहे हैं। मैं परमात्मा

का स्पर्श प्राप्त कर रहा हूँ।

★ ★ ★

यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दस्वरूप प्रभुकी लीलामात्र है। इसके प्रत्येक रूपमें उसी आनन्दकी अनन्त धारा प्रवाहित हो रही है। मैं उसी आनन्दके प्रवाहमें स्थित हूँ। मैं इस महान् आनन्दके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ।

★ ★ ★

शुद्ध हृदयसे सच्ची प्रार्थना निकलती है। प्रत्येक प्रार्थना सीधे प्रभुतक पहुँचती है। तुम प्रभुसे प्रार्थना करो, वे अवश्य पूर्ण करेंगे। तुम जिस रूपमें चाहोगे, उसी रूपमें वे तुम्हारे सामने आयँगे। प्रार्थना करो, केवल प्रार्थना करो।

★ ★ ★

तुम भगवान्‌को माता, पिता, पुत्र-मित्र, स्वामी और पति—जिस रूपमें प्राप्त करना चाहते हो, उसी रूपमें उनकी भावना करो। वे तुम्हारे सब कुछ हैं। वे तुम्हें सब रूपोंमें मिल सकते हैं।

★ ★ ★

समस्त दुर्बलताओंको त्यागकर पूर्ण उत्साहके साथ भगवान्‌की ओर बढ़ो। वे तुम्हारे मार्गके सब विघ्नोंको दूर करके तुम्हें अपने पास खींच लेंगे। जब वे देखेंगे कि तुम अब आगे बढ़नेमें असमर्थ हो तो वे तुम्हारे पास आ जायँगे। तुम सब परिस्थितियोंमें उनकी कृपाको ढूँढ निकालो और उसीका अनुभव करते रहो।

★ ★ ★

भगवान्‌के साथ जागो और उन्हींके साथ सोओ। उन्हींके साथ चलो और उन्हींके साथ बैठो। तुम्हारे जीवनकी प्रत्येक क्रिया, तुम्हारा प्रत्येक सङ्कल्प भगवान्‌के साथ ही हो। इस मधुरतम भावनासे—जो कि परम सत्य है, तुम्हारा जीवन सत्य, ज्ञान और आनन्दका भंडार हो जायगा। तुम सर्वदाके लिये परमात्माको प्राप्त कर लोगे।

तुम्हारे पास खजाना है

एक युवक था उदास और निराश। विषण्ण एवं किंकर्तव्यविमूढ। संयोगवश उसे एक दिन किसी महात्माके दर्शन हुए। उसने ईश्वरको कोसते हुए कहा—'ईश्वरने मुझे कुछ नहीं दिया। जो था, वह भी छीन लिया। न घर है न परिवार। न धन, न सम्बन्धी। न खेत, न रेत, मरनेके सिवा और कोई चारा ही नहीं है।'

महात्माका कोमल हृदय करुणासे पिघल गया। उसके भोलेपन पर तरस खाकर बोले—'अभी तुम्हारे पास ईश्वरकी दी हुई बहुत बड़ी सम्पत्ति है, खजानोंका खजाना है। तुम उसे बेच दो तो सब काम बन जायगा।'

युवक—'मेरे पास तो कुछ भी नहीं है।'

महात्मा—'तुम्हारे पास बहुत कुछ है।'

उन्होंने उसे समझाया—'तुम कल आना। एक सेठके हाथ तुम्हारी सब सम्पत्तिका क्रय-विक्रय कर देंगे।'

दूसरे दिन समयपर युवक आया। महात्माजीने कहा—'तुम्हारे पैरोंकी कीमत दस हजार रुपये। बोलो, देते हो ?'

युवक—'राम राम ! पाँवके बिना कैसे रहूँगा ?'

महात्मा—'अच्छा, हाथका मूल्य बीस हजार ! देते हो ?'

युवक—'ना।'

महात्मा—'आँखकी पचास हजार। देते हो ?'

युवक–'ना ।'

महात्मा–'अच्छा, सिरका मूल्य एक लाख रुपये। बेचते हो ?'

युवक–'महात्माजी, आप भी अच्छी बात करते हैं । जब सिर ही बिक जायगा तब रुपये किसके काम आयँगे ?'

महात्मा–'मेरे भोले भाई ! जब तुम्हारे पास इतनी मूल्यवान् वस्तुएँ और यन्त्र विद्यमान हैं जिन्हें तुम लाखोमें भी नहीं बेच सकते हो, तब झूठ-मूठ ईश्वरको क्यों कोसते हो ? इन वस्तुओं और उपकरणोंका यदि ठीक-ठीक उपयोग करो तो इस संसारमें ऐसा कौन-सा काम है जो नहीं हो सकता ? ऐसी कौन-सी वस्तु है जो नहीं मिल सकती ? इनसे तो ईश्वरको प्राप्त किया जा सकता है, औरोंकी तो बात ही क्या ?'

युवक पूरी शक्तिसे अपने कर्तव्यके पालनमें संलग्न हो गया ।

★ ★ ★

जो पर सत्य है—काल जिसका स्पर्श नहीं कर सकता, जो परम पवित्र है—किसी प्रकारकी मलिनतासे जो अछूता है, जो परम ज्ञानमय है—अज्ञानका लेश भी जिसमें नहीं है, वह तत्त्व जो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है, चारों ओर फैला हुआ है—जीवके रूपमें, जगत्के रूपमें वही प्रकट हो रहा है, मैं उसीमें डूब-उतरा रहा हूँ।

युगलका सामरस्य

स्वामिनि, रसकी खानि, हृदय की रानी राधा ।
रोम-रोम में रमीं, यहाँ क्यों व्यापे बाधा ?
चिर सुन्दर, सुकुमार, प्यार के रस में भोरी ।
ओ मुकुन्द आनन्द-कन्द की मधुमय जोरी !
मैं क्यों वन-वन फिरूं, तुम्हारी चितवन अटका ?
मन मधुकर है मौन, तुम्हारी लट में लटका ।
रूप-रसिक लोचन-बछड़े तृण से ऊबे हैं ।
छक-छक पीएं सुधा मधुरता में डूबे हैं ।
प्राण-प्राण से मिलें, मुदित हो आएं जाएं ।
होते कभी न तृप्त, तृषा के स्वयं रचाए ।
हृदय-हृदय का मिलन बीच में रहा न दूजा ।
स्वामी किसका, कौन स्वामिनी, कैसी पूजा ?
फेंक दिया नवनीत प्रिये ! मधुपायी बनकर ।
भुज-बन्धन में बांध, बंधाया, वंशी तजकर ।
ईश्वरता के रंग तुम्हारा पदतल रंगकर,
मुक्ति निछावर बांट, मत्त हूं तुम में मिलकर ।
ओ मुकुन्द-आनन्द, अरे मतवारे प्यारे !
ओ राधा के प्राण, अरे ओ हृदय हमारे !
जागो-जागो, मिलो-मिलो, बस रटो, हटो मत !
रटो न, चुप-चुप, एक-एक हां एक एक रत !

★ ★ ★

प्रसंगोंमें सूक्तियां

(सिन्धी सत्संग मण्डल, वृन्दावनके सौजन्यसे)

एक बार श्रीमहाराजजीसे बात हो रही थी, तभी किसी व्यक्तिने कहा--'आम जनता मन्दिरोंके उत्सवकी भीड़भाड़में बहुत जाती है, पर मुझे भीड़में जाना नहीं रुचता। मैं तो एकान्तमें बैठकर भजन करना अधिक श्रेष्ठ मानता हूँ।'

श्रीमहाराजजीने कहा—'भैया ! तुम तो केवल दो तोलेकी जीभको ही प्रभुकी सेवामें लगाते हो और वे दो मनके शरीरको ले जाकर प्रभुकी सेवामें उपस्थित होते हैं।'

यह सुनकर वह बिल्कुल नम्र हो गया।

★ ★ ★

एक बार हम श्रीमहाराजजीके पास बैठे थे। उसी समय किसीने उनके हाथमें एक पुस्तक दी और उसकी भूलें शुद्ध कर देनेकी प्रार्थना की। श्रीमहाराजजीने कहा—'मुझे किसीकी गलती नजर नहीं आती; क्योंकि ईश्वरकी बनायी सृष्टिमें कहीं दुःख व दोष नहीं है।'

★ ★ ★

एक बार सत्संग हो रहा था। एक व्यक्तिके बारेमें किसीने महाराजश्रीसे कहा—'उसे तो उच्छिष्ट-अनुच्छिष्टका कोई विचार भी नहीं है।' महाराजश्रीने उत्तर दिया—'वह अपने भावमें मग्न हमेशा जगन्नाथपुरीमें रहता है और वहाँ इस बातका कोई विचार नहीं माना जाता।'

★ ★ ★

एक बार श्रीमहाराजजी श्रीसांई साहबके साथ बैठे थे। तभी श्रीमहाराजजीके पास एक पागल प्रेमी आया और उनके पास ही तख्तपर

बैठकर और उनके कन्धेपर हाथ रखकर उनको प्यार करने लगा। सेवकोंने उसे ऐसा करनेसे रोक दिया। श्रीसाईं साहबने (उसके जानेपर) कहा—'ऐसे आदमीसे भय रखना चाहिये। इनकी मनोवृत्तिका क्या ठिकाना ?' श्रीमहाराजजीने मुस्कराते हुए कहा—'मुझे प्रसन्नता हो रही थी कि कोई तो हमारा आशिक हुआ।'

किसीका भी दोष देखना असलमें आपके स्वभावमें ही नहीं है।

★ ★ ★

एक बार श्रीमहाराजजीके सामने किसीने नास्तिकोंकी निन्दा की। किसीकी निन्दा सुनना इनके स्वभावके विरुद्ध है। उन्होंने बीचमें ही किन्तु बड़े प्रेमसे कहा—'भैया, नास्तिक भी भगवान्‌के वैसे ही हितैषी होते हैं, जैसे किसी बड़े आदमीका सेवक अपने मालिकका। इसे यों समझना चाहिये कि जैसे मालिकको विश्राम करते देखकर सेवक आगन्तुकसे कह देता है कि मालिक घरमें नहीं है, वैसे ही नास्तिक भी—'भगवान् नहीं है,' यह कहकर उनके नित्य-निकुंज-विहारमें बाधा नहीं पड़ने देता। और फिर नास्तिक भी तो भगवान्‌की ही सृष्टिमें हैं। भला गर्भस्थ शिशुकी किसी भी क्रियासे मां नाराज होती है ? भगवान् भी किसी नास्तिकसे नाराज नहीं होते।'

★ ★ ★

एक दिन किसी स्त्रीने श्रीमहाराजजीसे प्रार्थना कर कहा—'आशीर्वाद दीजिये कि भगवान् श्रीकृष्णमें मेरी दृढ़ भक्ति हो।' श्रीमहाराजजीने कहा—'बस ! तुम इसी तरह, जड़-चेतन जो भी तुम्हारे सामने आये, उसे प्रणाम कर श्रीकृष्ण-भक्तिकी याचना करती रहो, तुम्हें शीघ्र ही उसकी प्राप्ति हो जायगी।' फिर मुझसे कहा—'इस लालसाका दृढ़ होना ही तो भक्ति है।'

★ ★ ★

किसी भक्तने श्रीमहाराजजीसे प्रश्न किया—'अनन्य भक्त कौन ?' श्रीमहाराजजीने उत्तर दिया—'जो आठों पहर अन्तर्मुख रहता हो।' इसपर श्रीसाइँ साहबने कहा—'ऐसा भजन तो आप ही करते हैं।' श्रीमहाराजजीने

कहा–'मैं भजन नहीं करता, बल्कि भगवान् ही मेरा भजन करते हैं। उनका अनुग्रह देखकर ही मेरा हृदय आनन्दसे गद्गद रहता है। बात असलमें यह है कि जीवमें तो उनके भजन करनेकी शक्ति ही नहीं है। जो कुछ होता है, उनकी दयासे ही होता है।'

★ ★ ★

एक दिन श्रीमहाराजजीने कहा–'बचपनसे ही व्यवहारकी बातें दिमागमें गाँठ-सी लगती थीं। इसपर (श्रीमहाराजजीकी) माताजीने कहा–'यहाँ श्रीमहाराजजी (श्री उड़िया बाबाजी) के पास भी तो व्यवहारकी ही बातें करते हैं, सुनते हैं।'

श्रीमहाराजजीने उत्तर दिया–'वहांके व्यवहारमें बन्धन था जो यहाँ नहीं है।'

★ ★ ★

एक बार श्रीसांई साहबके पास बैठकर श्रीमहाराजजी किसीको पत्र लिख रहे थे। श्रीसांई साहबको विनोद सूझा। बीच-बीचमें वे उनके हाथको हिला देते। हाथ हिलनेसे अक्षर बिगड़ जाते थे, पर श्रीमहाराजजीने मन्द मुस्कानके साथ पत्र लिखना जारी ही रखा। बादमें सेवकोंसे श्रीसांई साहबने कहा–'जान पड़ता है, क्रोध इन्हें छू तक नहीं गया। मैंने तो कभी भी इनको क्रोध करते नहीं देखा।'

★ ★ ★

एक बार यह प्रसंग चल रहा था कि भगवान् सर्वत्र हैं और सबमें हैं। मुझे कुछ जिज्ञासा हुई, मैंने पूछा–'आप उसें कैसे देखते हैं।'

श्रीमहाराजजीने कहा–'जैसे तुम्हें देख रहे हैं।'

★ ★ ★

एक बार किसीने श्रीमहाराजजी से 'वाहगुरु'का अर्थ पूछा।

श्रीमहाराजजीने उत्तर दिया–'मुझे ठीक तो नहीं मालूम; पर फिर भी मेरी समझके अनुसार–जो सेवक (शिष्य) के भारका वहन करे वह 'वाहगुरु'। जैसे भक्तोंके योगक्षेमका वहन भगवान् करते हैं, वैसे ही अपने सेवकोंके कल्याणका वहन गुरु करते हैं।'

★ ★ ★

एक बार श्रीमहाराजजी रेल-यात्रा कर रहे थे। और यात्री भी थे डब्बेमें। एक ने व्यंगपूर्वक कहा–'साधु लोग हमारे देशके लिये भार ही हैं; क्योंकि कुछ काम-काज तो करते नहीं सिर्फ आराम करते हैं।' इसपर श्रीमहाराजजीने सरलतासे कहा–'भाई, जो काम कोई नहीं कर सकता, वह साधु करता है।' उसने पूछा–'वह कैसे ?' श्रीमहाराजजी–'तुम स्वयं अपने परिवारके एक भी व्यक्तिके विचारको ठीक नहीं कर सकते, जब कि साधु लोग हजारों-लाखोंके विचारोंको ठीक कर देते हैं। उनको सन्मार्ग दिखाते हैं।' और फिर हँसते हुए कहा–'और कुछ करते हों या न करते हों, सरकारकी परिवार-नियोजन योजना में पूर्ण सहयोग तो देते ही हैं।' पूछनेवाला भी यह सुनकर हँस पड़ा।

★ ★ ★

किसीने श्रीमहाराजजीसे पूछा–'आपकी आयु कितनी ?'

श्रीमहाराजजी–'डेढ़ वर्ष।'

'वह–'सो कैसे ?'

श्रीमहाराजजी–'संन्यास लेनेके पश्चात् नया जन्म हुआ है और उसे अभी डेढ़ ही वर्ष हुए हैं।'

(यह बात सन् १९४३ की है।)

★ ★ ★

किसीने श्रीमहाराजजीसे पूछा–'आप बार-बार बम्बई क्यों जाते हैं ?'

श्रीमहाराजजी–'वृन्दावनको बड़ा करनेके लिये ।'

भक्त–'क्या मतलब ?'

श्रीमहाराजजी–'मतलब यह मेरे भाई, कि वहाँ जाकर लोगोंसे वृन्दावनकी, श्रीकृष्ण-भक्तिकी चर्चा करता हूँ जिससे वहाँके लोग वृन्दावनके प्रेमी बनते और यहाँ आते हैं । और फिर बम्बई भी तो समुद्रतटपर ही स्थित है, जो भगवान्‌की ससुराल है ।'

★ ★ ★

एक बार श्रीमहाराजजी बम्बईसे वृन्दावन आये । आनेके कुछ ही देर बाद आनन्दवृन्दावन चले गये और वहाँ नलके नीचे नहाने बैठ गये । जब नहाते देर हो गयी तब मैंने हाथ जोड़ कर प्रार्थनाकी–'बहुत मत नहाइये, रातमें यहाँ ठण्ड पड़ती है ।' श्रीमहाराजजीने उत्तर दिया–'मैं तो भूल ही गया था कि मैं नहा रहा हूँ । मन तो कहीं और था ।' इसपर दादाजीने पूछा–'क्या बम्बईकी याद आ रही थी ?' श्रीमहाराजजीने कहा–'नहीं भाई, बम्बई छूटी कि छूटी । एक बार जहाँसे आ जाता हूँ फिर मुझे वहाँकी याद नहीं आती । मैं तो अपने इष्टदेवके ध्यानमें मग्न था ।'

★ ★ ★

एक बार मंत्र-दीक्षा पर चर्चा हो रही थी । श्रीमहाराजजी भी उपस्थित थे । एक ने उनसे पूछा–'जब शास्त्रोंमें मन्त्र व उनकी विधि लिखी हुई है तब दीक्षा लेने की आवश्यकता क्यों होती है । श्रीमहाराजजीने कहा–'शास्त्रोंमें मन्त्र हैं, सो तो ठीक, पर उसके मालिक उसके हकदार सिर्फ सन्त-महात्मा ही हैं, न कि शास्त्र । अतः जब वे कृपा कर उसे दें तभी उसे लेना चाहिये और तभी वह अपने लिये उपयोगी सिद्ध हो सकेगा । जैसे, कहीं पड़ी मुहरोंकी थैली हमारी नहीं हो सकती, हम उसे अपने पास सुरक्षित नहीं रख सकते, पर यदि उसका मालिक अपनी मर्जीके अनुसार हमें दे देता है तो हम उसके अधिकारी

हो जाते हैं और उसे उपयोगमें भी ला सकते हैं, ठीक ऐसा ही मन्त्र-दीक्षाके सम्बन्धमें है ।'

★ ★ ★

एक बार श्रीमहाराजजी श्रीसाइँ साहब द्वारा रचित–'श्रीकोकिल-कलरव'का अनुवाद लिखवा रहे थे । लिखवाते समय उन्होंने देखा–१३४ वें के बाद १४५वां श्लोक है । बीचके १० श्लोक नहीं हैं । उन्होंने कहा–'इससे तुम यह मत समझना कि श्रीसाइँ साहब ने संख्या लिखनेमें भूल कर दी होगी, बल्कि इससे यह समझना चाहिये कि उन्होंने १० श्लोक गुप्त रक्खे हैं ।' फिर कहा–'महापुरुषोंके किसी भी काममें दोष देखना अपराध है ।'

★ ★ ★

एक बार कोई साधु जनकपुरसे वृन्दावन आये । श्रीमहाराजजीने उनसे वहाँके समाचार पूछे । साधुने कहा–'है तो सब ठीक, पर वहाँके साधुओंमें कथा-सत्संग प्रचलित नहीं है । सब मन्दिरोंके अपने खेत हैं और सब साधु हल चलाते हैं ।' श्रीमहाराजजीने कहा–'श्रीजनकजी महाराजको हल चलानेसे ही जानकीजीकी प्राप्ति हुई थी न, इसीलिये वे लोग भी अपनी साधना 'हल चलानेमें ही मानते हैं ।'

★ ★ ★

एक बार आश्रममें श्रीमहाराजजी कथा कर रहे थे । प्रसंगके अनुरूप एक दृष्टान्त भी सुनाया । वह पूरा हुआ कि तभी एक व्यक्ति वहाँ और आया । उसे देखकर श्रीमहाराजजीने कहा–'इसीने मुझे यह दृष्टान्त सुनाया था ।' इतनी बड़ी सभामें, सरलतासे दूसरेको महत्त्व देते देख मन ही मन प्रशंसा करते हुए उसने कहा–'यह इनके ही अनुरूप है । दूसरा कोई ऐसा नहीं कर सकता ।'

★ ★ ★

एक बार श्रीमहाराजजी जबलपुर गये । वहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया । स्वर्ण-छत्र व चमरसे सुसज्जित संवारी भी निकाली गयी । लौटने पर श्रीसाईं साहबने उनसे पूछा–'जिस समय आपकी सवारी निकाली गयी थी,

उस समय आपके मनकी स्थिति कैसी थी ?' श्रीमहाराजजीने उत्तर दिया—'ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे देवीपर बलि चढ़ानेके लिए अजापुत्र ले जाया जा रहा हो ।'

★ ★ ★

जबलपुरमें जब श्रीमहाराजजी रहते थे, सभी धर्मोंके लोग श्रीमहाराजजीसे मिलने आते । आर्यसमाजी भी आते । उन्होंने एक बार मूर्ति-पूजाके सम्बन्धमें वाद-विवाद करना शुरू किया । श्रीमहाराजजीने कहा—'देखो, जिन बातोंमें हमारा मतभेद है, उनको तो छोड़ो, क्योंकि न तुम हमारी मानोगे और न हम तुम्हारी, जिसमें हमारा-तुम्हारा मतैक्य हो, वही बातें करो व पूछो ।' इतना सुनने पर सबका सिर श्रद्धासे झुक गया ।

★ ★ ★

भगवान् प्रेमपरवश हैं—उनकी मूर्ति कृपामयी हैं। ये मातासे भी अधिक दयालु हैं। अनादिकालसे अपनी गोदमें रखकर उन्होंने सारे जगत्को, जीवोंको और मुझे खिलाया है। एक क्षणके लिये भी उन्होंने मुझे अपनेसे अलग नहीं किया। जब-जब मैंने अपराध किया है, उनके सामने ही और उनके देखते-देखते ही; परन्तु उन्होंने उसपर ध्यान न देकर अपनी कृपाकी पराकाष्ठा कर दी है—मैं तो वहा जा रहा हूँ उनकी कृपाके समुद्रमें।

नदिया एक घाट बहुतेरे

एक राजाके मनमें यह संकल्प था कि जो संसारका सर्वोच्च पन्थ होगा, उसे मैं स्वीकार करूँगा। पन्थाई लोग आते और परस्पर लड़ते, एक-दूसरेका दोष बतलाते और अपना-सा मुँह लेकर लौट जाते। वर्षों बीत गये।

उनके राज्यके बाहर एक सच्चे सन्त रहते थे। यह सब जान-सुनकर उनका हृदय दयासे पिघल गया। उन्होंने स्वयं राजाके पास आकर कहा—'मैं तुम्हें सर्वोच्च पन्थका निश्चय करा दूँगा।' राजाने कहा—'बड़ी कृपा! मैं उसके लिए बहुत व्याकुल हूँ।'

सन्तने कहा—'परन्तु, राजन्! इस कामके लिये आपको नदीके दूसरे पार चलना पड़ेगा और उसके लिये अपने राज्यकी सर्वश्रेष्ठ नाव मँगानी पड़ेगी।'

राजाने कहा—'यह क्या कठिन है।'

दूसरे दिन हजारों नावोंमें से छाँटकर बीस-पच्चीस नावें मँगा ली गयीं। सन्तने सबका निरीक्षण-परीक्षण किया। सबमें कोई न कोई दोष। किसीमें कील काली तो किसीकी लकडी खराब, किसीमें कोई दाग लगा—अभिप्राय यह कि सन्तने सभी नावोंमें कोई न कोई दोष बता दिया। राजाने कहा—'महात्मन्! हमें केवल एक छोटी-सी नदी पार करनी है इस कामके लिये इन नावोंमें से कोई भी पर्याप्त है। फिर आप विलम्ब क्यों कर रहे हैं?'

सन्त—'राजन्! यही तो मैं कहना चाहता हूँ। यह मायाका बना संसार झूठ-मूठका जादूका खेल। इसको पार करनेके लिये कोई भी पन्थ पर्याप्त है। आप अपने जीवनके एक भी अमूल्य क्षणको संशयकी अवस्थामें क्यों खो रहे हैं? किसी भी पन्थसे आगे बढ़िये। छोटी-छोटी पगडंडियाँ भी महापथ पर पहुँचा देती हैं और मनुष्य अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाते हैं। चल पड़ो! नदिया एक घाट बहुतेरे।

गुरु

जिस बातको हम अपनी इन्द्रियोंसे मनसे और बुद्धिसे नहीं समझ सकते; उस बातको अनुभव करानेके लिये ही गुरु और शास्त्रकी आवश्यकता है। परमात्मा इन्द्रियोंके द्वारा देखा नहीं जा सकता, मनके द्वारा उसका ध्यान नहीं हो सकता और बुद्धिके आकलनमें वह कभी आ नहीं सकता—ऐसे मन-वाणी और बुद्धिके अविषय अखण्ड अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वकी आत्मरूपसे अनुभूति करा देना एकमात्र गुरुका ही चमत्कार पूर्ण अद्‌भुत कार्य है।

★ ★ ★

श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होनेके साथ ही यदि कोई निवृत्ति-परायण भी हो, तो ऐसे शान्त महात्माओंके द्वारा प्रवचन उपदेश किये बिना भी बहुत बड़ा लोक-कल्याण होता है; क्योंकि ऐसे शान्त महापुरुषोंका जीवन ही लोगोंको अद्‌भुत सन्देश देता है।

★ ★ ★

गुरुके अनुभवसे शिष्यमें अन्तर्मुखता, ज्ञानसे बुद्धिका विवेक और शान्तिसे जीवनमें त्याग, वैराग्यका उदय होता है। इसलिये जिस किसीको गुरु नहीं बनाना चाहिये। मिट्टीका घड़ा भी ठोंक-बजाकर ही खरीदा जाता है।

★ ★ ★

एक महात्माने कहा—तुम मेरे शिष्य हो, मैं तुम्हारा गुरु, चाहे तुम मानो या न मानो। अब मैंने तुम्हें पकड़ लिया, छोड़ नहीं सकता। जबतक तुम्हारी मुक्ति नहीं होती, मैं भी मुक्त नहीं होऊँगा।

★ ★ ★

माता, पिता और गुरुका प्रेम निःस्वार्थ होता है, अहैतुक होता है।

★ ★ ★

बिना गुरुकी सहायताके आत्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं। शुकदेवजीने श्रीकृष्णको गोपियोंका गुरु बतलाया है। यों तो श्रीकृष्णसे गोपियोंका घनिष्ठ प्रेम था; परन्तु गोपियोंको स्वरूप-दर्शन तभी हुआ जब श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रमें उन्हें ज्ञानोपदेश किया।

★ ★ ★

जब गुरुकी समझ और सद्‌भावना पर पूर्ण विश्वास हो और उनकी रुचि और आज्ञाके अनुसार जीवन बिताना इष्ट हो तभी गुरुके सान्निध्यमें रहनेसे शिष्यका जीवन सार्थक होता है।

★ ★ ★

जो अपनेसे अधिक बुद्धिमान्, अपना हितैषी और विश्वासपात्र किसी दूसरेको नहीं समझता उसके समान असहाय और दीन-हीन और कौन हो सकता है? ऐसे अभिमानी पुरुष दूसरेके अनुभवसे कभी लाभ नहीं उठा सकते और हमेशा निगुरे ही रहते हैं।

★ ★ ★

ब्रह्मका व्यावहारिक रूप महात्मा है और महात्माका पारमार्थिक रूप ब्रह्म।

★ ★ ★

ब्रह्म तो सब है कीट-पतंग, चोर और वैश्या सभी; किन्तु इस बातकी अनुभूति सन्त-सद्‌गुरुके कृपापात्र किसी विरले **जिज्ञासुको ही होती है।**

★ ★ ★

सच्चा गुरु वह है जो इस सम्पूर्ण विश्वको आत्मस्वरूप अनुभव करता है। ऐसे गुरुदेवके दर्शन, स्मरणमात्रसे हृदय पवित्र हो जाता है और सत्संग हो जाय तब तो अज्ञानकी निवृत्ति होकर परमानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वका साक्षात्कार ही हो जाता है।

संस्कृतमें गुरु शब्दका अनेक अर्थोंमेंसे एक अर्थ है—डाँटनेवाला। जो चेले पर गुर्राय, डाँट फटकार कर अपने शिष्यको गलत मार्ग पर जानेसे रोके सो गुरु।

★ ★ ★

'ब्रह्मज्ञान होनेसे जिसके सारे अभिमान निवृत्त हो चुके हैं, जिसका व्यक्तिगत जीवन भक्तिभावसे भरपूर है एवं जिसका चरित्र धर्मानुष्ठानसे निर्मल और उज्ज्वल है, जिसके सान्निध्य आलाप और स्मरणसे लोगोंके जीवनमें पवित्रता, सद्भावना तथा उत्साहकी स्फूर्ति होती है, उसको महात्मा कहते हैं।'

★ ★ ★

'जिसको व्यवहारमें सत्यसे प्रेम नहीं है, वह सत्यका जिज्ञासु भी नहीं हो सकता। जिसको व्यवहारके लिये सत्य भाषण, सदाचरण आदिके रूपमें सत्यकी आवश्यकता होती है, उसे ही सत्यकी जिज्ञासा होती है और अनुभव होता है। सत्य अविनाशी तो है ही, पूर्ण एवं अद्वितीय चेतन भी है। इसीके नाम हैं—ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा। उसीका व्यावहारिक रूप है महात्मा।'

★ ★ ★

परमार्थके मार्ग पर चलाने वाले गुरुदेव केवल संस्कार कराने वाले ही नहीं होते; वे तो सारे संस्कारों को निकालकर अनारोपिताकार निर्विशेष सत्यतत्त्वका बोध कराते हैं।

★ ★ ★

नर्मदाजीके सब पत्थर शिवलिंग हैं, परन्तु मनुष्य नर्मदा जाकर न तो सब पत्थरोंकी पूजा कर सकता है और न ही अपने घरमें लाकर उनकी प्रतिष्ठा कर सकता है। वह तो अपने कल्याणके लिये उनमेंसे एक 'प्राईवेट पत्थर' उठाकर उसकी पूजा करता है। इसी प्रकार सन्त हजारों हैं; परन्तु अपने कल्याणके लिये एक 'प्राईवेट सन्त' अर्थात् सद्गुरु बनाना आवश्यक है।

★ ★ ★

बुद्धि उलट दें

किसी नावपर यात्रा करते हुए गुण्डोंने महात्माजीकी चाँद चिकनी देखकर जूते लगाना शुरू कर दिया।

आकाशवाणी हुई—'महात्मा जी, आप कहो तो नाव उलट दें।'

महात्माने गद्‌गद् स्वरमें कहा—'परमेश्वर ! मेरे प्यारे प्रभु ! आप कुछ उलटनेकी ही लीला करना चाहते हैं तो इनकी बुद्धि उलट दें, नाव उलटने से क्या होगा ?

★ ★ ★

श्रीकृष्णके परम पुरुष होनेका निश्चय होनेपर वसुदेवकी वाणी खुल गयी। पीताम्बरधारी, नीलपयोदसुभग नारायणका दर्शन करनेपर उनका सिर झुक गया अर्थात् अभिमान चला गया। वे कहते हैं—मैंने तुम्हें पहचान लिया, तुम तो प्रकृतिके परे पुरुष हो। सोचा था कि बेटा होगा—किन्तु निकले नारायण। प्रथम नजरमें मैंने तुम्हें बेटा रूपमें देखा।

सद्गुण-सदाचार

अभिमान रखकर याचना नहीं की जा सकती। बिना छोटा बने, हाथ नीचा किये माँगना नहीं बनता। इसीलिये बलिके यहाँ भगवान् वामन बने, बौने बनकर आये। पहले भगवान् दिलमें छोटे रूपमें आते हैं, फिर बड़े बनकर छा जाते हैं। वामन अर्थात् बहुत सुन्दर। हृदयमें भगवान्‌का बहुत ही सुन्दर रूप बसता है।

★ ★ ★

एक महात्मासे किसीने कहा—'महाराज! आप बड़े हैं, उच्चासन पर विराजमान हैं, लोग आपकी पूजा करते हैं।' महात्मा बोले—'भैया, मुझमें तो बड़प्पनका अभिमान है, इसलिये ऊँचा बैठा हूँ। जो नीचे बैठे हैं, वे कितने नम्र और विनयी हैं! मुझे ऊपर बिठानेवाला, पूजा देनेवाला भी कितना विनयी है, आदर दे रहा है! अभिमानमें विनय नहीं होती।

★ ★ ★

जरूरतमन्दको कुछ देना भक्ति नहीं, दया है। ईश्वरकी वस्तु ईश्वरको देनेकी भावना, कर्तव्य मानकर देना ही भक्ति है। लेने वालेको आवश्यकता है, ऐसा नहीं, हमसे दिये बिना रहा नहीं जाता—यह वृत्ति सर्वोत्तम है। दानका पात्र हीन नहीं है, श्रीकृष्णस्वरूप है, पूज्य है, इसलिये श्रीकृष्णार्पण करो। श्रीकृष्णकी राजसूय यज्ञमें इसीलिये पूजा की गयी थी कि उन्होंने सर्वात्मभावसे छोटे से छोटा काम किया।

★ ★ ★

हिंसा, जुआ, शराब और परस्त्रीसे बचे तो कलियुगका प्रभाव नहीं पड़ता।

★ ★ ★

ना करके हाँ करना ठीक, परन्तु हाँ करके ना करना अच्छा नहीं। यह

मंत्र मुझे बाल्यावस्थामें अपने ग्रामके पासके ही एक वयोवृद्ध सज्जनने दिया था ।

★ ★ ★

दानके विषय जब स्वजन और सुहृद तथा अपने ही रसोइया महाराज हो जाते हैं तब दान निष्फल हो जाता है । श्रद्धाको स्वार्थ तक फैला देने पर श्रद्धा शिथिल हो जाती है ।

★ ★ ★

वस्तु स्वरूपतः निर्गुण है । शास्त्रोंके द्वारा उसमें गुणावगुणका अध्यारोप किया जाता है । देश, काल, वस्तु, अवस्था, क्रियाके भेदसे धर्माधर्मका निर्णय होता है । शास्त्र जिसे धर्म कहे सो धर्म और अधर्म कहे सो अधर्म ।

★ ★ ★

ब्रह्मज्ञानीका शरीर देवताका हो या दैत्यका, उसमें कोई फर्क नहीं आता । वह तो शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म है । सनकादि ऋषि नंग-धड़ंग शिवजीके सामने गये । पार्वतीजीने शाप देदिया कि 'तुम्हें कोई शील-संकोच और मर्यादा नहीं, अतः जाओ, ऊँट हो जाओ ।' ऊँट बने हुए ऋषिगण एक दिन गर्दन उठाये मौजसे नीमकी पत्तियाँ चबा रहे थे । पार्वतीजीको आश्चर्य हुआ । उनका हाल-चाल पूछा तो ऋषिगण बोले—'रसोई बनानेकी-भिक्षा माँगनेकी झंझटसे छुट्टी मिली । बड़ा मजा आ रहा है ।' पार्वतीजीने कहा—'इन पर शापका कोई प्रभाव नहीं है । इन्हें ऊँट बनानेसे क्या लाभ ? चलो भाई, आ जाओ अपने असली रूपमें ।'

ऋषिगण फिरसे बालक हो गये । उनके चित्तमें कोई विकार ही नहीं आया ।

सच्चे हैं वे फकीर जो हर हालमें खुश हैं ।

रज्जब रोस न कीजिये कोई कहे क्यों ही ।
हँसके उत्तर दीजिये—हाँ बाबा यों ही ।

भगवान् प्रेमसे भी और द्वेषसे भी मिलते हैं। द्वेषमें जितनी तन्मयता होती है उतनी रागमें नहीं; किन्तु भगवान्का शत्रु बननेके लिये रावण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु-जैसी शक्ति चाहिये। वह इस युगमें सम्भव नहीं है। प्रेम और द्वेषमें अन्तर है गतिका। प्रेमी प्रेमसे, रससे यावज्जीवन सराबोर रहता है और अन्तमें मरकर भगवत् सायुज्यादि प्राप्त करता है। दुश्मन सदा जलता ही रहता है और मरकर मुक्त होता है। दैत्य लोग तो भगवान्को मानते और उनसे द्वेष करते थे। आजकलके लोगों जैसे नहीं कि भगवान्को मानते तो नहीं और उनसे द्वेष करते हैं। जब भगवान् ही नहीं, तो द्वेष किससे ?

★ ★ ★

हमारी निन्दासे किसीको प्रसन्नता होती है, यह कितनी अच्छी बात है ! आत्माकी निन्दा तो अपनी ही निन्दा है और वह कभी होती नहीं। शरीरकी निन्दा हम स्वयं करते हैं, इसलिये वह हमारे लिये कोई नयी बात नहीं है। दुनियाँके लोग औरोंकी प्रसन्नताके लिये कितना खर्च करते हैं और वह बिना कुछ हमसे खर्च कराये हमारी निन्दासे प्रसन्न है।

★ ★ ★

जो गुरुजनोंके सम्मुख तो बड़ी मान-मर्यादासे रहे और उनकी अनुपस्थितिमें अमर्याद और उच्छृंखल, वस्तुतः उसकी एकान्तिक स्थिति ही उसका स्वरूप है। इसे ही कपट कहते हैं। मनुष्यका इससे पतन होता है। इसलिये इस स्थितिसे बचना चाहिये।

★ ★ ★

परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग विषयोंकी ओर या बाहरकी ओर जानेमें नहीं है. अन्तर्मुखतामें, निवृत्तिमें है।

★ ★ ★

क्रोध शान्त करनेका उपाय है वृत्यन्तरं करना। क्रोधीको जो वस्तु भाती हो खाने-पीने या सुनने-देखनेकी, वही उसके सामने कर दो। जैसे रसगुल्ला पसन्द हो तो उसके आस-पास रख दो, उसका क्रोध भाग जायगा।

श्रीउड़िया बाबाजीने कहा—'बेटा, कोई निन्दा करे, गाली दे, कटु बोले तो उसका उत्तर मत दो।'

मैंने कहा—'महाराजजी, सुनकर दुःख होता है, तब क्या करें ?

वे बोले—'कमरा बन्द करके रो लो। सहना ही उसका सबसे बड़ा प्रतिकार है।'

★ ★ ★

अच्छे मार्ग पर चलनेवालेको क्रोधसे बचना चाहिये। यह जीवन-रसको सुखा देता है। सालभर नियमपूर्वक भजन करके अर्जित भजनानन्दको यह क्रोध क्षणभरमें ही भस्म कर देता है। इसलिये इस रसको, आनन्दको क्रोधकी आँचसे बचाना।

★ ★ ★

यदि मनमें काम-क्रोधादि अधिक आते हों तो भगवान्‌के नृसिंह रूप, रौद्र रूपका ध्यान करो। इस ध्यानसे क्रोध मिट जायगा। यह महात्माओंका अनुभूत प्रयोग है।

★ ★ ★

प्रभुका बही खाता

एक भक्त—'मैंने चोरी नहीं की, फिर भी मुझे कलंक लगा, इसमें क्या हेतु है ?'

महाराजश्री—'यह तो प्रभुकी कृपा है। वे कभी अन्याय नहीं करते '—

'उसते नहीं होय कछु बुरा।'

तुमने पहले कभी ऐसा अपराध किया होगा। उस समय उसका दण्ड तुम्हें नहीं मिला। अब अवसर आया है, तो थोड़ेमें काम निकल गया। प्रभुका

बहीखाता बहुत बड़ा है। उसमें जमा-खर्च होता रहता है। कभी-कभी बहुत-पुरानी लेन-देन निकल आती है। होम करते भी हाथ जलता है और चोरी करते समय भी सुखकी वृत्ति बन जाती है। तात्कालिक कर्मोंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पुराना लेन-देन है।

★ ★ ★

'हमें कोई मार्ग बतलाइये।'

'आप तो वृन्दावनमें निवास कर रहे हो। जो धाममें आ गया, उसे रास्तेकी क्या आवश्यकता ? मथुरासे कोई वृन्दावन आना चाहे तो उसे मार्ग बतलाया जाय। जिसे लक्ष्य ही प्राप्त हो गया, उसके सब मार्ग समाप्त हो गये।'

★ ★ ★

दान या त्याग

दो सेठ थे भाई भाई। एक था दानी, दूसरा संग्रही। पहलेकी कीर्ति फैली थी देश-देशमें, दूसरे की अपकीर्ति। पचासों बरस बीत गये। पहलेको अभिमान हुआ, दूसरेको ग्लानि। दूसरा एक महात्माके पास गया। प्रार्थना की—'मुझे शान्ति चाहिये।'

महात्माने कहा—'इतना धन होनेपर भी क्या तुम्हें उससे शान्ति नहीं मिली ?' उसने कहा—'अनुभव कर लिया, धनमें शान्ति नहीं है।'

महात्मा—'अच्छा, मेरी आज्ञा मानोगे !'

सेठ—'हाँ।'

महात्मा—'अच्छा तो अपना सर्वस्व नदीकी मध्य धारामें डाल दो।'

सेठ वैसाही करके लौटा। महात्माने पूछा—'अब ?'

सेठ—'अब आपके अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं है ।'

महात्माने डाँट-डपट कर उसे अपने आश्रमसे निकाल दिया । वह सेठ कितनी बार निकला और लौटा । फिर निकला । अन्तिम बार लौटकर सामने चबूतरेपर बैठ गया, आँख बन्द हुई । बाहर कोई आश्रय न होनेसे चित्तवृत्तियाँ लौट आयीं । शान्ति, शान्ति, ॐ शान्ति !

घण्टोंके बाद महात्माने आकर जगाया ।

सेठने कहा 'महाराज ! पूर्ण शान्ति मिल गयी ।'

महात्माने कहा—'दानमें अभिमान आना दोष है, वह तुम्हारे भाईमें है । द्रव्यमें मूल्यांकन न होनेसे त्याग होता है । इससे संसार निस्सार हो जाता है । फिर भी किसीका आश्रय लिया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति अर्थात् सच्ची शान्ति नहीं मिलती । अन्याश्रय टूटते ही शान्ति मिलती है ।'

★ ★ ★

ब्रह्माको समाधिमें मालूम हुआ था कि सबसे परे जो पुरुष है वह वसुदेवके घरमें आवेगा। वसुदेवने श्रीकृष्णको देखकर निश्चय किया कि यह परम पुरुष है। परम पुरुष आये और मालूम न हो तो क्या मजा?

साधना और सिद्धि

परमार्थकी साधनामें मनका ही हेरफेर करना पड़ता है, शरीरका नहीं। शरीर तो सड़-गल जानेवाला पंचभूतोंका विकार, संघात है।

★ ★ ★

व्यक्तिमें यदि शंका हो तो ईश्वरपर श्रद्धा और विश्वास करके अपना संशय काट देना चाहिये। यदि भगवान्‌में शंका हो तो तत्त्वज्ञानियोंका संग करके तत्त्वजिज्ञासा द्वारा अपने संशयका छेदन करना चाहिये। संशय सबसे बड़ा दोष है—

'संशयात्मा विनश्यति' इसलिये यदि अपने मनमें किसीके प्रति सन्देह-अविश्वास आता हो तो उसे अपना ही दोष समझकर निराकरणका प्रयत्न करना चाहिये। अन्तःकरणमें निश्चयका न होना बुद्धिहीनताका सूचक है।

★ ★ ★

जो इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य विषयोंके भोग और चिन्तनसे मुक्त होनेके लिये प्रयत्नशील हो, वह साधक है। साधकको अपने भीतर ही खुश रहने की हमेशा कोशिश करनी चाहिये।

★ ★ ★

किसी भी वस्तुकी इच्छा न करना और असावधानीमें भी मनसे विषयोंका चिन्तन न करना—यही मनको एकाग्र करनेका उपाय है। संसारमें वैराग्य हुए बिना ईश्वर-भक्ति दुर्लभ है।

★ ★ ★

मनकी पवित्रता है उसमें त्याग वैराग्यका भाव आना। भोग-वासना-वृत्तिका उदय हो तो मन अपवित्र है। जिसके संगसे ऐसी वृत्तियाँ उठे, वह कुसंग है और त्याज्य है।

धर्मानुकूल, विवेकपूर्वक और शान्त चित्तसे की गयी तपस्या कल्याणका हेतु होती है, अन्यथा नहीं।

★ ★ ★

मनुष्यकी जिह्वा और उपस्थ यदि नियन्त्रणमें हों तो वह किसीकी भी दासता स्वीकार न करे—

औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद गृहपालायते जनः।

इन्हींके वशमें होनेके कारण ही मनुष्यको द्वार-द्वार कुत्तेकी तरह भटकना पड़ता है।

★ ★ ★

एक महात्माको उनके गुरुदेवने ब्रद्रीनाथमें एक कटोरा दिया और कहा कि 'इससे तुम जितना चाहोगे भोजन मिल जायगा, भूखे नहीं रहना पड़ेगा। नीचे जानेकी कोई आवश्यकता नहीं। यहीं रहना, मैं वर्षभर बाद मिलूँगा।' महात्माजी बड़े प्रसन्न। समय पर बड़े सुस्वादु भोज्य पदार्थ उससे मिल जाते। महात्माजीकी लोकवासना जागी, सिद्धि दिखलाने और परोपकारकी इच्छासे वे पर्वतसे उतर्ने लगे सो रास्तेमें ही कटोरा फूट गया। फिर न कटोरा ही रहा और न गुरु ही मिले।

★ ★ ★

बिना त्याग, सेवा प्रेम और विश्वासके जीव इस भवसागरसे पार नहीं हो सकता और न परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

★ ★ ★

साधनकी अनिवार्यता परमात्माकी प्राप्ति तक है। उसके पश्चात् वह वैसा ही अनावश्यक हो जाता है, जैसे कुआँ खुद जानेपर कुदाली छोड़ दी जाती है। परन्तु महापुरुष आत्मसाक्षात्कार हो जानेपर भी लोकसंग्रहार्थ साधनमें प्रवृत्त देखे जाते हैं।

सोनेका लोटा धातुतः शुद्ध है, फिर भी माँजा जाता है ।

★ ★ ★

कोई दुःखका प्रसङ्ग आये तो विचार करो कि जितना दुःखी अभी हूँ क्या पहले भी इतना ही दुःखी था ? क्या दो वर्ष बाद भी इतना ही दुःख रहेगा ? वस्तुतः जीव परमानन्दस्वरूप है। उसमें दुःख केवल आगन्तुक=अतिथि ही हो सकता है, कुटुम्बी नहीं ।

★ ★ ★

परमात्मदर्शनकी योग्यताके लिये इन्द्रियसंयम, तपस्याके द्वारा बुद्धिकी पवित्रता, पुष्टि और दृढता आवश्यक है ।

★ ★ ★

जिस पदार्थका ज्ञान नहीं होगा उसका बाध भी नहीं हो सकता । वाच्यार्थके ज्ञानके बिना लक्ष्यार्थका ज्ञान कभी नहीं होता । भगवान्‌के निर्गुण स्वरूपको समझनेके लिये उसके सगुण स्वरूपको भी समझना होगा, तभी उनके यथार्थ स्वरूपका अनुभव होगा ।

★ ★ ★

अभिमान दैत्य है और विनय देवता, सद्‌गुण । अपने जीवनकी ओर देखो, यदि उसमें अभिमान आता है तो समझ लो, दैत्यका आगमन हुआ है और यदि विनय है तो देवता आया है । संन्यास दीक्षाके समय जब मैंने दण्ड ग्रहण किया, मुझे उपदेश किया गया था कि अबसे किसीको भी प्रणाम न करना । बादमें श्री उड़ियाबाबाजी महाराजने कहा कि विनय तो सद्‌गुण है, प्रणाम तो सबको करना चाहिये । चिड़ियाको भी प्रणाम करो तो इससे अपनेमें निरभिमानता आती है । यह सद्‌गुण है ।

★ ★ ★

विषयासक्ति बहुत भटकाती है । श्रीकृष्ण ही उसे छुड़ानेमें समर्थ है । बिना राग के राग नहीं कटता, बिना हीरेके हीरा नहीं कटता । विषयासक्ति मिटानेके

लिये श्रीकृष्णासक्ति चाहिये । वेदान्त-विचार करो तो विचारकालतक भले ही विषय-चिन्तन न हो, योग करो तो समाधिकाल तक विषयासक्ति मिटी रहेगी; परन्तु दोनोंकी समाप्तिके पश्चात् फिर आ जायगी । श्रीकृष्णका राग ही उसे पूर्णतया काट सकेगा ।

★ ★ ★

संसारी लोग वस्तुतः अपनी वासनाकी बात मानते हैं, किसी और की नहीं । यदि कहा जाय कि अमुक व्यक्तिको अमुक वस्तु दो तो विचार करेंगे कि दें या नहीं । और यदि कहें कि मत दो तो बिना विचारे न देनेका निश्चय कर लेंगे । वास्तवमें मनुष्यमें लोभकी वृत्ति ही न देनेमें हेतु है । दे देनेमें विकलता तथा वस्तुके चले जानेका दुःख भय दिखलाता है ।

★ ★ ★

तितिक्षा, करुणा, मैत्री और समता—इन चार गुणोंसे भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

★ ★ ★

भगवान्‌की पूजा मौन, भक्ति और उपशम अर्थात् मनकी शान्तिसे होती है ।

★ ★ ★

यद्यपि कर्म नहीं कटता, फिर भी जो कुछ भी अपनेको प्राप्त है वाणी, मन, द्रव्य, कर्म—सभीको विश्वात्माकी सेवामें लगा दें । वही कर्म-बन्धनसे मुक्त करेगा । ईश्वरने अपनी प्राप्तिके साधन आँख, कान, नाक, जीभ आदि सभी कुछ दे रखे हैं । कोई पाना ही न चाहे, उनका उपयोग ही न करे तो ईश्वर क्या करे ? श्रद्धासे प्राप्त शुद्ध द्रव्यसे ही परमात्माकी पूजा करे—

'यत् श्रद्धयाऽऽप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पुरुषः ।'

★ ★ ★

एक महात्माने कहा—जो जो मनमें आये उसे करके, भोगके या संग्रह करके कभी सुखी नहीं हो सकते। क्रिया, भोग अथवा संग्रह एकत्र सम्भव नहीं है। आगे पीछे छोड़ना ही पड़ेगा तो पहले ही छोड़कर थोड़ेमें ही सन्तोष करके सुखी क्यों नहीं हो जाते ?

यह जीवनमें धारण करनेकी सार-सार वस्तु है।

★ ★ ★

सौभरि ऋषि वृद्ध थे। मान्धाताकी पचास कन्याएँ उनपर मुग्ध हो उनसे विवाहके लिये तैयार हो गयीं। सौन्दर्य आकर्षणमें अपेक्षित नहीं है। तपस्या और संयम ही इसमें प्रधान हेतु है। इन दोनोंके कारण ही वे युवा जैसे शक्तिशाली थे।

★ ★ ★

एक महात्मा बहुधा कहा करते थे—'भाई बाहर घाम है, गरमी है, भीतर आ जाओ, बड़ी शीतलता है। बाह्य विषय-वासनाओंमें मत भटको। तुम्हारे हृदयमें जो अखण्ड शीतलता है, उसका आनन्द लो। अन्तर्मुख हो जाओ !'

★ ★ ★

तत्त्वको पकड़नेके लिये आकार विशेषका आग्रह क्या करना ? कोई भी आकार परमात्मा हो सकता है। तत्त्व पहचाननेके लिये उसके करण बुद्धिको शुद्ध करो। उसपर जो मैल, जो आवरण है, उसे हटाओ ! बिना मुमुक्षाके मोक्ष नहीं। बिना जिज्ञासाके ज्ञान नहीं।

★ ★ ★

व्रजके रसिकोंकी साधना प्रणालीमें चार बातें ही प्रधान हैं-राग-राग और भोग-भोग। राग अर्थात् ताल-स्वरबद्ध भगवद्‌गुण-गान। राग अर्थात् भगवानसे कान्त, दास्य आदि सम्बन्ध। भोग अर्थात् उनके साथ लीला, क्रीड़ा-कौतुकमें सम्मिलित होना तथा भोग अर्थात् उन्हें विविध व्यंजनोंका अर्पण। इन चार बातोंमें सब साधना समायी है।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

साधनानुष्ठानमें न्यासकी बड़ी महिमा है। शरीरमें देवताओंकी स्थापना करनेको न्यास कहते हैं। इससे मनुष्य मन्त्रमूर्ति एवं देवमूर्ति हो जाता है। पवित्र भावका उदय होकर हीन भावना नष्ट हो जाती है। न्यास कई प्रकारके होते हैं—अक्षरन्यास, मन्त्रन्यास, मातृकान्यास आदि। अकेले केशवकीर्त्यादि न्यास करनेसे ही व्यक्तिमें केशव भगवान्‌का व्यक्तित्व उभर आता है। बड़ी शक्ति आ जाती है। व्यक्ति निष्पाप और साधनामें प्रवृत्त होने योग्य हो जाता है।

★ ★ ★

पहले मैं जब-जब भी वृन्दावन आता, एक सुप्रसिद्ध महात्माके दर्शनार्थ उनकी कुटियापर जाता। घण्टों बाहर बैठा रहता, द्वार नहीं खटखटाता था। जब वे सहज स्वाभाविक भजनसे निवृत्त हो द्वार खोलते, मैं उनके दर्शन करता। वे स्नेहपूर्वक मुझे भीतर ले जाते।

महापुरुषकी सन्निधिमें उनकी अनुकूलता देखकर उनके किसी भी क्रिया-कलापमें बिना कोई बाधा पहुँचाये उपस्थित होना चाहिये। इससे अपनेमें तप-तितिक्षा तो आती ही है, सत्संगका भी गहरा प्रभाव पड़ता है।

★ ★ ★

'भगवन्, आशीर्वाद दो परीक्षामें सफल हो जाऊँ।'

'जो अपने काम ठीक तरह (आशा, उत्साह और लगनके साथ) करते हैं उन्हें तो आशीर्वाद मिला मिलाया है। सफलता उनके हाथमें है। जो अपने कार्यमें शिथिल हैं, उन्हें आशीर्वाद मिलनेसे भी कोई लाभ नहीं है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक कार्यमें जुट जाओ। पुरुषार्थ करो!

★ ★ ★

विश्वामित्र ब्रह्मर्षि कैसे हुए ?

वसिष्ठने विश्वामित्रको ब्रह्मर्षि नहीं माना। क्रोधवश विश्वामित्र रात्रिमें उन्हे मार डालनेके लिये उनकी कुटियामें जा छिपे। एकान्तमें अरुन्धतीने वसिष्ठसे पूछा कि आप विश्वामित्रको ब्रह्मर्षि क्यों स्वीकार नहीं करते ?

वसिष्ठने कहा—'मैं जानता हूँ कि विश्वामित्रके समान तपस्वी, यशस्वी, वर्चस्वी, संयमी एवं तितिक्षु दूसरा कोई व्यक्ति पृथ्वीपर नहीं है; परन्तु अभी उनके मनसे क्रोध और बदला लेनेकी भावना निकली नहीं है। केवल इसी कमीके कारण मैं उन्हें ब्रह्मर्षि स्वीकार नहीं करता।'

विश्वामित्र छप्परकी आड़से यह बात सुन रहे थे। उनपर सैकड़ों घड़े पानी पड़ गया। अपने अपराधके लिये अरुन्धती-वसिष्ठके चरणोमें गिरकर उन्होंने क्षमा माँगी और वसिष्ठने 'ब्रह्मर्षि' कहकर उन्हें अपने हृदयसे लगा लिया।

★ ★ ★

भगवन्नाम

म्रियमाण अवस्थामें अर्थात् मृत्युके समय भगवन्नाम लेनेका जो विधान है, उसका अर्थ मृत्यु-क्षण नहीं है। जब इन्द्रियाँ असमर्थ होंगी, मन अचेत होगा तब नाम कैसे लिया जायगा ? जिसका अनुष्ठान ही अशक्य हो, ऐसा विधान शास्त्रमें नहीं है। उसका अर्थ है, मृत्युके पहले—जिस नामोच्चारण और मृत्युके बीचमें पापाचरण न हो, भले ही वह काल कितना ही लम्बा क्यों न हो, वह नामोच्चारण मुक्तिका हेतु है।

★ ★ ★

अनजानमें पुत्रादिके व्याजसे उच्चारण किया हुआ नामाभास भी मुक्तिका कारण हो जाता है।

★ ★ ★

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

नाम-जप, नाम-संकीर्तन अथवा एक बारका नामोच्चारण तो जिह्वा आदि करणोंके प्रयत्नसे साध्य एक कर्म है। इससे ईश्वर या मुक्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि शास्त्रमें कहा है—ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। यह प्रश्न ठीक है। इसका उत्तर यह है कि जहाँ आत्मा और ब्रह्मकी सिद्ध एकताके अज्ञानसे बन्धन है और तत्त्वज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर मुक्ति है, वहाँ वैसा ही है। वहाँ तो जीवको ही आवरण भङ्ग करना पड़ता है; परन्तु सगुण ब्रह्मवादमें जहाँ भक्तिसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है, वहाँ जीवके नामोच्चारण आदि साधनको देखकर ईश्वर ही कृपा करके ज्ञान दे देता है और मुक्ति हो जाती है। क्या ईश्वरको ज्ञात नहीं है कि यह मेरे लिये मेरे नामका उच्चारण कर रहा है ? इसीसे वह प्रसन्न होता है और जीवको अपेक्षित ज्ञान तथा मुक्ति दे देता है। सगुण ब्रह्मकी प्राप्तिमें भक्ति स्वतन्त्र है और निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति में ज्ञान स्वतन्त्र है।

—नाम दुःख मिटाता है; क्योंकि वह हमारी क्रियाको दुःखमय संसारकी ओरसे मोड़कर परमानन्दघन ईश्वरकी ओर मोड़ देता है।

—नाम दुःखके कारण पापोंको मिटाता है; क्योंकि उसमें वासनाओंको शान्त करनेकी अचिन्त्य शक्ति है।

—नाम संसारी वासनाको मिटा देता है; क्योंकि वह ईश्वर-प्राप्तिकी वासनाको जगाता है।

—नाम चित्तकी चञ्चलता एवं मनोराज्यको शान्त कर देता है; क्योंकि बार-बार एक ही नामका उच्चारण करनेसे वृत्तियोंकी एक धारा बन जाती है और वह एक ही लक्ष्यकी ओर बहने लगती है।

—नाम अन्तर्यामीको सम्मुख लाकर खड़ा कर देता है; क्योंकि बार-बार पुकारनेसे कृपालु अन्तर्यामी अपनेको गुप्त नहीं रख पाता।

—नाम अभिमानको गला देता है; क्योंकि यह मानके विपरीत है और स्वयं नमक तथा नमनरूप है।

—नाम बुद्धिको शुद्ध करता है; क्योंकि शुद्धका नाम शुद्धाकार वृत्तिका जनक है।

—नाम अविवेकका नाशक है; क्योंकि 'तत्' 'त्वम्' आदि नाम ही परमात्माके स्वरूपके शोधक हैं।

—नाम समाधि लगा देता है, क्योंकि 'ओम्' आदि नाम चित्तको शान्त एवं अन्तर्मुख कर देते हैं।

—नामसे ही आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान होता है; क्योंकि महावाक्य भी नामात्मक ही है।

—नामसे भगवत्प्रेम मिलता है; क्योंकि अपना नाम सुनकर भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं और गुप्तसें प्रकट हो जाते हैं।

—नामसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है; क्योंकि जिसका नाम है वह परमानन्द स्वरूप है और नाम-नामी अभिन्न हैं।

—नाम ब्रह्म ही है; क्योंकि उपनिषदोंमें नाम और ब्रह्मका सामानाधिकरण्य है।

—नाम परमात्माका स्वरूप है, ठीक वैसे ही जैसे चतुर्भुज द्विभुज आदि रूप।

—नाम चिन्तामणि है, कल्पवृक्ष है, कामधेनु है; क्योंकि वह अपनी शरण लेनेवालोंके सब मनोरथ पूर्ण करता है।

—नाम कृष्ण है, चैतन्य है। वह अपने प्रेमीको पहचानता है, और उसकी जिह्वाके रास-चत्वर पर नृत्य करता है।

—नाम साकार है; क्योंकि वह हृदयके झूलेपर झिलमिल-झिलमिल करता हुआ झूलता है।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

—नाम ही आत्मा है; क्योंकि नामप्रेमी इसको छोड़ नहीं सकता ।

★ ★ ★

क=कण्ठस्थानीय स्वप्नाभिमानी मनोराज्यमें संलग्न जीव ।

ऋ=मूर्धस्थानीय परब्रह्म परमात्मा ।

ष और ण=दोनोंका मिलन और सदाके लिये मिलन ।

'कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण !' अर्थात् जीवका ब्रह्मके साथ सदाके लिये मिल जाना ।

★ ★ ★

'कृष्ण' अर्थात् कृषक । 'कर्षति कृषति वा' जो खेत जोते । भक्तका हृदय खेत है । कृष्ण है उसमें खेती करनेवाला किसान । वह कठोर भूमिको कोमल बनाता है, सूखीको सींचता है । ममता-मोहके कंकड़-पत्थर निकाल फेंकता है । वासनाकी घास उखाड़ देता है । सद्‌गुणोंकी खाद देकर उर्वर बनाता है । प्रेमका बीज बोता है । उसको अंकुरित, पत्रित, पुष्पित और फलित देखकर प्रसन्न होता है । परिपक्व होनेपर रसास्वादन करता है । सचमुच कृष्ण एक किसान है ।

★ ★ ★

'कृष्ण' माने सत्ता । 'ण' माने निर्वृति, परमानन्द, निरावरण शान्ति । सच्चिदानन्दघन परब्रह्मको ही कृष्ण कहते हैं । 'कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण !' नराकृति साक्षात् परब्रह्म ।

★ ★ ★

'कृष्ण' अर्थात् काला, श्याम, नील । यशोदाके उत्सङ्गरूप सरोवरमें खिला हुआ नील कमल । यशोदा मैयाका दूध पीनेवाला शिशु, साक्षात् परब्रह्म ।

★ ★ ★

नाम मत बेचना

सेठ थे दो भाई । एक रुपयेके दो पहलू । एक भगवान्के सम्मुख, एक विमुख । एक घरमें महात्माओंको बुलाकर लाते थे । दूसरेको महात्माओंसे चिढ़ थी, देखते ही घरसे निकल भागते । पहलेने अनेक महात्माओंसे यह प्रार्थना की–'मेरे भाईकी वृत्ति बदल जाय ।'

एक बार किसी महात्माने भागते सेठको पकड़ लिया । सेठने कहा–'छोड़ दो ।'

महात्मा–'हम पकड़कर छोड़ते नहीं ।'

महात्मा था तगड़ा, धर दबाया । बोला–'राम कहो, तब छोड़ेंगे ।'

सेठ अपनी जिदपर अड़ गया । मार-पीटकी नौबत आ गयी । अन्तमें सेठ चिल्लाया–'हम नहीं बोलेंगे 'राम', तुम चाहे कुछ करो ।'

महात्माने कहा–'वाह, वाह ! बोल तो दिया । 'हम राम नहीं बोलेंगे, यह भी 'राम' बोलना है । अब मेरी एक बात याद रखना, कभी किसी भी मूल्यपर इस राम-नामको मत बेचना ।'

महात्मा चले गये, बात भी आयी गयी हो गयीं । समयपर सेठकी मृत्यु हुई । यमराजके भयङ्कर दूतोंको देखकर सेठकी बोलती बन्द हो गयी । यमराजके सामने परलोककी भयंकर सच्चाई प्रत्यक्ष हो गयी । यमराजने डाँटकर कहा-'पापी सेठ ! तूने जीवन भर अपनेको सत्कर्मसे वञ्चित रखा । तूने ईश्वरकी कृपा और प्रसादका दुरुपयोग किया । अब नरक भोग । ले, चख अपने कियेका मजा । अच्छा, हाँ ! एक बार तुमने झिड़ककर 'राम' कहा था । उसके बदले क्या चाहते हो ?' सेठको महात्माकी बात याद आयी । डरते-डरते बोले–'धर्मराज मुझे ज्ञात नहीं है कि एक 'राम'के बदले क्या मिलेगा । जो भी मिलता हो,

मुझे दे दीजिये ।' यमराजकी शासन संहितामें राम नामका मूल्य नहीं मिला । उन्होंने कहा–'चलो, ब्रह्मासे पूछें ।'

दोनों ब्रह्माके पास गये । उनके वेद-शास्त्रमें भी कहीं राम-नामका मूल्यांकन नहीं था । ब्रह्माने कहा–'शंकर अनुभवी हैं, उनके पास चलो !'

शंकरने उत्तर दिया–'मैं निष्काम, निष्प्रयोजन, स्वभावसे नाम लेता हूँ । नाम लिये बिना रह ही नहीं सकता हूँ । बदलेमें कुछ पानेके लिये तो मैंने कभी नाम नहीं लिया । मैंने कभी नामके मूल्यांकनकी धृष्टता नहीं की है । मेरे प्यारे नाम लेनेवाले भाई ! आओ, मेरे कन्धेपर बैठ जाओ । चलो, नारायण प्रभुसे ही पूछें ।'

नारायणने दूरसे ही देखा शंकरके कन्धेपर कोई जीव, साथमें ब्रह्मा और धर्मराज । उन्होंने सोचा–'आज मेरा कोई बहुत बड़ा, बहुत प्यारा भक्त आ रहा है ।' झट खड़े होकर उसे अपने हृदयसे लगाया, गोदमें लेकर सिंहासन पर बैठ गये ।

अब राम नामके मूल्यांकनकी समस्या उठायी गयी । नारायण भगवान्ने हँसकर कहा–'देख लो, एक बार झिड़ककर 'राम' कहने और उसके बदलेमें कुछ न लेनेका यह फल तो इसको मिल गया कि यह वैकुण्ठमें मेरी गोदमें बैठा है । अब और जो फल होगा, वह मैं इसे दे लूँगा । आप लोग धीरे-धीरे पधारिये ।'

तीनों देवता अपने-अपने लोकमें लौट गये । वह जीव वैकुण्ठ लोकका नित्य नागरिक हो गया ।

★ ★ ★

आनंद सिन्धु मध्य तव बासा बिनु जाने तू मरसि पियासा ॥

तेरे भीतर आनन्दका सागर हिलोरें मार रहा है और तू उसमें न घुसकर बाहरके पदार्थोंकी व्यर्थ आशामें भटक रहा है । देख, किधर जा रहा है ?

★ ★ ★

भगवद्वाणी वह नहीं है जो बात थोड़ेसे गुटकी भलाई करनेवाली हो । वह तो मानव वाणी है । जिससे विश्वात्माकी सेवा हो, सबकी भलाई जिसमें निहित हो वही, भगवद्वाणी है ।

★ ★ ★

संसारके विषयमें मेरी बात भले ही झूठ हो जाय, क्योंकि वह झूठा है, मिथ्या है, असत् है; परन्तु परमात्माके विषयमें मैं जो कुछ भी कहूँगा वह कभी झूठा नहीं हो सकता । मैं उसकी सब पोलपट्टी जानता हूँ—'खुली आँख परमारथ देखूँ ।'

★ ★ ★

मैं आपसे कहता हूँ कि आज तीन वस्तुओं—ईश्वर, धर्म और धनपर ग्रह आ गया है । जो व्यक्ति स्वेच्छासे धनका त्याग कर देगा वह ईश्वर और धर्मको बचा लेगा जो धनका त्याग नहीं करता उसका धन तो जायगा ही, समाजमें ईश्वर और धर्मके प्रति वह अविश्वास भी बढ़ा देगा और इस प्रकार उसके जीवनसे तीनों वस्तुएँ चली जायँगी ।

★ ★ ★

एक बार मैं श्री अयोध्यामें मन्दिरोंमें भगवान्की झाँकियोंका दर्शन करके एक महात्माकी सन्निधिमें पहुँचा । उनसे वार्तालापके प्रसङ्गमें निवेदन किया कि मुझे कृपया भगवद्दर्शन कराइये ।

उन्होंने पूछा–'कहाँसे आ रहे हो ?'

मैंने बतलाया–'मन्दिरोंके दर्शन करके आ रहा हूँ ।'

वे बोले–'लाखों लोगोंके श्रद्धाके केन्द्र, जिन पर सैंकड़ो लोग न्यौछावर हो चुके, वे तुम्हें भगवान् नहीं मालूम पड़ते तो ईश्वर कोई सातवें आसमानसे थोड़े ही उतरेगा । जब यही ईश्वर नहीं तो फिर किसे कहोगे ? अपने दिलकी रोशनीमें देखो, तभी वह दीखेगा ।'

मुझे प्रकाश मिल गया । उस समय मेरी अवस्था सत्रह अठारह वर्षकी रही होगी ।

★ ★ ★

भिन्न-भिन्न मतोंमें ध्यानके भिन्न प्रकार हैं–

योगियोंका ध्यान–'तत्रैकतानता ध्यानं'–तदाकारता ।

वेदान्तियोंका ध्यान–'ध्यानं निर्विषयं मनः'–निसङ्कल्पता ।

सांख्यका ध्यान—'रागोपहतिर्ध्यानं'–राग-द्वेषका अभाव ।

भक्तोंका ध्यान–भगवान्के शब्द-स्पर्शादिका चिन्तन । धाम, रूप, लीला, सेवा-यह चारों एकत्र होनेसे सगुण-साकारका ध्यान होता है ।

★ ★ ★

भगवान्के ध्यानमें उनकी लीलाओंके साथ चेष्टाओंका चिन्तन बहुत सहायक होता है । भगवान्का भौंह मटकाना, इशारा करना, मुस्कान आदिके साथ यदि सेवा जुड़ जाय तो ध्यानमें आनन्द और रसकी अनुभूति होने लगती है । बिना भजा लिये चित्तवृत्ति अपने लक्ष्यमें नहीं जुड़ती ।

★ ★ ★

मन सफल भगवान्‌के ध्यानसे। बुद्धि सफल भगवान्‌के ज्ञानसे और आँख सफल भगवान्‌के स्वरूपदर्शनसे। जो मन बिना आँखके भगवान्‌का दर्शन कर सकता है, वही मन आँखके रास्ते भी भगवान्‌के दर्शन कर सकता है। यह कोई अवैज्ञानिक बात नहीं है। दुःख तो इस बातका है मनुष्य नाना कामनाओंके जालमें उलझा है। मन उनमें फँसा है तो ईश्वरकी ओर कैसे जाय? ईश्वरसे राग कैसे हो? करना केवल इतना है कि सौ मंडराती हुई इच्छाओंमें भगवत्प्राप्तिकी एक इच्छा मिला दो। शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध आदि सबके सब श्रीकृष्णसे प्राप्त हो जायँगे। सौ की सौ पूरी हो जायँगी, मिट जायँगी और तुम इच्छाहीन हो जाओगे। पूर्णको प्राप्त कर लोगे, पूर्ण हो जाओगे।

★ ★ ★

आलम्बनके विना उपासना संभव नहीं। ध्यान अर्थात् एक वस्तुको छोड़ना और एकको पकड़ना। ज्ञानमें न कुछ छोड़ना है और न कुछ पकड़ना। अपने मनको एकाग्र करनेके लिये पहले नगरमें, फिर मुहल्लेमें, फिर मकानमें, फिर कमरेमें और फिर शरीरमें वृत्तिको केन्द्रित करना पड़ता है। इससे बाहर नहीं जायेगी वह बस, मन एकाग्र हो गया। अब इसी मनको श्रीकृष्णाकार या श्रीरामाकारमें टिका दिया, यह उसका आलम्बन हो गया। यही उपासना है।

★ ★ ★

भगवान्‌के कण्ठमें रहनेवाली मणि जीवतत्त्व है। उसका रंग लाल है। वह निश्छिद्र, निर्बन्ध तथा ज्योतिर्मय है। सदा भगवान्‌से सटी रहती है। अनुरागका रंग भी लाल होता है। जीव जब निश्छिद्र और शुद्धान्तःकरण होकर, प्रेमसे भर जाता है, भगवान् उसे अपने पास बुला लेते हैं। उसे भगवान्‌का सामीप्य प्राप्त हो जाता है।

★ ★ ★

भक्त अपनेको ईश्वरकी गोदमें देखते हैं। प्रेमी ईश्वरको अपनी गोदमें बैठाते हैं और अद्वैतवादी अपनेको और ईश्वरको एक कर लेते हैं। ऐसा कहते हैं कि ईश्वरकी गोदमें होना प्रपत्ति है। ईश्वरको गोदमें लेना प्रेम और एक्य हो जाना ज्ञान है।

सीताराम चरण रति मोरें, अनुदिन बढइ अनुग्रह तोरें ॥

अर्थात् आपकी कृपासे ही, आपके चरणोंमें मेरी दिन-दिन प्रीति बढ़े ।

इसका विशेष अर्थ है कि हे भगवान् आपके चरणोंसे मेरा विवाह हो जाय । मैं रति और आप काम । फिर तो सीताजी नाराज हो जायंगी । नहीं, नहीं उनका भी अनुग्रह चाहिये । सीताचरण और रामचरण । आपके और श्रीसीताजीके दो-दो चरण--यह मिलकर एक चरण—काम और मैं रति ।

★ ★ ★

श्रद्धा और अनुग्रह जोड़ा है । शिष्यकी श्रद्धा एवं गुरुके अनुग्रहका संयोग शक्ति बनकर सिद्धिके रूपमें प्रकट होता है । श्रद्धा और अनुग्रहके मिलित रूपसे शक्तिपात होता है । सिद्धि ही परमात्माको प्रकट करती है ।

★ ★ ★

'महाराज ! मैं भजन करता हूँ तो भीतर अन्धेरा ही अन्धेरा रहता है हृदयमें । ध्यान करते समय जले हुए तवेकी तरह कालिमा ही कालिमा रहती है ।

प्रभु यदि अन्धेरेमें ही रखना चाहते हैं तो क्या हानि है ? उस कालिमा पर अपनी दृष्टि जमाये रहो । उसीमें तो वह काला, वह ज्योतिःपुंज छिपा है । तुम्हारी सावधानी उसे प्रकट कर देगी । उसका पीताम्बर चमक उठेगा ।

★ ★ ★

प्रभुके मनसे अपना मन मिला लो । उनकी अनुकूलता ही अपनी अनुकूलता हो तो सुखका साम्राज्य हाथ लग गया । मैं झूसीमें रहकर साधना करता था । प्रारम्भमें जब अपरिचित था, तीन महीने तक कोठरीमें प्रकाश आदिका कोई प्रबन्ध नहीं रहा । मैंने कभी कोई शिकायत नहीं की । दिनमें पूजा-पाठ करता था और रातमें जप ध्यान । सभी कार्य सुविधासे होते रहे । न मुझे दुःख न किसी और को ।

दिलका शीशा श्रीकृष्णकी विरहाग्निमें डालकर गलाओ और फिर श्रीकृष्णाकाराकारित कर दो। स्त्रीपुत्राद्याकारता अपने आप मिट जायगी।

जब तक ईश्वरके लिये हृदयमें विकार नहीं आता संसारका विकार नहीं मिट सकता।

★ ★ ★

जप=ज अर्थात् जन्म और प अर्थात् त्राण (पाति)। जो जन्म-मृत्युसे बचाये सो जप। इसलिये जप करो, जप करो।

'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः'।

भगवान्‌को अभिमानसे द्वेष और दैन्य–विनयसे प्रेम है–'तस्यापि अभिमानद्वेषित्वादैन्यप्रियत्वाच्च।' अपना अभिमान और बड़प्पन छोड़कर उसकी ओर बढ़ो तो वह भी बड़प्पन छोड़कर तुम्हारी ओर आयगा।

★ ★ ★

मन और बुद्धि इन्द्रियोंका अनुसरण करें तो निश्चय जानो कि तुम अवनतिकी ओर पतनके मार्गमें अग्रसर हो रहे हो। जब सद्बुद्धि किसीको हितकर समझे, मन उसकी प्राप्तिका संकल्प करे, फिर इन्द्रियाँ उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करें तभी साधक कल्याणकारी मार्गमें प्रवृत्त होता है।

★ ★ ★

जिसके हृदयमें जितनी निष्ठा, जितना विश्वास, जितना प्रेम है भगवान् भी उसीके अनुसार उसके पिता-पुत्रादि बनते हैं। देवकी-वसुदेवके लिये वे पुत्र कम और ईश्वर अधिक थे। नन्द-यशोदाके वे पुत्र ही थे, ईश्वर नहीं।

★ ★ ★

भगवान्‌के साथ ममता करनेसे संसारकी ममता कटती है। ब्रह्ममें अहं भाव और एकताका ज्ञान होनेसे परिच्छिन्न अहं मिट जाता है। अभिप्राय यह

कि भक्तिसे ममता और ज्ञानसे अहंताकी निवृत्ति होती है।

★ ★ ★

'भगवान्‌का भजन क्यों और किसलिये करना चाहिये'—

एक भक्तने श्री चैतन्य महाप्रभुसे पूछा।

वे बोले—'मेरा स्वभाव ही ऐसा बन गया है कि भजन किये बिना रहा नहीं जाता। मैं किसी स्वार्थ या प्रयोजनसे भगवान्‌का भजन नहीं करता।

रबियाने कहा—'हे प्रभु ! यदि मैं नरकसे बचनेके लिये भजन करती होऊँ तो आप मुझे नरककी आगमें झोंक दीजिये। मेरे स्वामी ! यदि मैं स्वर्गकी कामनासे भजन करती होऊँ तो मुझे कभी स्वर्गके द्वारतक भी न फटकने दें !'

★ ★ ★

प्रश्न—हमारा शरीर प्राकृत है, अन्तःकरण भी प्राकृत है और 'भगवान्‌का शरीर अप्राकृत। प्राकृतसे अप्राकृतका चिन्तन कैसे होगा ?

उत्तर—जब भगवान्‌की स्वरूपभूता, अन्तरङ्गा, आह्लादिनी भक्ति जीवके अन्तःकरणमें स्वयंप्रकाशरूपसे अवतीर्ण होती है, तब यह अपने रससे रसायनीकरण करके उसको अप्राकृत बना देती है। भक्ति कहते ही उसे हैं जो अपने विषय (भगवान्) और आश्रय (जीव)—दोनोंको अप्राकृत कर दे।

सिद्धान्त यह है कि एकमात्र भगवान् ही तत्त्व हैं। प्रकृति और प्राकृत आगन्तुक हैं, कल्पित हैं। जब निरन्तर भगवच्चिन्तनसे बुद्धि शुद्ध होकर भगवत्तत्त्वका आकलन करती है, तब प्रकृति-प्राकृतका लोप हो जाता है और भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार होकर यह स्पष्टरूपसे ज्ञात हो जाता है कि प्रकृति-

प्राकृत कुछ नहीं है, भगवान् ही हैं। गम्भीरता और निपुणतासे निरीक्षण करनेपर क्या रज्जुका दर्शन सर्प-भ्रान्तिकी निवृत्ति नहीं करता ?

★ ★ ★

व्रजमें श्री राधारानीके तीन रूप हैं। माध्व गौडेश्वर मतमें वे परकीया भावसे श्रीकृष्णसे संकेत स्थलमें मिलती हैं। निम्बार्क सम्प्रदायानुसार वे नन्दनन्दन श्यामसुन्दर, मदनमोहन, आनन्द मुकुन्दसे नित्य निरन्तर अर्द्धांगिनीरूपमें प्रत्यक्ष मिली रहती हैं और श्रीहिततत्त्वानुसार श्रीराधाबल्लभ मतमें श्रीकृष्ण उपासक श्रीराधा उपास्य, श्री राधा रस्य, श्रीकृष्ण रसिक हैं–

श्रीराधाचरणविलोडित रुचिर शिखण्डम् ।

★ ★ ★

तुम्हारी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषय भगवान् होने चाहिये ।

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।'

★ ★ ★

जीव नित्य है। ईश्वर नित्य है। संसार अनित्य और संसारकी वस्तुएँ अनित्य हैं। अनित्यसे प्रेम करनेसे दुःख मिलता है, क्योंकि वे विनाशी हैं। यह हड्डी, मांस, चर्मका अपवित्र पुतला अनित्य है। कितना भी प्रयत्न करो, इसका सौन्दर्य, इसका यौवन टिकनेका नहीं। इसमें फँसनेपर दुःख ही होगा। इसलिये तुम नित्यसे प्रेम करो। मीराने कहा–

ऐसे बरको के बरूँ जो जनमें औ मर जाय।
बर बरिये गोपालजू म्हारो चुड़लो अमर हो जाय।

अमर होनेके लिये, अपना सौभाग्य अखण्ड करनेके लिये उस शाश्वत, अविनाशी, अखण्ड सौभाग्यसे सम्बन्ध जोड़ो।

★ ★ ★

तुम भगवान्के स्वरूप हो, सेवक हो, पार्षद हो, दुनियांके दास नहीं। अपने हृदयके काम-क्रोधादि चोरोंको पकड़कर बन्दी बना लो। भगवान्के पास पहुँचा दो उन्हें पकड़कर। एक मनुष्य चोरको पकड़ने गया तो चोरने उसे उलटे धमका दिया; परन्तु सिपाहीको देखकर दब गया। तुम तो भगवान्के सिपाही हो! तुम्हारे सामने चोरोंकी क्या मजाल? अपने हृदयकी काम-क्रोधादि वृत्तियाँ भगवान्की ओर मोड़ दो।

'काम-क्रोधादिकमपि तस्मिन्नेव करणीयम्।'

★ ★ ★

भक्ति सिद्धान्तमें आवरण नामका कोई दोष नहीं है। भक्त और भगवान्के बीच कोई परदा नहीं है। अपने विक्षेप, चित्तकी चञ्चलताके कारण ही हम उसे देख नहीं पाते। उसे देखनेके बदले अन्य पदार्थोंपर दृष्टि अटक जाती है, तभी उसका दीखना रुक जाता है। भगवान् और हमारे बीचमें न दूरी है, न देरी। ईश्वरके बदले पैसा-पुत्र-शरीरपर दृष्टि ही विक्षेप है। इसे ही आवरण कह लो। अपना अभिमान कम करके हृदयमें उसकी झांकी देखो, बिना दूरी, देरीके वह दीखेगा।

★ ★ ★

● भेद भावका ही है

गाँवसे दूर एक खुले मैदानमें हनुमान्जीकी बड़ी ऊँची, तगड़ी मूर्ति खड़ी थी। एक महात्मा आये हनुमान्जीके भक्त। उन्होंने गाँवके लोगोंको एकत्र किया—'अनर्थ! राम राम! तुम लोग छायामें रहते हो और देवता धूपमें? गरीब हो तो क्या, देवताके सिरपर छाया करो!

छप्पर डाल दिया गया। महात्माजी दो-चार महीने रहे, फिर रमते राम। थोड़े दिनों बाद एक दूसरे महात्मा आये। देखते ही दुःखी हो गये। गाँववालोंको इकट्ठा किया। बोले—'सीताराम सीताराम! अनर्थ हो गया। हनुमान्जीके ऊपर छप्पर! कहीं आग लग जाय तो सब स्वाहा। अभी उतारकर

फेंको।' छप्पर फेंक दिया गया।

यह क्या बात है ? एक ही हनुमान्—दोनों उनके भक्त। फिर भेद क्या है ? अपने-अपने भावका ही भेद है।

★ ★ ★

शरीर प्रभुकी सेवामें, वाणी उनके नाम, गुण और लीलाके गानमें, मन उनके स्मरणमें संलग्न रहे। आँखें जहाँ जायँ, उनकी रूप-माधुरीका पान करके छक जायँ। निश्चय करो—दृढ़ चित्तसे कि सब कुछ भगवान् ही हैं, उनके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं। उससे एकत्वका अनुभव करना ही जीवनकी पूर्णता है।



महाराजश्रीके सम्पर्कमें इक्कीस वर्ष

(एक संस्मरण)

(लेखक **श्री विपिनचन्द्र मिश्र**, एडवोकेट, दिल्ली)
(वर्तमानमें, स्वामी श्री विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती जज स्वामी)

(मिश्रजीने, जो पूज्यपाद महाराजश्रीके निकट सम्पर्कमें इक्कीस वर्षोंसे अधिक समय तक रहे हैं, अपने निजी अनुभव तथा साधनानुष्ठानको बड़े रोचक तथा प्रभावशाली ढंगसे प्रस्तुत किया है। यह दिल्लीके यशस्वी, प्रतिभावान् और सम्मानित व्यक्ति हैं। महाराजश्रीके उपदेशोंको इन्होंने जैसा ग्रहण किया है, आपके लिये उपादेय होनेके कारण उन्हें यहाँ दिया जा रहा है। यह लेख जनवरी १९६३ में लिखा गया है।)

—ब्र. प्रेमानन्द 'दादा'

● प्रथम मिलन

बात है मार्च सन् १९४२ की । श्री बाँध धामपर एक नवीन संन्यासी पधारे गोधूम वर्ण, उज्ज्वल कांति, लम्बा सुडौल शरीर, कोमल स्पर्श, सलज रसीले नेत्र, मधुर गम्भीर वाणी । ऐसी दिव्य मूर्तिने श्रीमद्भागवतकी कथा प्रारम्भ की । स्वरलहरीसे श्लोक उच्चारण हुआ–'तव कथामृतं तप्त जीवनं'। सुललित व्याख्या हुई--'तेरी कथासे मेरा जीवन तप्त हो गया ।' आश्चर्य हो गया । श्रीभगवान्की कथा अमृत है, त्रितापोंको हरने वाली है और यह नवीन संन्यासी भगवत् कथाको जलाने वाला विष बताता है, क्या यह भगवद्द्रोहका भेदी है अथवा प्रेमसे शून्य, शुष्क संन्यासी ?

मैं विचार करते-करते रातको सो गया । प्रातःकाल भजन करनेके पश्चात्, मनमें बिजली कौंध गयी, चमत्कार हुआ, समझमें आया । श्रीभगवान्की दयालुता, कृपालुताका वर्णन जीव अपनी ओरसे करता है, भगवान् वास्तव में गुणातीत हैं । जब प्राणी उनकी ओर चलता है और भगवान्के घरमें प्रवेश करता है, तो भगवान् उसको सुलभ नहीं होते, दर्शन देनेमें बहुत खिझाते हैं, तड़पाते हैं । विरह अवस्थामें उसे प्रियतमकी कथा सुनकर तपन होती है । जो

जीव अपने घरके संसारिक काम-काजमें लगे हैं, उनको कुछ क्षुद्र सुख अवश्य प्राप्त हैं। उनको जगाया जाता है, कि तुम बडे दु:खी हो, मोह-निशाके सोने वालो, जागो ! उनको भगवान्की कथा आकर्षित करती है और जागनेपर वास्तविक सुखका अनुभव होता है; परन्तु बीचकी प्रेम-अवस्थायें, अश्रु, स्वेद, विरह, मूर्च्छा शान्ति प्रदान करती हैं या तपन ? यह शान्तिका मार्ग नहीं है, सिसकनेका मार्ग है। रोदन, तड़पन, सिसकन, आदि अवस्थायें होती है इसमें। कभी उन्माद होता है, कभी जलन, कभी मिलन, कभी शान्ति, कभी मूर्च्छा और इन सब विश्रामोंको पार करके प्रियतमकी प्राप्ति और अगाध प्रेम-रसपान होता है। उस अवस्थामें भगवत् कथा अमृत है अथवा तपन है, यह प्रश्न नहीं उठता। घरकी प्रेयसी चाहे जिस तरह वचन कह सकती है, चाहे जो बोल सकती है, सबका तात्पर्य रागानुगा भक्तिमें है। अत: यह महात्मा जी रसविहीन संन्यासी नहीं है, भगवद्गृहके भेदी हैं। श्रद्धासे मस्तक नत हो गया।

★ ★ ★

● सत्सङ्ग

दूसरे दिन महात्माजीकी कुटियापर गया। ईंटका तकिया लगाये मस्तीसे लेटे हुए थे। मेरे सविनय प्रणाम करनेपर उठ बैठे और मुझको पासमें बिठा लिया। मैने परिचय प्राप्त किया, यह 'कल्याण' परिवारके पंडित शान्तनु विहारी द्विवेदी थे और 'कृष्ण-कृष्णकेउच्चारणसे कृष्ण-प्राप्ति' का मेरा प्रिय लेख इन्हींका अनुभव था। 'कल्याण'के साधनांक' के अधिकांश लेखोंके लेखक यही थे। इसी वर्ष संन्यास ग्रहण कर, श्रीस्वामी अखण्डानन्द सरस्वती नाम धारण किया है। मैंने प्रश्न किया निष्काम कर्मयोगके बारेमें। प्रेमभरी मधुर वाणीने बताया–'इसकी चार भूमिकाएँ हैं :–

१ : फलासक्तिका त्याग,
२ : कर्तापनके अभिमानका त्याग,
३ : कर्मासक्तिका त्याग,
४ : अकर्तापन: के अभिमानका त्याग।

नं. १ और २ मैंने सुने हुए थे और मुझे भली प्रकार ज्ञात थे। उनपर आचरण करनेकी चेष्टा भी करता था; परन्तु नं. ३ और ४ ने चमत्कार कर दिया। स्वामीजीने कहा—'फलकी इच्छा तथा कर्तापनका अभिमान न होते हुए भी हम उपस्थित कार्य पूरा करना अवश्य चाहते हैं। भला क्यों, किस लिये ? माना, हम श्रीहरिबाबाजीकी प्रसन्नताके लिये कथा कर रहे हैं। श्लोकों की अर्धाली बोली, घंटा बज गया। क्या बता सकते हो, हम क्यों श्लोकका उच्चारण पूरा करना चाहते हैं ? जब हम कुछ फल नहीं चाहते, जब हम कर्ता नहीं, किस लक्ष्यार्थ से इच्छा करते हैं कि श्लोकका पाठ पूरा हो जाय ? घर गृहस्थीके काम भी क्यों पूरे हों ? क्यों न हम इसी क्षण, इसी स्थानसे, इसी प्रकारकी सब व्यवस्था छोड़ कर, विरक्त होकर चले जायँ, अथवा विदेहमुक्त हो जायँ ! क्या हमारे मनमें अगले क्षणकी कुछ आसक्ति बनी है ? यदि है तो छोड़नी पड़ेगी। इतनी सब आसक्ति छोड़नेके बाद चित्तमें अनासक्ति आती है; परन्तु अकर्तापनका भी एक अभिमान बना रहता है जो बड़ा सूक्ष्म होता है और कठिनतासे कटता है। यदि वह कट जाय तो ज्ञान और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि इस प्रकारका निष्काम कर्मयोग साधन नहीं है, तत्त्व है।' सुनकर चमत्कार हो गया, चित्तवृत्ति अत्यन्त सूक्ष्म हो गयी। यह महात्माजीसे प्रथम मिलनका प्रथम प्रसंग था।

उन दिनों कुछ और भी स्मरणीय प्रश्नोत्तर हुए :—

प्र०—ईश्वरकी शरणागति किस प्रकार हो ?

उ०—पहले यह विचार करो कि तुम्हारा क्या है जो पहलेसे ही शरणागत नहीं है—प्राण, वायु, अग्नि, मिट्टी, मन, बुद्धि ?

प्र०—क्या ईश्वर मुझपर कृपा करेगा ?

उ०—ईश्वर कृपाकी मूर्ति है, उससे अपना स्वरूप नहीं छोड़ा जाता। उसकी कृपा नित्य निरन्तर बरसती रहती है। अपनेको जितना पात्र बनाओगे, कृपाका उतना ही अनुभव करोगे।

प्र०—क्या ईश्वर हमारी परीक्षा करता है ?

उ०—सर्वज्ञ किस कारण व किस निमित्तसे परीक्षा करेगा ?

★ ★ ★

● मेरी शिक्षा-दीक्षा

श्रीमहात्माजीको मैंने पहले खाँडा (आगरा जिला) के उत्सवमें देखा था, परन्तु उस समय उनसे परिचय नहीं हुआ, परिचय प्रथम बार नवीन संन्यासीके रूपमें हुआ । उन्होंने भी मेरा परिचय पूछा । मैं गौडब्राह्मणकुलोत्पन्न शांडिल्यगोत्रीय बालक था । सन् १९४२ में २६ वर्षका था और घरमें ठाकुर सेवा और कट्टर सनातन धर्माचार पद्धतिकी रहनी-सहनी थी । १५ वर्षकी अवस्थामें मुझको कुछ वैराग्य हुआ, संसारिक सुखोंसे उपरामता हुई; और छः-सात घन्टे नित्य योगाभ्यास और ध्यान करता, गीता, उपनिषद्, योगवासिष्ठका पाठ करता था । जाड़ोंमें गर्म कपड़ा नहीं ओढ़ता था । सादा सूक्ष्म भोजन करता और सप्ताहमें एक दिन निराहार व्रत तथा मौन रखता तथा बहुत कम सोता व बोलता था । सन् १९३९ से श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका कृपापात्र था । सन् १९३६ में वकालत पास कर ली थी, परन्तु प्रैक्टिस करनेमें मेरी रुचि नहीं थी । श्रीमहात्माजी बहुत प्रसन्न हुए और मुझपर कृपा की । मैंने कई दिनों तक सत्संग लाभ प्राप्त किया और अन्त में प्रार्थना की कि क्या वह मेरे पत्रोंका उत्तर देंगे ? सरल स्वभावसे बोले कि व्यर्थके प्रेम पत्रका उत्तर देनेका मन नहीं होता, परन्तु कोई कामकी बात होगी, तो वह अवश्य उत्तर देंगे ।

उस समयसे मेरा श्रीमहाराजजीसे बहुत सम्बन्ध है । उनसे मैंने जीवन सम्बन्धी इस लोक और परलोककी सहस्त्रों बातें सीखी हैं और उन सीखी हुई बातोंमेंसे सैकड़ों बातें जीवनमें उतारनेकी चेष्टा की है । उनकी कृपा से मुझे दुःखका अत्यन्ताभाव प्राप्त है । इतने दीर्घ सम्पर्क में बीसियों अलौकिक चमत्कार हुए कि उन सबका विस्तृत वर्णन करना असम्भव है । फिर भी श्रीमहाराजजीकी शिक्षा और उनकी कृपासे प्राप्त अनुभव और चमत्कारोंका कुछ उल्लेख करना आवश्यक है ।

● संतुलित जीवन

१. श्री महाराजजीने सबसे मौलिक बात जो मुझको सिखाई वह है संतुलन विचारका, भावका, मनका, वचनका, क्रियाका, और रहनीका। पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मेरी वैष्णव धर्माचरणके प्रति जो कट्टर आस्था थी, उसको थोडा ढीला करना मेरे संतुलनके लिये आवश्यक था। श्रीमहाराजजीने मुझको उसका रहस्य एवं भावार्थ समझाया और व्यवहारमें परम्पराके अनुकूल चलनेकी आज्ञा दी, साथ ही यह दृढ़ निश्चय करा दिया कि चौकेके अन्दर रोटी न खानेसे परमार्थ न बिगड़ेगा। यम और नियमके संघर्षमें यमका पलड़ा भारी होनेपर भी विवेक खोकर उसका पालन अनिवार्य नहीं है। जीवनकी रहनी संतुलित और सरल होनी चाहिये। अगर कोई हमारा चरण स्पर्श कर ले और चरणामृत ले ले, अथवा हमको बैठनेको न कहकर निरादर करे, दोनों हालतोंमें चित्तका सुख एक-सा बना रहे। किसीके द्वारा चरणस्पर्श न किये जानेसे यदि चित्तमें दुःख होता है, तो वह भी उतना ही एकपक्षीय है जितना उससे फूलकर प्रसन्न हो जाना।

★ ★ ★

● दुःख निवृत्तिका उपाय

२. श्रीमहाराजजीने उपदेश दिया कि सबसे बड़ा पाप दुःखी होना है। किसी भजन करनेवाले अथवा अध्यात्मजीवीको किसी भी देश, काल अथवा परिस्थितिमें दुःखी होनेका कोई कारण कदापि नहीं है। प्रत्येक परिस्थितिमें धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये और आवश्यक हो तो वीरतापूर्वक कर्म करे; परन्तु चित्तमें पूर्वकी स्मृति और भविष्यका भय नहीं हो। नियमित भजन थोड़ा हो और शेष अनियमित अधिक। किसी नियमके पालन न होनेपर दुःखी नहीं होना चाहिये जो कुछ, जैसा है, श्रीभगवान्के समर्पण कर देना चाहिये। दुःखी तो वह हो जिसको अपने भगवान्की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता एवं कृपालुतापर विश्वास न हो अथवा जो देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न चैतन्य ब्रह्मको न जानता हो। दुःखी तो वह होता है जो संसारकी गति मति नहीं समझता कि

यह दृश्य भी न रहेगा और बच्चेकी तरह एक ही दृश्यको पकड़कर बैठना चाहे। प्रतीक्षा ही सिद्धि है। यदि धैर्य धारण किये रहे तो आज जो सनसनीखेज है वह कल सामान्य हो जायगा, आज जो प्रतिकूल है, कल स्वाभाविक होकर अनुकूल हो जायगा। भगवान्के राज्यमें पापीकी तुरन्त कायापलट होनेके सबल उपाय हैं; परन्तु दु:खग्राही चित्तको सहज ठीक करनेका उपाय धन्वन्तरिके पास भी नहीं है।

★ ★ ★

● भजन साधन

३. भजनके सम्बन्धमें श्रीमहाराजजीने मुझको जपका रहस्य, मन्त्र-चैतन्यकी विधि, आसन-प्राणायामकी उपयोगिता, ध्यान, धारणा, समाधि, जपके पुरश्चरण और भागवत पाठका अनुष्ठान—सभी कुछ सिखाया और कराया। क्रियात्मक पूजन, मानसिक पूजन, नि:संकल्पता, समाधिका रहस्य, साकार इष्टदर्शन सभी कुछ आपकी कृपासे अनुभव हुए। मैं पहले अनेक महात्माओंसे नहीं मिलता था, केवल श्री १०८ श्री उड़ियाबाबाजी महाराज तथा श्री १०८ श्री हरिबाबाजी महाराजका कृपा-भाजन था। मुझे भय था कि महात्मागण बहुत चतुर होते हैं। मेरी बुद्धि कोमल है, पता नहीं कौन मुझको क्या सिखा दे, क्योंकि सभी आचार्य और महात्मा अपनी-अपनी निष्ठा एवं युक्तिका प्रचार करते हैं। श्री स्वामीजीने बताया कि किसीसे मिलने-जुलनेमें कोई हानि नहीं है, सत्संग तो सबका करे, केवल अपने गुरु, इष्ट, मन्त्र और निष्ठामें दृढ़ता रखे।

अत: मैंने सभी महात्माओंसे मिलना-जुलना प्रारम्भ कर दिया, फलत: अब बहुत-से सन्तोंसे मेरा अच्छा गहरा सम्पर्क है। इस सम्बन्धमें एक विचित्र घटना घटी। मेरे पास चित्रपटके ठाकुरजीकी सेवा है जो मैं पूजाके बाद एक टीनके छोटे बक्समें रखता हूँ और उनमें ताला लगा देता हूँ। मैं एक महात्माजीके दर्शन करने गया। उनके यहाँपर ठाकुरजी खुलेमें अथवा जालीके किवाड़के बक्सेके अन्दर बन्द रखते थे ताकि उन्हें श्वास आता रहे। वहाँ पर मेरी हँसी की गयी, कि मैं अपने भगवान्को टीनके बक्समें बन्द रखता हूँ और

उनको हवा नहीं लगने देता, उनका श्वास घुट जायगा, मैं उनको जड़ पदार्थ मानता हूँ। मैं थोड़ा दुःखी हुआ और मैंने श्रीमहाराजजीकी सेवामें अपनी कठिनाई लिखी। इसके उत्तरमें उनका १४ नवम्बर सन् १९४४ का पत्र मुझको प्राप्त हुआ जो श्री स्वामीजीकी पुस्तक 'पत्रसंग्रह'में छपा है। उससे कितनी दृढ़ता प्रकट होती है और मेरा कितना लाभ हुआ, यह वर्णनातीत है। उस पत्रमें लिखा है कि तुम्हें अपनी पूर्णताका अनुभव हृदयमें ही होगा, बाहर नहीं, भगवान् हृदयमें ही हैं। वह पेटीमें बन्द नहीं होते। तुम्हारा मन्त्र, तुम्हारा ध्यान, तुम्हारी पूजा-पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। तुम्हारे गुरु जैसा त्रिलोकीमें कोई दूसरा नहीं-

सबसे मिलिये सबसे जुलिये सबका लीजिये नांव,
हां जी हां जी करते रहिये, बैठिये अपने ठांव।

उन्होंने मुझे यह उपदेश किया कि पूजाके प्रारम्भमें अपने हृदयमेंसे भगवान्को निकालकर मूर्तिमें बिठा देना चाहिये और पूजाके अन्तमें मूर्तिमेंसे आँखके रास्ते हृदयमें ले जाना चाहिये। असलमें भावसे आवाहन, भावसे पूजन और भावसे ही विसर्जन भी करना चाहिये। भगवान्का नित्यधाम हृदय ही है।

जहाँ वज्रकी-सी दृढ़ता, समुद्र-सी गम्भीरता और ग्राहकी-सी अपनी निष्ठाकी पकड़ है, वहाँ भगवान् प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि अचलता और एकरसता ही भगवान्का स्वरूप है।

★ ★ ★

● ध्यान की उपयोगिता

४. ध्यानके सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण बात मैंने श्रीमहाराजजीसे सीखी। गुरुकी मूर्ति मृण्मयी नहीं है, मनोमयी है। वह स्थायी तथा पूर्ण है। उसको हमारे चित्तसे दूर करनेका किसीमें सामर्थ्य नहीं है। अतः मनोमय गुरुकी मूर्ति अन्तःकरणमें निश्चल है। गुरुके हृदयमें जो भगवान् विराजते हैं, उनके ध्यान तथा प्राप्तिमें कोई कठिनाई नहीं है। अब हम यदि यह ध्यान करें कि

हमारे हृदयमें श्री गुरुदेव हैं और वह अपने हृदयमें स्थित भगवान्का ध्यान कर रहे हैं, तो हमारा ध्यान निश्चल हो जायगा। मैने इसका अभ्यास किया और बात अक्षरशः सत्य पायी, अन्य मौलिक बात यह मिली कि ध्यानमें मनकी एकाग्रता तब होगी जब हम देहाध्याससे ऊपर उठकर मनको आज्ञा देंगे कि शान्त हो जाओ और यदि हम स्थूल देहमें बैठकर ध्यान करेंगे, तो मन जो शरीरसे सूक्ष्म है, आज्ञा नहीं मानेगा।

श्रीमहाराजजीसे मेरा पत्र व्यवहार काफी हुआ। 'पत्रसंग्रह' पुस्तकमें छपे हुए अधिकांश पत्र मुझको ही लिखे हुए हैं जिनसे प्रतीत होता है कि श्रीमहाराजजी कितने प्रेम और सौहार्दसे हमारे चित्त व जीवनका सुन्दर निर्माण करते हैं। एक बात मैंने अभ्याससे और सीखी कि श्रीमहाराजजीका ध्यान करनेसे मुझको अपने प्रश्नोंके उत्तर उनसे प्राप्त होने लगे, जिससे मेरे हर्ष सन्तोषका पारावार न रहा और समूचा साधनपथ अत्यन्त सरल हो गया।

★ ★ ★

● व्यवहार की शिक्षा

५. मैंने महाराजश्रीसे केवल परमार्थ और भजन-सम्बन्धी शिक्षा ही प्राप्त की हो, ऐसा नहीं है, व्यवहारकी छोटी-छोटी तथा बड़ी-बड़ी बातें उन्होंने मुझको कृपा कर समझाई हैं। उदाहरणार्थ दोषों तथा दुःखका अत्यन्ताभाव केवल ब्रह्मज्ञानसे होता है; परन्तु व्यवहारमें सुखी होनेके लिये किसी प्रकारका आवेश कभी नहीं होना चाहिये—न कामका, न क्रोधका, न लोभका। पैसेकी आमदनी और खर्चका उचित प्रबन्ध करना चाहिये; परन्तु उसमें महत्त्वबुद्धि तथा संग्रहका रस नहीं आना चाहिये। धन व उद्योग दानसे बढ़ता है, परन्तु धन-प्राप्तिमें असफल होने पर खर्च घटाना चाहिये, धन-प्राप्तिके लिये निन्दनीय कार्य नहीं करने चाहिये। माता-पिता, भ्राता व पत्नीसे प्रेमका व्यवहार रखे, छोटी-छोटी बातोंपर लड़े नहीं। कुछ बातें मानकर व कुछ मनवाकर मेलसे रहना चाहिये, जिद करना अल्प बुद्धिका लक्षण है। अपने शरीर एवं बुद्धिसे उनकी उचित सेवा करते रहो, परन्तु मनमें उसका कोई संस्कार या स्मृति न बने ऐसी चेष्टा

भरसक करनी चाहिये। संसारको हमारा धन व तन चाहिये, मन नहीं। मनके भूखे अमना भगवान् हैं, उनको ही मन देना चाहिये। संसारके काम कभी समाप्त नहीं होते, इसलिये कालयापन करना चाहिये। इसका मन्त्र है, प्रत्येक अवस्था और परिस्थितिमेंसे तुरन्त अपना हाथ बचाकर निकाल ले। ऐसा न हो कि हम कहीं फँसे रह जायँ। हमको किसीसे प्रेम हो तो कर लें और अपनी स्वेच्छासे छोड़ दें, परन्तु यह भ्रान्ति कभी न रखें कि कोई अन्य व्यक्ति हमसे प्रेम करता है। दुःख व बन्धनको किसी हालतमें स्वीकृति नहीं दें। किसीके प्रेमाग्रहसे ज्यादा या प्रतिकूल भोजन कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि अन्न ब्रह्मसे पेट ब्रह्म अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने वैराग्यके अभिमानके कारण किसीसे लड़ना नहीं चाहिये। अपने नियमोंके पालनमें यथासम्भव दृढ़ रहो, परन्तु नियमका अभिमान नहीं हो। बड़ा नियम होता है, नियमको धारण करने वाला नहीं। स्वास्थ्यकी रक्षा करना आवश्यक है। निरन्तर भजन करनेके नामपर स्वास्थ्य खराब कर लेना मूर्खता है। ऐसा मनुष्य पूर्णताका अधिकारी नहीं है।

श्रीमहाराजजीने मुझे यह आश्चर्यजनक एवं लाभदायक प्रेरणा दी कि मैं अपना प्रातःकालका भजन दो हिस्सोंमें बाँटकर बीचमें थोड़ा भ्रमण कर आया करूँ, वह मेरे लिये उचित होगा। अहिंसा, सत्य, अक्रोध इत्यादि निर्विशेष दैवी गुणोंको सहज धारण करनेकी युक्ति श्रीमहाराजजीने सिखायी और कहना न होगा कि ब्रह्मचर्य-पालन तथा उसके शास्त्रोक्त खंडनका और दोनों अवस्थाओंमें अलौकिक सुख प्राप्त करनेके सफल नुस्खे भी श्रीमहाराजजीके उपदेशसे नहीं बचे। मैंने उनसे अच्छा लाभ उठाया।

संस्थाओंके सम्बन्धमें श्रीमहाराजजीका आदेश था कि संस्था वृक्षकी बाड़के समान प्रारम्भमें उपयोगी और रक्षक हैं, परन्तु साधकको वृक्षकी तरह उनसे ऊँचे व पार उठ जाना चाहिये अन्यथा उसका नाश हो जायगा। कार्य हम अच्छी संस्थाके उद्देश्योंके अनुसार करें; परन्तु किसी भी संस्थासे बद्ध न हों। समाज-सेवा करना उस साधकका कर्तव्य नहीं है जो वैराग्यपूर्वक एकान्त सेवन व विशुद्ध भगवत् प्राप्ति चाहता है। अन्तर्यामी परमेश्वर समष्टिके सब कार्योंकी पूर्णताका जिम्मेवार है और प्रत्येक प्राणी ईश्वर प्रेरणासे बर्तता है।

संसारकी वस्तुएँ प्रकृतिके प्रवाहमें बहती रहती हैं। हमारी प्रत्येक आवश्यकता ईश्वरीय नियमके अनुसार अवश्य पूरी होती है। प्रारब्धसे हमें सुख मिलता है न कि ईंट, पत्थर, स्वर्ण इत्यादि। इसलिये हमको बेफिक्र, निश्चिन्त, सुखी हो जाना चाहिये–

'व्यास भरोसे कुंवरि के सोवत पांव पसार।'

संक्षेपमें महाराजजीका उपदेश था कि जीवन सरल और स्निग्ध होना चाहिये। चित्त दुःखग्राही नहीं हो और व्यवहार शास्त्रोक्त हो। हृदयसे परमात्माका स्पर्श प्रत्येक काल, प्रत्येक देश और प्रत्येक अवस्थामें होता रहे। कार्य सब सावधानीसे करने चाहिये। कथा बाँचकर उनकी अनुकूल व्याख्या करले ताकि चित्तमें दुःखका संस्कार उदय न हो और भूतकी स्मृति तथा भविष्यका भय हमारे वर्तमान उपस्थित सुखको आच्छादित न करे। कोई दुःखी प्राणी हमारे सम्पर्कमें आये तो उसका दुःख यथा साध्य बिना दुःखी हुए दूर करे। समष्टिके दुःखसे कभी दुःखी नहीं हो तथा वर्तमान क्षणका, जो ब्रह्म है, स्पर्श कर शाश्वत आनन्दका अनुभव करे।

● स्वाध्याय और सत्संग

६. महाराजश्रीकी कृपासे मुझको क्या प्राप्त नहीं हुआ और मेरी कौनसी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई। सन्त दर्शनोंमें जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती, श्री शंकरानन्दजी भिक्षु बिठूरके श्रीस्वामी ज्ञानाश्रमजी महाराज, (जिनके पास श्रीउड़िया बाबाजी महाराज शिष्य रूपसे कुछ समय रहे थे) प्राप्त हुए और उनके तथा जगद्गुरु श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी, स्वामी श्रीकरपात्रीजी तथा त्रिवेणीपुरीजी महाराज इत्यादि अनेक साक्षात्कार प्राप्त संतोके मार्मिक उपदेश, कृपा एवं प्रसाद प्राप्त हुए। ग्रंथोंमें श्रीमद्भागवत तथा श्रीभगवद्गीताके रहस्य, खंडनखंडखाद्य, अद्वैतसिद्धि, सर्वधर्मसमन्वय, योगसार, न्याय दर्शन, योगवासिष्ठ, पंचदशी, उपनिषद् इत्यादि अनेक ग्रंथ महाराजश्रीकी कृपा व प्रेरणासे पढ़ने और आलोचना करनेको मिले तथा उनमें वर्णित विषयोंका निःसंकोच एवं स्पष्ट अवलोकन हुआ। एक बात कह दूँ जिसका मुझ पर अधिक

गहरा प्रभाव पडा। महाराजश्री किसी विशेष प्रक्रिया, शब्द या भावमें बद्ध नहीं होते, बिलकुल नवीन व ताजा विचार करते हैं और यह जाग्रत् ब्रह्मका एक मौलिक लक्षण है। एक बार मुझको समझानेमें घट-पटके दार्ष्टान्तिका प्रयोग किया। मैंने सविनय कहा, 'महाराज, मैंने आज तक कुम्हारको घड़ा बनाते और जुलाहेको कपड़ा बुनते नहीं देखा; फिर दृष्टान्त बिना समझे, दृष्टांत क्या समझूंगा ? प्रसन्न होकर वे बोले–'वेदान्तके फारमूलामें घट-पट ही उपादान नहीं हैं। लो अब रेडियो, टेबिल, बिजली। घरमें दृष्टान्तके रूपमें अब लो, अधिष्ठान, अध्यस्त ! अब क्या कठिनाई है ?' वेदनिन्दक जिज्ञासुको भी वे उसी प्रेमसे शिक्षा देते हैं जैसे वेदपाठी ब्राह्मणको। महाराजश्रीको नयी-नयी सूझ और प्रतिभाका उदय होता रहता है, उनकी कृपा और प्रेरणासे उनके सान्निध्यमें और अलग-अलग भी अनेक तीर्थोमें भ्रमण करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उसमें जो सुखद अनुभव हुए, वे भुलाये नहीं भूलते।

● दक्षिण की यात्रा

सन् १९५६ में श्रीदैवी सम्पद् मण्डलके अध्यक्ष स्वामी श्रीशुकदेवानन्दजीने तीनों धामकी तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन निकाली। मैंने दक्षिणी भारतका कभी दर्शन नहीं किया था। अतः श्री महाराजजीकी आज्ञा व परामर्शसे निश्चय हुआ कि मैं यात्रा ट्रेनमें मद्राससे सम्मलित हो जाऊँ और पंढरपुर तक साथ रहूँ। प्रबन्ध कठिन था; क्योंकि ट्रेन भरी हुई थी और सीटें सब रुकी थीं। परन्तु श्री स्वामी शुकदेवानन्दजी तथा श्री स्वामी सदानन्दजीकी कृपासे मुझको श्रीमहाराजजीके डिब्बेमें ही जगह मिल गयी और मैंने उनके साथ ही पन्द्रह दिन दक्षिण के मुख्य तीर्थोंका देवदुर्लभ आनन्द प्राप्त किया। श्रीमहाराजजीकी दयालुता व स्नेह मेरे ऊपर भर-भरकर उँडेला जाता था। मेरे आचारानुकूल भोजन, भजन, देवताओं, महात्माओंके दर्शन, तीर्थोंका माहात्म्य, सनातन धर्मके रहस्य–सब छोटी-बड़ी बातोंका श्रीमहाराजजी आश्चर्यजनक सावधानीसे ख्याल रखते थे और मैं प्रातःसे राततक नित्य आनन्द व कृतज्ञतासे फूला-फूला था और नित्य नूतन अनुपम दर्शन तथा अनुभव प्राप्त करता था। मैंने रामेश्वर, चिदम्बरम्, घनुष्कोटि, कन्याकुमारी, मीनाक्षी, बंगलोर, मैसूर इत्यादिके अत्यन्त सुन्दर व

दिव्य दर्शन प्राप्त कर अपनेको धन्य माना। पाठकोंके मनोरंजनके लिये तीर्थकी एक कथा कहता हूँ—

● यथोक्तकारी भगवान

एक आचार्य सन्त थे, उनके एक शिष्य बड़े महात्मा थे। शिष्य सन्तकी एक शिष्या राजदरबारकी नर्तकी थी, जो भक्त थी और भगवान्‌के मन्दिरमें सेवा करने आया करती थी। नर्तकी वृद्धा होकर मन्दिरमें बड़े परिश्रमसे झाड़ू, सफाई-धुलाई इत्यादि सब सेवा करती थी; परन्तु अवस्थाके कारण उसको कष्ट होता था।

शिष्य सन्तने श्रीभगवान्‌से प्रार्थना कि इस वृद्धा भक्ताको युवा बना दो। भगवान्‌ने प्रार्थना स्वीकार करली। वह नर्तकी युवती हो गयी और ठाकुरजीकी सेवा बड़े प्रेम व उत्साहसे करने लगी। यह बात समस्त देशमें फैल गयी और लोग चमत्कारसे चकित हो गये।

यह समाचार राजाको ज्ञात हुआ। वह भी वृद्ध था, उसने उक्त शिष्य सन्तसे प्रार्थना कि 'महाराज, भगवान्‌से प्रार्थना करके मुझे भी युवक बनवा दो।' सन्तने उत्तर दिया—'आप विषयी हैं, मैं विषयीके भोगके लिये प्रार्थना करके अपनी जिह्वा अपवित्र नहीं कर सकता।' राजा क्रोधित हो उठा और बोला, 'तुम्हारे मनमें नर्तकीके प्रति पक्षपात है। अच्छा, तुम मेरे देशसे बाहर निकल जाओ।'

शिष्य सन्तने बाहर जाना स्वीकार लिया और चलनेके लिये अपना सामान बाँधने लगे। यह समाचार पाकर उनके गुरु आचार्य सन्त बोले—'तुम देशसे बाहर जा रहे हो तो हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे।' फिर आचार्य सन्तने श्रीभगवान्‌से प्रार्थनाकी कि 'हमारा शिष्य देशसे बाहर जा रहा है, हम भी उसके साथ बाहर जा रहे हैं और भगवन्। आप हमारे बिना कैसे रहेंगे, आप भी देशसे बाहर पधारें!' श्रीभगवान्‌ने प्रार्थना स्वीकार की और शेष नागको लपेटकर आगे-आगे चल दिये। उनके पीछे आचार्य सन्त और उनके पीछे

शिष्य सन्त शहरसे बाहर निकल गये । एक आश्चर्य हुआ, श्रीभगवान्के साथ समस्त प्रकाश चला गया और शहरमें घोर अन्धेरा छा गया । हाथको हाथ नहीं दिखाई देता था ।

प्रजामें बड़ा असन्तोष फैला । लोग राजाको दोष देने लगे कि अपने भोगके कारण सन्तोंको देश-विदेश कर दिया । राजाको भी पश्चाताप हुआ और सन्तों व भगवान्में श्रद्धा हुई । शहरसे बाहर सन्तोंकी सेवामें आकर और अपना अपराध स्वीकार कर उसने क्षमा माँगी और उनसे वापिस चलनेकी प्रार्थना की । आचार्य सन्त बोले, 'हमको कोई आपत्ति नहीं है, शिष्य सन्तसे पूछ लो ।' शिष्य सन्त बोले—'हम अपनी इच्छासे शहरसे बाहर नहीं आये । आपकी आज्ञासे आये थे, आप चाहते हैं तो हम वापिस चलेंगे ।'

शिष्य सन्त वापिस चलनेको तैयार हो गये । आचार्य सन्तने श्रीभगवान्से प्रार्थना की-'हे प्रभो, हमारा शिष्य वापिस शहरमें जा रहा है, मैं भी उसके साथ जाऊँगा और आप बिना हमारे कहाँ रहेंगे, इसलिये आप भी कृपा कर पधारें ।' श्रीभगवान् राजी हो गये और शेषनागको लपेटकर आगे-आगे, उनके पीछे आचार्य सन्त व शिष्य सन्त चले । शहरका प्रकाश ठाकुरजीके साथ वापिस आ गया भगवान् निज मन्दिरमें पधारे । परन्तु पधार कर भगवान्ने नई लीला की—शेषनागको उलट कर फैलाया और उसपर लेट गये । ठाकुरजीका नाम यथोक्तकारी भगवान् हुआ । जिस दिन वह शहरसे बाहर पधारे थे, उस दिन अब भी मेला होता है तथा उपरोक्त लीलाकी स्मृति मनाई जाती है । ऐसी-ऐसी कथायें दक्षिणयात्रामें श्रीमहाराजजीकी कृपासे सुननेको मिलीं ।

★ ★ ★

कर्तव्यकी प्रेरणा

७. लौकिक दृष्टिसे मुझसे अधिक सुखी शायद ही कोई हो । स्नेही माता-पिता, उच्च पदाधिकार प्राप्त आज्ञाकारी एक सहोदर भाई, धर्मानुकूल साध्वी पत्नी । १९३२ में विवाह हो जाने पर भी मेरे कोई सन्तान नहीं थी । यह मुझको तो नहीं अखरता था, परन्तु मेरे माता-पिता और सास श्वसुर इस कारण

दुःखी और निराश थे । उन्होंने श्रीमहाराजजीसे मेरे लिये सन्तानकी सविनय प्रार्थना की । अन्ततोगत्वा १९५० में मेरे एक कन्या हुई । उसके जन्मके समय एक दिव्य सन्देश व अलौकिक चमत्कार हुआ और घर भरमें बहुत खुशी मनाई गयी । मेरे सन्तान होनेके आशीर्वादमें श्रीमहाराजजीके अतिरिक्त अनेक पुरुष व स्त्री सन्तोंका हाथ है, जिनसे मेरे माता, पिता तथा सास-श्वसुरने प्रार्थना की थी । इसलिये सन्तान श्रीमहाराजजीकी कृपासे हुई या और किसी सन्तकी, इसका व्यावर्तक प्रमाण मेरे पास नहीं है । मेरे माता-पिताको मेरे सन्तान होनेके चमत्कारसे सन्तोष नहीं हुआ । उन्हें भय था कि मैं साधु हो गया हूँ अथवा हो जाऊँगा और अच्छे नम्बरोंसे वकालत पास करके तथा कुशाग्र बुद्धि होकर भी मैं पैसा नहीं कमाता, यह दुःख उनको लिपटा रहा । वह मुझे धन कमाता हुआ देखना चाहते थे । फिर श्रीमहाराजसे अनुनय विनय हुआ, स्पष्ट तथा मूक । इस पर श्रीमहाराजजीने मुझको स्पष्ट उपदेश व मन्त्र दिया कि किस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों पूर्ण पुरुषार्थ हैं और चारोंके अनुसन्धानसे तत्त्वज्ञान हो सकता है और किस प्रकार वकालत की जाय, धन कमाया और खर्च किया जाय, जो असाधारण सुख का हेतु हो और बन्धनका कारण न बने । अतः १८५१ में सुप्रीम कोर्टमें वकालतकी प्रैक्टिस उत्साह पूर्वक प्रारम्भ करने लगा । कहना न होगा कि मेरी प्रैक्टिस श्रीमहाराजजीके आशीर्वादसे बहुत अच्छी चली और काफी आमदनी हुई । अच्छे वकीलोंमें मेरा नाम हुआ और बड़े-बड़े मुकदमें मेरे हाथ से निकले । पिताजी इत्यादि पूर्वज सम्बन्धियोंकी चिर-अभिलाषा पूर्ण हुई और अब श्रीमहाराजजीके उसी मन्त्रोपदेश की पूर्तिमें कुछ वर्ष पश्चात् मैंने निवृत्त होकर एकान्त सेवनका निश्चय किया हुआ है, जो आशा है श्रीभगवान् सदाकी नाईं पूर्ण करेंगे ।

अपने संसारिक लाभ एवं उन्नतिकी इतनी कथा मैंने इसलिये लिखी है कि इसके मूलमें महाराजश्रीकी प्रेरणा ही है । वे कहते हैं कि दिन भर भजन करना अथवा वैराग्यके आवेशमें तने रहना और न कभी टहलना न हँसना, जाग्रत् ब्रह्मका, मस्तीका लक्षण नहीं है । यह जीवनको पंगु और एकांगी बना देता है और उसी स्तरका हानिकारक व बंधनमूलक है, जैसा हमेशा विषय सेवन करना अथवा रागयुक्त रहना । बन्धन तो दोनों ही हैं, चाहे जंजीर सोने की हो अथवा लोहेकी । अतः जीव ब्रह्मकी एकता, संसारका मिथ्यात्व, जीवनकी

पूर्णता एवं व्यवहारिक वेदान्तका रस चखानेके लिये श्रीमहाराजजीने मुझसे ऊपर लिखी संसारकी लीला भी कराई और फिर हाथ पकड़कर भवसिंधुसे पार कर दिया ।

८. महाराजश्रीके उपदेश और रहनी-सहनी केवल तथाकथित प्रैक्टीकल वेदान्त ही है अथवा शास्त्रानुकूल ठोस तत्त्व है, इस सम्बन्धमें मेरा यह कहना है कि धर्म व शास्त्रका रहस्य महाराजश्रीको निरावरण ज्ञात है और हमें हृदयंगम करानेमें उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी । समस्त शास्त्रैकगम्य बातोंका यथार्थ ज्ञान कराया है । वे सनातन धर्मके सब शास्त्र और सिद्धान्तोंको ठीक मानते, उनका प्रतिपादन करते एवं अधिकारी भेदसे सब शास्त्र-वचनोंका समर्थन करते हैं । महाराजश्रीको सगुण साकार इष्टके दर्शन हुए हैं और उनकी कृपासे मुझको भी भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके तथा उनकी रास-लीलाके दिव्य दर्शन हुए हैं । मेरा हृदय प्रेम और आनन्दसे तर है । योगाभ्यासमें आसन, प्राणायाम, ध्यान व समाधिका भली प्रकारसे अनुभव मुझे महाराजश्रीकी ही कृपासे प्राप्त हुआ है ।

★ ★ ★

● महाराजश्रीकी तत्त्व प्रतिपादन शैली

९. महाराजश्रीका वेदान्त सम्बन्धी उपदेश आश्चर्य-चकित कर देता है । अत्यन्त सुगम और सरल रीतिसे गूढ़ से गूढ़ बातें चुटकी बजाते हृदयंगम करा देते हैं । उनसे पूछो, 'महाराज ब्रह्म कैसा है', तो कहेंगे, 'जैसा मैं तुम्हारे सामने बैठा हूँ, बिलकुल वैसा ही ।' उनका मौलिक उपदेश है—'विषयज्ञान और ब्रह्मज्ञानमें अन्तर नहीं है, ज्ञान ज्ञान सब एक हैं, भेद केवल उपाधिका है, जिससे उपहितमें अन्तर नहीं पड़ता । ज्ञान अपरोक्ष व स्वयं प्रकाश है । ज्ञानका ज्ञान नहीं होता । ज्ञानमें ज्ञाता ज्ञेय की त्रिपुटी ही नहीं होती । ज्ञानमें देश, काल, वस्तुसे परिच्छिन्नता नहीं आती, क्योंकि वह भी ज्ञानमें कल्पित है । अज्ञानका प्रकाशक भी ज्ञान है । जीव वास्तवमें नित्य मुक्त पूर्ण ब्रह्म है; केवल अपनी अविद्या, अपनी भूल व अपनी बेवकूफीसे अपनेको परिच्छिन्न व खण्ड मान बैठा है और इसीसे एक व्यक्तिके दुःख-सुखमें राग-द्वेष करके बद्ध, दुःखी व

अल्प अनुभव करता है। प्राणी, श्रद्धा, विचार, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, पञ्चकोशविवेक अवस्थात्रय विवेक एवं अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा किसी भी प्रकार अपने अपरिच्छिन्न ब्रह्म स्वरूपको पहचान ले, फिर उसका जीवभाव, शरीर, जगत् व इसके सम्बन्धी समस्त दु:ख-सुख आदि द्वन्द्व बाधित होंगे और वह नित्य मुक्त होगा तथा उसको प्रत्यग्भिन्न चेतन, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसीत्यादिके वास्तविक अर्थका अनुभव होगा। अपने सच्चिदानन्द स्वरूपको जीव 'त्वं' पदार्थके शोधन तथा उपासनासे बहुधा जान लेता है। जो साधक इसी अनुभवको ब्रह्मज्ञान मानते हैं अथवा अद्वय ज्ञान होने पर प्रपञ्चकी प्रतीतिका ह्रास, विनाश अथवा वैलक्षण्य मानते हैं, वे भ्रान्त हैं। ब्रह्मज्ञान उपाधिरहित जीव व उपाधिरहित ब्रह्मकी स्वत:सिद्ध एकताका अनुभव है, तत्त्वका अनुसन्धान है। वह प्रतीतिका नाश अथवा चमकाना नहीं है। अपनी व ब्रह्मकी एकताकी ठीक-ठीक पहचान होनेपर सर्वात्मभावभूषित, तत्त्ववित् पुरुष समस्त शास्त्रीय और अशास्त्रीय, प्रत्यक्ष व परोक्ष बन्धनों व अविद्यासे मुक्त व्यक्ति नहीं है; वह जीवन्मुक्त ब्रह्म है और उससे जो कुछ होता है, बर्तता व सोचा जाता है अथवा नहीं होता है, वह सब ब्रह्म है। ब्रह्ममें ही ब्रह्मका स्फुरण, रमण है और विलक्षण परमानन्दकी अभिव्यक्ति सहज होती रहती है।'

१०. महाराजश्रीको ब्रह्मज्ञान व महावाक्यका उपदेश स्वयं श्रीभगवान्‌ने साक्षात् प्रकट होकर अपने मुखारविन्दसे किया था, जिसकी पुष्टि अन्तमें सन्तों एवं शास्त्र चिन्तनसे हुई। इस सम्बन्धमें उनकी प्रतिभा और युक्ति, जो अलौकिक होती है, श्रोताओंको चकित कर देती है। उदाहरणार्थ, आत्मा नित्य मुक्त है, अत: अज्ञानीकी आत्मा भी मुक्त ही है। उसका भी बन्धन व जन्म-मृत्यु नहीं होते। ज्ञानप्राप्तिमें अधिकारी एवं साधन चतुष्टयकी आवश्यकता वे स्वीकार करते हैं, परन्तु एक विलक्षण बात वे अपने अनुभवसे कहते हैं कि साधनचतुष्टय सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है, वह कितने कालतक हो, यह शास्त्रका आग्रह नहीं है। जिज्ञासु यदि चरमावृत्तिके उदयके पूर्व एक क्षण भी, शम दमादि साधनोंसे सम्पन्न है, तो वह निश्चय ही ज्ञानका अधिकारी है। जिसकी समझमें आ जाय और जिसे स्वरूपकी पहचान होजाय, वह साधनकी परीक्षा पास न होनेपर भी उत्तम अधिकारी है। उसके ज्ञानमें सन्देह करनेकी

आवश्यकता नहीं है । इस सम्बन्धमें श्रीमहाराजजी एक मजेदार दृष्टान्त देते हैं । एक गांवकी बिरादरीमें रिवाज था कि वर पक्ष दो हजार रुपयें खर्च करके विवाह करता था । एक आदमीका विवाह केवल पाँच सौ खर्च करनेसे हो गया और उसकी बहू आ गयी । उससे गांववालोंने पूछा–'तुमने कितने रुपये खर्च किये ?' वह बोला–'पांच सौ ।' गांववाले बोले–'गलत है, बिना दो हजार खर्च किये तुम्हारा विवाह नहीं हो सकता ।' उसने उत्तर दिया–'पाँच सौ से विवाह हो सकता है अथवा नहीं, यह व्यर्थ बहस तुम करो, मुझको तो बहू मिल गयी और उसका सुख प्राप्त है ।' अतः ज्ञान हो गया, तो कितना साधन सम्पन्न चाहिये था, यह प्रश्न निरर्थक है । आप देखें कि इस युक्तिसे कितना साहस व प्रेरणा मिलती है ।

महाराजश्री कहते हैं, कि अभी, यहीं और इसी परिस्थितिमें ज्ञान प्राप्त करके अत्यन्त सुखी हो जाओ । जीवन भर साधनकी विडम्बनामें मत फँसो कि अमुक साधन, इतने समयतक करके, अमुक स्थिति प्राप्त करेंगे और फिर ज्ञान-पिपासा मिटानेका प्रयत्न करेंगे । जो साधक यह कल्पना करते हैं कि अमुक समय किसी पहाड़की कन्दरामें बैठकर अत्यन्त एकान्तमें, सुन्दर शीतल वायु चलनेपर मधुर स्वर-गान करेंगे और फिर समाधिमें लीन हो जायँगे, वह तो अपने शरीरकी उपासना करते हैं तथा धोखेमें हैं । साधककी जिज्ञासा तीव्र होनी चाहिये । जहाँ बैठे-बैठे प्रश्नका उदय हुआ, वहाँसे उठो मत, जबतक उसको विचारकर हल न करलो । महाराजश्रीने स्वयं ऐसा ही किया है और ऐसा ही उपदेश देते हैं कि प्राप्तकी प्राप्तिमें व मुक्तकी मुक्तिमें क्या विलम्ब है, क्या श्रम है और किस देश, काल व अवस्थाकी प्रतीक्षा है, केवल जिज्ञासा ईमानदारीकी तथा तीव्र होनी चाहिये । अधिकांश जिज्ञासु केवल कर्ण-सुख अथवा कालक्षेपके लिये सत्संग करते हैं, यद्यपि उनको थोड़ी-सी भी सच्ची पिपासा हो, तो शीघ्रतासे आगे बढ़ जायँगे और श्रवणमात्रसे प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार करके तत्काल जीवन्मुक्त व शाश्वत सुखी हो जायँगे और महाराजश्रीके उपदेशसे ऐसे कई हुए भी हैं । उनके अबतक बहुत-से आध्यात्मिक, धार्मिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं । सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई इसदशामें स्तुत्य प्रयास कर रहा है । महाराजश्रीके सत्संगसे बहुतोंको लाभ हुआ है, सभी उनसे कुछ न कुछ पाते हैं, वह सब लिखनेकी आवश्यकता नहीं

परन्तु यह बताना अनिवार्य है कि ऐसे सूक्ष्म दर्शी तत्त्ववित् जंगम ब्रह्मकी रहनी-सहनी कैसी है ।

★ ★ ★

● जीवन्मुक्तिकी रहनी

११. महाराजश्रीका स्वभाव अत्यन्त कोमल है । उनको कभी किसी प्रकारका आवेश नहीं आता । उन्होंने कभी किसीको गाली नहीं दी । उनके सामने ही किसीका किसीको कठोर शब्द बोलना उन्हें सहन नहीं होता । धुरन्धर पारदर्शी होनेपर भी वे बड़े प्रेम व नम्रतासे व्यवहार करते हैं । साधक, भक्त और प्रेमी उन्हें अपना सर्वस्व, आराध्य व परम प्रेमास्पद मानते हैं । महाराजश्रीके हृदयमें वैराग्य है । किसी भी व्यक्ति, बात व परिस्थितिका उनको पक्षपात अथवा दुराग्रह नहीं है । व्यक्ति चाहे धनी हो अथवा गरीब, बड़ा सेवक हो अथवा उन्हींसे रोटी मांगकर उनको भोग लगानेवाला, आस्तिक-नास्तिक, स्त्री-पुरुष किसी भी जाति या श्रेणीका क्यों न हो—सब उनसे एक-सा प्रेम प्राप्त करते हैं । परोक्ष होनेपर, जहाँतक मुझको ज्ञान व स्मरण है, उनको किसी भी व्यक्तिकी आजतक कभी याद नहीं आयी और न उससे मिलने की इच्छा हुई । महाराजश्रीने इसी जन्ममें पूर्वमें कठिन तपस्या की है और अब आरामसे श्रेष्ठ श्रीमानोंकी तरह रहते हैं, फिर भी भिक्षाकी सूखी रोटी व राजसी स्वादिष्ट भोजनमें, तथा डन्लोपिलो व ईंटके तकियेमें, एयरकन्डीशंड कमरे तथा कर्णवासकी झाडीमें एक-सा सुख अनुभव करते हैं और एक स्थितिके होने व दूसरीके न होनेपर कभी उनके मुखपर ग्लानि व मलिनता नहीं देखी गयी। अपनी बातके पक्षमें बहुत-से तपस्वी व विद्वानोंको क्रोधकी सीमापर्यन्त दृढ़ आग्रह देखा गया है, परन्तु महाराजश्रीकी बातको जब कोई अनधिकारी काट देता है, तो वे चुप हो जाते हैं और दूसरा विषय चला देते हैं । इससे प्रतीत होता है कि उन्हें सूक्ष्म अहंकार लेश भी नहीं है ।

★ ★ ★

● त्यस्तदण्ड स्वामीजी

१२. श्रीमहाराजजीके एक भक्त थे। वे शिक्षा ग्रहण करने पधारे। महाराजश्रीके सत्संग व कृपासे उन्होंने बुद्धिकी विलक्षण कुशाग्रता और यश व व्यवसायमें आशातीत सफलता प्राप्तकी। उनसे एक घृणित अपराध बन गया जिसे वह छिपाते रहे। अपराध प्रकट होनेपर, मैंने महाराजश्रीसे उनके लिये दण्डकी व्यवस्था माँगी। उनका व्यवसाय बिलकुल बन्द कर देना और उनकी घोर बदनामी उनके परिचितोंमें फैला देना सोलहों आने श्रीमहाराजजी-के हाथोंमें था। मैं ऐसे ही किसी उत्तरकी आशा करता था। परन्तु जो उत्तर उन्होंने दिया, उससे मैं दंग रह गया। यह व्यवस्था किसी मनुष्यकी है अथवा दिव्य दीनदयालु अकारण करुणा-वरुणालय की ? पत्रमें लिखा था--'प्रिय विपिन बाबू, बड़ी मार कबीरकी, चित्तसे दिया उतार। और क्या करना है ? जीविका हनन करना हमारा काम नहीं। ईश्वर भी पापी व नास्तिक सभीको दोनों समय रोटी देता है।'

★ ★ ★

● जाग्रत ब्रह्म

१३. हम भक्त व अभक्त श्रीमहाराजजीमें अपनी खण्ड दृष्टि व अनुभव से गुण दोषका अध्यारोप करते हैं। वास्तवमें महाराजश्री गुणातीत एवं स्वनामधन्य अखण्डानन्द हैं। उनकी वाणी व विचार ब्रह्मसंस्पर्श करके प्रकट होते और सबको मुग्ध कर देते हैं। उनकी क्रिया व भावसे ब्रह्मानंद छलकता है और उनके सम्पर्कमें आनेवाले उनकी सन्निधि और सत्संग पाकर गद्‌गद् हो जाते हैं। महाराजश्री कृतोपास्ति, ब्रह्मविद् ब्रह्मैव, स्वयं-प्रकाश ब्रह्म हैं। प्रत्येक देश, काल व परिस्थितिमें सद्‌घन, चिद्‌घन व आनन्दघनकी अभिव्यक्ति झलकती व परमानन्द बिखेरती रहती है। ऐसे जाग्रत ब्रह्मकी कुछ कथा ऊपर लिखकर मैंने अपनेको कृतार्थ ही किया है और अब—

विश्वं दर्पण दृश्यमान नगरी तुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्री दक्षिणामूर्तये ॥

ज्ञान कणिका

जब साधक ब्रह्ममें विशाल लम्बाई एवं चौड़ाईकी कल्पना करके ध्यानस्थ होता है, तब वह वस्तुतः ब्रह्ममें स्थित नहीं होता, बल्कि व्योमासुरके द्वारा निर्मित गुहामें ही निरुद्ध होता है; क्योंकि वह व्योम अर्थात् आकाशमें कल्पित लम्बाई-चौड़ाईमें प्रतिबद्ध हो गया है। वृत्तिरूप देवकीमें अवतीर्ण ब्रह्म चैतन्य अर्थात् श्रीकृष्ण ही इसका नाश करते हैं, तब साधकरूप ग्वालबाल इससे मुक्त होते हैं।

★ ★ ★

पश्यक अर्थात् देखनेवाला ही वर्ण विपर्यय करनेपर कश्यप हो जाता है। यह परमात्माका ही एक नाम है। यह अदितिके संयोगसे देवता और दितिके संयोगसे दैत्योंका पिता है। द्यति इति दितिः—जो टुकड़े-टुकड़े कर दे, दिति-भेद-बुद्धिको कहते हैं। उसके विपरीत अभेद बुद्धि अदिति है। अभेद बुद्धिसे दैवी सम्पत्ति एवं भेदबुद्धिसे आसुरी-सम्पत्तिकी उत्पत्ति होती है।

★ ★ ★

उपनिषदोंमें परमात्माको अप्रमेय कहा गया है। अप्रमेयका अर्थ होता है, जो किसी प्रमाणका विषय न हो। यदि परमात्मा अन्य होता, तो वह किसी न किसी प्रमाणके द्वारा विषय होता और फिर तो वह आभासभास्य अर्थात् घट-पटादिके समान स्थूल विषय और जड़ होता, दृश्य होता और विकारी भी होता। अप्रमेय कहनेका अर्थ है, वह अन्य नहीं है, अपना स्वरूप है; क्योंकि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमा इन चारोंको सिद्ध करने वाला अपनी आत्मा ही है। संक्षेपमें, परमात्माको अप्रमेय बतलानेका अर्थ अपने स्वरूपको ही परमात्मा बतलाना है।

अन्यत्वे नाप्रमेयत्वं प्रमेयत्वे च दृश्यता ।
अतोऽप्रमेयता श्रौती प्रत्यक्त्वं न विमुञ्चति ॥

★ ★ ★

व्यष्टिका आधार सत् है, समष्टिका आधार भी सत् है, फिर दोनोंमें भेद किसने किया ?

सत् स्वरूपके अज्ञानने ।

'मैं चेतन हूँ,' 'तुम चेतन हो,' 'वह चेतन है' । चेतन-चेतनमें भेद किसने किया ?

चेतन स्वरूपके अज्ञानने ।

'मैं प्रिय हूँ,' 'तुम प्रिय हो' और 'वह प्रिय है'–प्रिय-प्रियमें भेद किसने किया ?

प्रिय स्वरूपके अज्ञानने ।

सत्-सत्में भेद करनेवाला असत् हैं । चित्-चित्में भेद करनेवाला असत् है और प्रिय-प्रियमें भेद करनेवाला असत् है ।

तत्त्व दृष्टिसे असत्, व्यवहार दृष्टिसे सत् अतएव अनिर्वचनीय, भावरूप इस अनादि अज्ञानकी निवृत्ति केवल तत्त्वज्ञानके द्वारा ही होती है ।

★ ★ ★

उपाधिका अपवाद विवेककी पराकाष्ठा है; परन्तु यह तभी सम्भव है जब औपाधिक भोगोंके प्रति अरुचि हो । यही वैराग्यकी पराकाष्ठा है । विवेक और वैराग्य परस्पर उपकारी हैं ।

★ ★ ★

क्या आपने कभी विचार किया है कि द्रष्टा एवं दृश्यकी विभाजक रेखा क्या है ? यदि यह अन्य है तो दृश्य ही है और अन्य नहीं है तो द्रष्टा ही है । ऐसी अवस्थामें द्रष्टा और दृश्यका भेद किस विभाजक रेखाके आधारपर

टिका हुआ है ? यह ब्रह्म स्वरूपका अज्ञान ही है। जहाँ द्रष्टाने अपनेको ब्रह्म जाना, दृश्यका बाध हो गया; क्योंकि दृश्य अपने अभावके प्रकाशक अधिष्ठानमें ही भास रहा है। जो भी वस्तु अपने अभावके अधिकरणमें भासती है, वह मिथ्या होती है। मिथ्या वस्तु अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती, इसलिये तत्त्वत: मिथ्या कही जानेवाली वस्तु भी ब्रह्म ही है।

★ ★ ★

वसुदेवने गुरुजनोंसे बुद्धि प्राप्त की है। रास्तेमें पड़ी बुद्धि काम नहीं देती। बड़ोंकी सेवा करके प्राप्त बुद्धि अपने वशमें होती है। अन्यथा परमार्थके पथपर चलनेवालेको विमुख करनेके लिए देवता, यक्ष, गंधर्व, किन्नर दर्शन देक ललचाकर ठगते हैं।



● संबोधन ●

श्रीहरिः

परम प्रेमास्पद आत्मदेव !

बस, तुम्हीं तुम हो। तुम्हीं पत्र लिखकर प्रश्न करते और तुम्हीं पत्रका उत्तर देते हो। तुमसे अलग कुछ न कभी था, न है, न होगा। तुम्हीं सत्य जीवन हो, तुम्हीं शुद्ध ज्ञान हो, तुम्हीं परम प्रेमस्वरूप आनन्द हो ! सब तुम्हारी ही महिमा है। सब तुम्हारी ही स्तुति है। यह बात अलग है कि चाहे अपनेको तुम कुछ भी जानो, कुछ भी मानो, तुम्हारा स्वयंभवन, तुम्हारी स्वयंप्रकाशता और तुम्हारा स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण है। यह तुम्हारी महिमा ही है कि तुम अपनेको दुःखी मानकर रोते हो, पापी मानकर कोसते हो, सुखी मानकर हंसते हो और पुण्यात्मा मानकर अभिमान करते हो। नारायण ! यही तो तुम्हारी मौज है कि तुम अपरिच्छिन्न होकर भी अपनेको परिच्छिन्न देखते हो। सम्राट् होकर चपरासी अथवा कंगालके रूपमें अपनेको प्रकट कर रहे हो। न यह अविद्या है, न विद्या। न यह माया है, न लीला, न विमर्श। स्वयं तुम ही तुम हो।

ये पत्र और इनमें प्रकट होता हुआ आनन्द भी तुम्हीं हो।

बम्बई,
रथयात्रा-२०२१

अपना आप—
अखण्डानन्द सरस्वती

यह स्मरण रखनेकी बात है कि अनन्तशक्ति हमारे पीछे है—हमारी सहायक है; छोटी-मोटी परिस्थितियाँ तो यों ही आती जाती रहती हैं। तुम केवल अपने एक-एक क्षणको परमात्माके साथ जोड़ते रहो।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

आपके नाम

वर्षों पूर्व यह पत्र लिखे गये थे। उनके भाव; भाषा और शैलीमें कोई परिवर्तन किये बिना कुछ व्यक्तिगत बातें निकालकर उन्हें ज्यों-का-त्यों आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, आप इन्हें पत्रलेखनकलाकी कसौटीपर नहीं कसेंगे, अपने लाभकी दृष्टिसे पढ़ेंगे।

परम प्रेमास्पद पाठक,

सप्रेम नारायण स्मरण।

कोई भी, एक पत्र अथवा सब पत्र मिलकर भी वस्तुकी पूर्ण व्यञ्जना करनेमें असमर्थ हैं। उनका घेरा सीमित है। वे भिन्न-भिन्न प्रश्नोंके उत्तरके रूपमें एक विशेष प्रकारके अधिकारीके लिये लिखे गये हैं। सम्भव है, उसमें कहीं भिन्न प्रकारकी साधनाका यथेष्ट आदर न किया गया हो; परंतु मैं अपनी ओरसे आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आप चाहे किसी भी परिस्थितिमें हों, साधन करते हों, न करते हों-मेरे अपने स्वरूप ही हैं। आपका पन्थ, मत, सम्प्रदाय भले ही पृथक्-पृथक् हो, आप मेरे निजस्वरूप ही हैं। 'आप', 'वह', और 'मैं'—यह शब्द अलग-अलग हैं, वस्तुतः सब एक ही तत्त्वके बोधक हैं। अपने स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान आत्मदेवसे अतिरिक्त दूसरी और कोई वस्तु नहीं है। स्वयंप्रकाश, सर्वविभासक आत्मसत्ता ही सर्वाधिष्ठान अनन्त ब्रह्मसत्ता है।

यदि आपको ऐसा प्रतीत होता हो कि मैं कर्ता-भोक्ता-परिच्छिन्न एवं संसारी जीव हूँ, पाप-पुण्य, सुख-दुःख आना-जाना आदि विभिन्न भावोंसे आक्रांत हूँ तो आप मेरी बात मानिये। अपना चरित्र शुद्ध कीजिये। मनकी वासनाओंको मिटाइये और मनको शान्त हो जाने दीजिये। शान्तिमें ही विवेकका उदय होता है। विवेकसे वैराग्य होता है। वैराग्यके छः विलास हैं :—

१. मनमें काम-क्रोधादि दोषोंका न उठना।

२. विहित भोग-विलासमें भी अरुचि होना।

३. विहित कर्मसे भी उपराम होना।

४. बिना चिन्ता-विलापके दुःखोंको सहना।

५. अपनी बुद्धिका अभिमान छोड़कर वेदान्त और सद्गुरुपर श्रद्धा करना।

६. मनोराज्यकी निवृत्ति।

इतना वैराग्य होनेपर भी यदि किसी भी लौकिक-अलौकिक दृश्य-वस्तु, क्रिया, भाव अथवा स्थितिमें आसक्ति शेष रह जाती है तो मोक्ष मार्गपर चलना नहीं हो सकता। इसके लिये सम्पूर्ण ऐन्द्रियक, मानस एवं आविद्यक बन्धनोंसे मोक्ष प्राप्त करनेकी तीव्र आकांक्षा अपेक्षित होती है। चरित्रशुद्धि आदि तीन परम्परा साधन हैं। विवेक आदि चार बहिरङ्ग साधन हैं। यह अन्तःकरणको योग्य बनाते हैं। इसके बाद अन्तरङ्ग साधनोंकी प्राप्ति होती है। श्रवणादि तीन अन्तरङ्ग हैं। मनन संशयका विवर्त्तक है और निदिध्यासन विपर्ययका। श्रवण साक्षात् वृत्तिका जनक है। अवान्तर वाक्योंके श्रवणसे पदार्थज्ञान होता है। महावाक्यके श्रवणसे शोधित पदार्थद्वय 'त्वम्' और 'तत्' के ऐक्यका साक्षात्कार हो जाता है। अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। अविद्याकी निवृत्तिसे भेद-भावकी नहीं, भेद-भ्रांतिकी निवृत्ति होती है। इसलिये ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मविद् पुरुषके समक्ष भी प्रपञ्च यथापूर्व ही रहता है। अद्वैत ज्ञानसे व्यावहारिक द्वैत धर्माधर्म आदिका उपमर्दन नहीं होता, उपपादन ही होता है। यही कारण है कि वेदान्त धर्म, उपासना, योग आदि किसी भी साधन का विरोधी नहीं है—सबका उपपादक एवं समन्वायक है।

जिज्ञासुओंके पुण्य-परिपाकजनित सद्भाग्यसे जबतक तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुषका शरीर विद्यमान रहता है, सहज भावसे उसके शरीरकी उपस्थितिसे जगत्का कल्याण होता रहता है। उसके दर्शन, आलाप आदि संसारके दुःखी प्राणियोंके लिये, परमार्थ पथके पथिकोंके लिये परम सम्बल हैं।

मेरे परम प्रेमास्पद आत्मा! मेरे पास तुमसे कहनेके लिये कोई भी ऐसी बात नहीं है जो मैं अपनी ओरसे कहूँ। तुम्हें कभी कोई बात पूछनी हो तो

बिना संकोचके पूछ लेना। मैं तुम्हारा अपना आत्मा ही हूँ। क्या कोई अपने आत्मासे भी संकोच करता है? तुम्हें मेरे बहुत-से पत्र मिले हैं। इसका श्रेय मेरे परम प्रेमास्पद श्री फूलचन्दजी कागजीको है। उन्हें यह पत्र पसन्द आये और उन्होंने आप तक पहुँचाये। यद्यपि वेदान्तमें अपने-आपको भी धन्यवाद देनेकी प्रथा है 'धन्योऽहम्'; तथापि मुझे इस शिष्टाचारकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—आपका परम प्रेमास्पद आत्मा
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

तुम जो चाहते हो, उसके एकमात्र केन्द्रपर दृष्टि जमाओ, और देखो कि उस अनन्त गुणोंके भण्डारमें-से जो कुछ तुम चाहते हो, उसकी असीम धारा प्रवाहित होकर तुम्हें आप्यायित कर रही है।

सन् उनसठमें थोड़ेसे पत्र 'पत्रसंग्रह'के रूपमें श्री फूलचन्दजी कागजी द्वारा छपवाकर वितरित किये गये थे। उसी क्रममें उपरोक्त पत्र लिखा गया था।

श्रीहरिः

अमृत ज्योतिका दर्शन

आयान्तु सर्वे पुत्रा ये पृथिव्याः
पश्यन्तु देवमभितो भ्राजमानम् ।
अमृतं ज्योतिर्यद् दिवोऽतीत्य तिष्ठत्
तदस्मिन् दहरेऽसंवृतं सं चकास्ति ॥

'पृथ्वीके सभी पुत्र यहाँ आयें और सब ओरसे प्रकाशमान परमेश्वरका दर्शन करें। जो अमृतमय ज्योति तीनों लोकोंसे परे विराजमान है, वही इस हृदय मन्दिरमें बिना किसी आवरणके भली भाँति जगमग-जगमग झलक रही है।'

★ ★ ★

जिसमें आत्मविश्वास है, वही ईश्वरपर भी विश्वास कर सकता है। तुम यह निश्चय करो कि बाघके मुँहमें और साँपसे डँसे जानेपर भी मैं भगवत्प्रेम और कृपाका एकरस अनुभव करूँगा।

श्रीहरिः

महाराजश्रीके पत्र

(१)

हिमालय,
२०-६-३१

प्रिय बन्धु,

सप्रेम हरिस्मरण !

मैं प्रसन्न हूँ। आप प्रसन्न रहें, यही हार्दिक भाव है। आज एक महात्माके दर्शन हुए। उन्हें देखकर ही निस्सीम शान्ति मिलती थी। यह यात्रा सफल हुई। उनका प्रसन्न मुखमण्डल, सहज सरल सौम्य मूर्ति और बालसुलभ चेष्टाओंसे ऐसा लगा कि वे साक्षात्कृतात्मा हैं। देखते ही उन्होंने कहा—'यहाँ आगये—अच्छा कैसे ?' मैंने कहा—'दर्शनके लिये।' उन्होंने कहा—'जो भीतर दर्शन नहीं करता, वही दर्शनके लिये जाता है। यह बाहरका दर्शन क्षणिक हैं। इसका मूल्य बहुत ही स्वल्प है।' मैंने कहा—'आप जैसे महात्माओंके दर्शनसे ही तो भीतर दर्शन होता है।' वे हँसने लगे। गजबकी हँसी थी। उन्होंने कहा-–'भाई ! ईश्वरके राज्यमें चालाकी नहीं चल सकती। दोनों बातें ईश्वर और संसार, एक साथ रह नहीं सकतीं। एकको छोड़ दो तभी दूसरी पाओगे। जो आध्यात्मिक और भौतिक दोनों धनोंकी लालच करता है वह दोनोंसे वंचित हो जाता है। लालच बुरी बला है। चाहे घर हो या हिमालय, गृहस्थ हो या संन्यासी, संसार ही है। मनमें संसारकी कल्पना न होना संसार-त्याग है। जबतक किसी भी विषय—वस्तुकी कल्पना होती है तब तक संसारकी चाह है; और जब यह है तो ईश्वर कहाँ ? प्रत्येक वस्तुका हृदय ईश्वर है। इस वस्तुको जानते सब हैं; परन्तु मानते नहीं। यदि मानते होते, सबके हृदयको, हृदयमें ईश्वरको देखते तो संसारमें दारुण पापकी सृष्टि क्यों होती, बन्धन क्यों होता ? मुक्तिका उपाय, ईश्वरदर्शनका उपाय ढूँढना न पड़ता। भय अपने अन्दर ही है। बाहर

कहीं भी, हिमालय या घरमें इसका अस्तित्व नहीं है। प्रतिकूल परिस्थितिसे डरकर भागना नहीं चाहिये। कहीं भी रहो, निर्भयताका अभ्यास करनेमें सहायता प्राप्त होगी। तुम्हारी मुट्ठीमें कोई वस्तु है—जबतक वह रहेगी, दूसरी वस्तु उसमें नहीं रख सकोगे। आगे बढ़ो—बढ़ते जाओ ! जाग तो गये हो, आलस्यको छोड़कर साहस-उत्साहका आश्रय लो !'

'जब कोई ऐसा कार्य सामने आ जाता है जो हृदयके विरुद्ध है तो घबराओ नहीं, भागो नहीं। आत्मविश्वास और दृढ़ताके साथ उसका सामना करो। समझो कि आत्मोन्नति करनेका अवसर प्राप्त हुआ है। इसीसे आत्मशक्तिका विकास होता है। वस्तुतः तुममें वह बल-वह शक्ति-वह आनन्द है जो असीम, अनंत और अगाध है; परन्तु तुम भूल गये हो, इसीसे घबराहटमें पड़ जाते हो। उस शक्तिका स्मरण करो, उसका अनुभव करो ! यह घरमें भी सम्भव है और बाहर भी।'

'परमात्मा मेरी दुर्बलताको दूर करो ! मुझे शक्ति दो-बल दो और दो अपना कृपा-कण जिससे मैं तमाम भीषण परिस्थितियोंका सामना करूँ। सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा तुझे देखूँ। प्रार्थना करते समय मनकी एकाग्रता नष्ट न हो; मनको अन्तर्मुख बनाओ ! रातदिन, चौबीसों घण्टे उसे भीतर ही रक्खो। बाहर न आने दो। अन्तरकी त्रिलोकसुन्दर वस्तुको छोड़कर बाहर विषय-विषकी ओर यह लपकता है, फिर भी इसकी दुष्टता तुम्हारी समझमें नहीं आती। आत्माको परमात्माको छोड़कर सम्पूर्ण द्रष्टाद्रष्ट, श्रुताश्रुत विषय ही है। इसमें मनको जाने दो ! अभ्यास करो ! अकेले पढ़नेसे ऐसा न होगा। अधिक पढ़ना नही, जितना पढ़ना उतना आचरणमें लाना। अधिक मनुष्योंका संसर्ग न करना।'

मैंने पूछा—'स्वामीजी ! महात्माओंको कैसे पहचानें ?' स्वामीजी ने दो-तीन मिनट हँसकर उत्तर दिया—'सभी महात्मा हैं—सभी त्यागी हैं। सन्देह न करो ! अपने अन्दरका दोष ही महात्माओंको पहचानने नहीं देता। निर्दोष बनो ! सब निर्दोष हैं—सभी महात्मा हैं।'

'एक बात और ! जब महात्माओंके लिये व्याकुलता होगी, तब तुम्हारे

पास स्वयं महात्मा पहुँच जायँगे। अभी तुममें व्याकुलता ही कहाँ है ? तुम्हें ईश्वरका दर्शन होगा, अवश्य होगा। विश्वास रखो—व्याकुल हो और साहसके साथ आगे बढ़ो !' इसके बाद एक दूसरे आदमीसे अपने कानों सुनी हुई कहानी स्वामी जीने कही जो यहाँ नहीं लिखी जा सकती। स्वामीजीने कहा—'जबतक तुम यहाँ हो, मेरे पास आया करो ! आत्मसन्तोष होजाने पर तुम शीघ्र ही घर चले जाओगे !' इसके बाद मैं अपने स्थानपर चला आया। मेरी मनःस्थिति बहुत अच्छी है। सन्तोष तो महात्माजीके दर्शनसे ही साथ-साथ है।

यहाँकी हवा, यहाँकी गंगा, यहाँका पर्वतीय दृश्य, साधुओंका दर्शन मनको अन्तर्मुख करनेमें बड़ी सहायता देते हैं। अब दूसरे महात्माके दर्शनकी इच्छा नहीं।

मेरे यहाँके जीवनमें पहली स्मृति—नन्दकिशोर !

तुम्हारा
—शान्तनु विहारी

> तुम जो अब तक अपने लक्ष्यसे दूर रहे हो, इसका एकमात्र कारण यही है कि तुम अपने लक्ष्यको पहचानते नहीं हो। यदि तुम उसे पहचान सको तो अभी वह दूरी समाप्त हो जाय। इस दिशामें और आगे बढ़ो।

नोट: (१) यह पत्र महाराजश्रीके अभिन्न मित्र श्री ठा. झगरूसिंहजीको लिखा गया था।

(२) इस पत्रमें पृष्ठ २ में 'कल्पना' शब्दका प्रयोग हेतु और फलमें सत्यत्व बुद्धिके लिये किया गया है।

(२)

महरैया-धानापुर
(बनारस)
१९-३-१९३६

श्रीमदात्मानन्दादि महानुभावेषु,

सप्रेमालिङ्गनम् । आनन्दस्वरूपा सृष्टिमें लेशमात्र भी दुःखकी सम्भावना नहीं है । प्रतीति तो मरुमरीचिकाकी भाँति स्वकल्पनाप्रसूत है । अखण्ड आत्मतत्त्वमें सारे कार्यकारण स्वप्नवत् हैं । वत् इसलिये कि कोई द्रष्टा-दृश्यका भेद नहीं है । अथ च द्रष्ट अथवा श्रुतकी कल्पनास्फुरण भी नहीं है । वस्तुतः जाग्रदवस्था वह है, जब स्वरूपमें स्थिति रहती है । संसार स्वप्नकी दशा है । सत्य मान लेनेपर राग-द्वेष और तज्जन्य सुख-दुःख होते हैं । 'यह स्वप्न है'--इस विस्पष्ट बोधका नाम स्मृति है या ज्ञान है । सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें एक मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ । क्षेत्रोंकी सत्ता, शक्ति और क्रिया, विभिन्न विचित्रतामें मुझ एकरसमें न होनेपर भी प्रतीत हो रही हैं । मैं इन स्वाप्निक चित्रपटोंके परिवर्तनका नित्य साक्षी हूँ । इस स्वप्नके रहस्योंको मैं जानता हूँ । इसीसे सब प्रकारके दृश्योंमें आनन्दकी अटूट धारा प्रवाहित रहती है ।

साक्षित्व और ज्ञातृत्व भी बड़ा ही विचित्र है । द्रष्टा वस्तुतः अपनेको ही देखता है, ज्ञाता अपनेको ही जानता है । विजातीय वस्तुका ज्ञान किसी भी करणसे हो नहीं सकता । उदाहरणार्थ—इन्द्रिय द्वारा सूर्यके प्रकाशसे रूपका ग्रहण होता है । सभी तेजके रूप हैं । मन पाञ्चभौतिक जगत्का ज्ञान प्राप्त करता है; क्योंकि यह उसीसे बना है । मैं संसारका द्रष्टा, ज्ञाता हूँ; इसलिये मुझसे वह अभिन्न है । मैं चेतन हूँ, अतः सम्पूर्ण चेतन है । तब क्या मुझमें स्वगत भेद है ? जैसे—रस, दाना, छिलका समष्टि दाड़िम (अनार) है, उसी प्रकार मैं भी द्रष्टा, दृष्टि, दृश्यकी त्रिपुटीके रूपमें हूँ । विशिष्टाद्वैतमतके प्रवर्तकों, अनुवर्तकोंका यही अनुभव है । सांसारिक ज्ञानोपलब्धिका यही नियम है; परन्तु मुझमें, आत्मतत्त्वमें स्पन्दन और परिणाम हो ही नहीं सकता । एकरस, अवकाशहीन, स्थिर अथवा परिपूर्ण वस्तुमें विकासित्व—जिसके साथ विनाशित्व

भीलगा हुआ है, सम्भव नहीं है। इसीसे त्रिविधरूपताका परिणाम नहीं, विवर्त है; सतात्त्विकअन्यथाभाव नहीं, अत्तात्त्विक है। इस विवर्तसे सारे प्रपञ्चकी सृष्टिप्रक्रियाका सोपपत्तिक निरूपण साक्षात्कृतात्माओंके द्वारा किया गया है, जो कि प्रत्येक शुद्धसत्त्व, मननशील, निदिध्यासुके अनुभवमें आता है। परन्तु इस उधेड़-बुनमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है। कल्पना कीजिये कि एक सर्प ऊपरसे गिरा। क्या अब आप यह सोचेंगे कि यह कहाँसे, क्यों गिरा ? या उसे सत्वर निक्षिप्त कर देंगे ? बात भी ऐसी ही है। संसारसर्प एकार्थक शब्द है—संसरणात् संसारः; सर्पणात् सर्पः। इसकी उत्पत्तिकी उपपत्ति लगाना व्यर्थ है। इसीसे सांख्यदर्शनके प्रणेताने अन्तमें कहा है—**'यद् वा तद् वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः'**; चाहे जो हो, उसका उच्छेद (आत्यन्तिक सत्तानाश) कर डालना ही पुरुषार्थ है। इसीसे गुरु ब्रह्मको पहले समझाता है—**'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**। इसके समझानेपर कहता है—**'तत्त्वमसि'**।

बस, गुरूदेवकी दीक्षा यहीं समाप्त हो जाती है और शिष्यका श्रवण भी। अब मननकी बारी आती है; शिष्य सोचता है—**'अयमात्मा ब्रह्म'** और निदिध्यासन करता है—**'अहं ब्रह्मास्मि'**।

मनन और निदिध्यासन अपना काम है। यह सर्वथा अपने पुरुषार्थ—प्रयत्नपर निर्भर है और यही स्वरूप—साक्षात्कारके प्रतिबन्ध निवृत्तिका साक्षात् उपाय है।

आपका

शान्तनु विहारी

★ ★ ★

'भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये तीन बातोंको धारण करना चाहिये—

१. दुःखी प्राणियोंपर दया।

२. भगवान् जैसे रखें, उसीमें खुश रहना।

३. अपने मन और इन्द्रियोंको शान्त रखना।'

(३)

बाकुड़ा

परम प्रेमास्पद आत्मा !

एकरस अखण्ड सच्चिदानन्द आत्मामें नाम-रूपकी सत्ता ही नहीं है आत्मामें संयोग-वियोग तभी हैं, जब दूसरेका अस्तित्व हो। आप स्वरूपमें स्थित हैं। यदि शान्तनु नामका कोई शरीर है तो वह आपसे भिन्न है या अभिन्न ? भिन्नकी तो कल्पना ही नहीं है और यदि वह अभिन्न है तो विवेक कैसा ? देवता ! मैं आपसे अलग न हुआ हूँ और न होऊँगा। क्या मैं आत्माके रूपसे आपको अपरोक्ष नहीं हूँ। मैं साक्ष्य और साक्षित्वसे शून्य होनेपर भी साक्षी हूँ। निरन्तर मेरी ईक्षण शक्तिसे ही आत्माराम नामका शरीर आप्यायित और आप्लावित है। सब कुछ मेरा संकल्प है; फिर भी मैं निस्संकल्प हूँ। एक अखण्ड चिद् वस्तुमें संकल्प और संकल्पाभाव—दोनों ही मायाविजृम्भित हैं। वह चिद् वस्तु 'मैं'का वाच्यार्थ नहीं, 'वह' का भी वाच्यार्थ नहीं, दोनोंका ही लक्ष्यार्थ है। इसलिये केवल 'मैं' ही सत्य हूँ ! केवल सत्य 'मैं' ही हूँ।

आपका अपना आप

शान्तनु

★ ★ ★

'अपना शरीर, कर्म, प्राण, प्रमाण, अपना आपा ईश्वरमें डुबा देना ही समाधि है।'

(४)

श्री उडियाबाबाकी कुटी,
वृन्दावन

प्यारे आत्मदेव !

सर्वदा अपने-आपमें मस्त रहो ! एकरस परिपूर्ण सच्चिदानन्द ही अपना वास्तविक स्वरूप है। न भाव है, न अभाव है। अनिर्वचनीय स्थिति है। सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे शून्य चतुष्कोटि विनिर्मुक्त स्वरूपका आना-जाना, मिलना-मिलाना कहाँ ? मैं सत्य-सत्य कहता हूँ, नहीं भी कहता हूँ, सो भी केवल व्यवहारदृष्टिसे। न मेरा किसीसे प्रेम है, न मेरेसे अतिरिक्त कोई और है ही। तब सम्बन्ध और पत्रकी चर्चा की ही क्यों जाय केवल अध्यारोपकी दृष्टिसे ?

कल्पना ऐसी होती है कि कनखल श्री शंकरानन्दजीके दर्शनार्थ चलूँ ? क्या तुम्हारा घर कहीं रास्तेमें पड़ता है ? सहारन-पुर और दिल्लीके बीचमें हो तो मिलता जाऊँ। शीघ्र ही सूचित करो। या कनखल आ सकते हो तो लिखो।

अपना आप–
शान्तनु

★ ★ ★

(५)

अधिगत्य त्वया प्रत्तं पत्रं मोमुद्यते मनः ।
कथं चिरायितं तात स्ववृत्तप्रेषणे ननु ॥
किं न स्मरसि कुम्भे प्राग्धरिद्वारे यदा वयम् ।
मिलितास्तत्त्वचर्चायां प्रवृत्ताः स्मो यथासुखम् ॥
साक्षिसाक्ष्यादिको भेदो मुधैव परिकल्पितः ।
जिज्ञासुपरितोषार्थं क्व ब्रह्म क्व भिदातमः ॥
नाधिष्ठानं न चाध्यस्तं आत्मैवैको न चेतरत् ।
यथा तथा भातु नाम भानात्किञ्चिन्न भिद्यते ॥
देशकालौ तथा वस्तु प्रकाशयति यः सदा ।
स्वयंप्रकाशरूपस्त्वं स एवास्मीति निश्चिनु ॥
कदा कुत्र कथं केन मिलनं विरहोऽथवा ।
त्वमर्थो वाऽहमर्थो वा यदि नास्ति पृथक् स्वतः ॥
अत्र वान्यत्र वा यत्र कुत्राप्यागत्य यत् सुखम् ।
आत्मारामश्चिरं शान्तः स्वनिष्ठस्तिष्ठ सादरम् ॥*

—त्वदीयः

शान्तनुः

'तुम्हारे द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त करके मन मुदित हो रहा है । क्यों मित्र ! अपना समाचार देनेमें इतना विलम्ब क्यों किया ?

पहले हरद्वारमें कुम्भके अवसरपर जब हम लोग मिले थे और स्वच्छन्द तत्त्वचर्चा करते थे, वह क्या तुम्हें स्मरण नहीं है ?

साक्षी और साक्ष्य आदिका भेद जिज्ञासुजनोंको सन्तुष्ट करनेके लिये व्यर्थ ही कल्पित हुआ है । कहाँ स्वयंप्रकाश ब्रह्म और कहाँ भेदका अन्धकार !

अधिष्ठान और अध्यस्तका भेद भी वास्तविक नहीं है । आत्मा अद्वितीय

है, दूसरा कुछ है नहीं। चाहे जैसा-कैसा भान हो, भानसे कुछ भी भिन्न नहीं बन जाता।

जो स्वयंप्रकाश तत्त्व देश, काल तथा वस्तुओंको प्रकाशित करता है, वही मैं हूँ--ऐसा निश्चय करो।

यदि 'त्वं' पद का अर्थ या 'अहं' पद का अर्थ वस्तुतः पृथक्-पृथक् नहीं है तब कब, कहाँ, क्यों, किसके साथ मिलन अथवा विरह होता है ?

यहाँ या दूसरी जगह या जहाँ कहीं भी आकर या रहकर आनन्दसे आत्माराम चिर शान्त एवं आत्मनिष्ठ होकर प्रेमसे निवास करो''

तुम्हारा
शान्तनु

तुम जिसकी श्रेष्ठताका निश्चय किये हो, उसका बार-बार स्मरण करो। उसकी श्रेष्ठताका स्मरण ही प्रार्थना है। अवश्य ही वह तुम्हारे अन्दर निवास करेगा। प्रार्थनाकी ऐसी शक्ति है।

---

* यह चार पत्र पंजाबके पंडित आत्मारामजी वैद्यको लिखे गये थे। (२ से ५)

(६)

वृन्दावन
दीपावली

प्रिय विपिन बाबू,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

आज दीपावली है । यथाशक्ति आश्रमकी सफाई करनेकी कोशिश की गयी । कुटियामें चूना लगानेवालेको ज्वर आ गया । काम अधूरा ही रहा । दीपोंकी तैयारी हो रही है । कहते हैं—आज एक भक्तराज बलि, अपने हृदयमें भगवान्‌को लेकर संसार देखने आते हैं । शायद हमारे हृदयमें कूड़ा-कर्कट निकल जानेपर, ज्ञानदीपका प्रकाश होनेपर, कोई भक्त भगवान्‌से भरे हुए आयें ।

किसी भी क्रियाका नाम ज्ञान, ध्यान, भक्ति नहीं है । यह हृदयका भाव है । शत-शत प्रयत्न करनेपर भी न हो, किसीको स्वयं हो जाय । शीतलता रहे, क्षोभ न हो । सब वस्तु, क्रिया, व्यक्ति आदिमें भलाई ही दीखे । रौद्र, भयंकर, बीभत्स भी रस ही हैं, केवल भावकी अपेक्षा है--सावधानीके साथ । परमात्माके सिवा और कुछ नहीं । बाह्य जगत् और शरीरकी सुन्दरताकी अपेक्षा हृदयकी सुन्दरता मूल्यवान् है । वह कभी नष्ट नहीं होनी चाहिये ।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(७)

वृन्दावन

प्रिय..............   दि. ३-१२-४३

सप्रेम नारायण स्मरण ।

पत्रमें लिखनेकी कोई खास बात नहीं है । परमार्थतः सब भगवत्स्वरूप है । किसी वस्तुमें कोई परिवर्तन तो करना है नहीं । यह सारा पसारा भावका है, सो भाव ही सुधारना है । पत्थरका टुकड़ा पत्थर न दीखे; क्योंकि वह शिव ही है । मन सबमें रस ही देखे । मस्त रहे । मनका सुधार ही साधन है । क्रियाशुद्धिके लिये मनःशुद्धि नहीं, मनःशुद्धिके लिये क्रियाशुद्धि है । मनःशुद्धि साध्य है, क्रिया साधन । कुछ भी करो, अच्छी नीयत से । ईमानदारीके लिये सावधान । बहानेबाजीका प्रवेश न होने पाये । तुम सत्य, पवित्र सुखका अनुसन्धान करो । कहीं अपने रागको ही सत्य दर्शन मत समझ बैठो । तुम स्वयं सत्य, पवित्र एवं सुख हो जाओगे । वास्तवमें तुम वही हो । क्या तुम्हें पवित्र होनेकी उत्सुकता है ? जो क्रिया, वस्तु, भाव, गुण तुम्हें अपवित्र जान पड़ें उनका परित्याग करो । त्याग करते करते परम पवित्र रूपमें केवल तुम्हीं बच रहोगे ।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(८)

श्रीवृन्दावन
दि. १६-३-४४

प्रिय.............

सप्रेम नारायण स्मरण ।

तुम्हारा पत्र मिला । मुझे सचमुच प्रसन्नता हुई । जीवके विशाल जीवनमें यह शरीर और इससे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएँ उतना भी महत्त्व नहीं रखतीं, जितना कि हम क्षण भरके मनोराज्य या स्वप्नमें विभिन्न दृश्योंका महत्त्व अनुभव कर आते हैं । जीवनकी स्थूल घटनायें फुहियोंके समान बिखर रही हैं, मानसिक जीवन लहरोंके समान चंचल है; तब भी तुम समुद्रके अतल गर्भमें स्थित स्थिरताके समान स्थिर, धीर, गम्भीर, अक्षुब्ध हो । तुम फुहियोंके साथ उड़ो मत, लहरोंसे टकराओ मत, सबके भीतर, सबसे अलग, सबके साक्षी, सबसे आँखें बंद करके आत्मसत्तामें, अनन्त शान्तिमें स्थित हो जाओ । संसारकी सत्यता असत्यताका निर्णय विचारकोंका कर्तव्य है, ध्याननिष्ठोंका नहीं । इतना जानना काफी है कि यह एक उपेक्षा करने योग्य वस्तु है । विचार भी एक विक्षेप ही है जो प्रारम्भमें आवश्यक और उपयोगी होनेपर भी अन्तमें सर्वथा त्याज्य है । तुम शारीरिक, मानसिक जीवनकी हलचलोंसे ऊपर उठकर देखो तो अनुभव करोगे कि जिसका मैं निर्माण करना चाहता था वह तो पहलेसे ही है और उससे भी ठोस है, निर्विकार एकरस है । विश्वास तुम्हारा किसी अज्ञात वस्तुपर नहीं, सत्यपर है—अनुभूति पर है । इसलिये यह केवल विश्वास ही नहीं, बोध भी है । कदाचित् विश्वास नहीं भी रहे—तुम्हारी स्थिति ज्यों-की-त्यों रहेगी ।

आत्मसत्ता एकरस है । तुम जो देखते, सोचते, करते हो, जो भाव बनाते हो, तुम उसके भीतर हो । अनुभव करो—चंचलता और स्थिरताएँ प्रकृतिके प्रवाहमें हैं, तुम तटस्थ हो । मौज हो तो देखो, नहीं तो मत देखो । इससे तुम्हारी शान्ति भंग नहीं होगी ।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

जो कुछ हो रहा है यह भगवत्प्रेरणा तो है ही, वास्तवमें भगवत्सत्ता है। अगले क्षणकी कल्पना और अतीतकी स्मृति छोड़कर वर्तमानको देखो-क्षणकी सूक्ष्मताको ध्यानमें रखकर। तुम्हें केवल भगवत्सत्ता ही दीखेगी। सत्ता दो नहीं हैं और तुम्हें अपनी असत्ताका अनुभव नहीं; अत: भगवत्सत्ता और तुम्हारी सत्ता पृथक् नहीं। यही अखण्डानन्दका स्वरूप है जहाँ अनुभव मर जाता है। इसे व्यक्तित्वकी छाया नहीं छूती। इसे शान्त रस या पराशान्तिके नामसे निर्देश करते हैं—कर्तव्य, त्यक्तव्य, प्राप्तव्य और ज्ञातव्यकी सर्वथा आत्यन्तिक शान्ति।

आपका अपना ही,

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

यदि तुम सोचते हो कि अभी तो प्रतिकूल स्थिति है, अनुकूल स्थिति आनेपर सब कर लूँगा, तो तुम भूल रहे हो। क्या पता आगे प्रतिकूलता बढ़ जाय। जो अनुकूल स्थितिकी प्रतीक्षामें बैठा रहता है, वह घर आयी लक्ष्मीको खो देता है।

(९)

वृन्दावनधाम
दि. १३-४-४४

प्रिय..........

सप्रेम नारायण स्मरण ।

आपका पत्र ग्वालियरमें मिला था। श्रीमहाराज ग्वालियरसे चलकर परसों गंगातट आ रहे हैं। उत्सव साधुशाही रहा। व्याख्यानदाताओंके समय, क्रम, निर्णय एवं परिचय-दानका काम मैं करता था। हमारी पैदल यात्रा बडी सुखप्रद रही। बीस-बीस मील पैदल चलनेपर भी चित्त उत्साहित रहा। सत्संग तो था ही।

यह सब सुख-दुःख चित्तका ही खेल है। मालूम तो सब पड़ता है; परन्तु क्या है—क्या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। जो-जो मालूम पड़ता है उसे शान्तिके साथ देखो! केवल अनुभूति एवं प्रतीतिको ही नहीं, उनके कर्ताको भी! एक प्रतीतिसे बँधो मत। प्रतीतियाँ बदलती रहती हैं—तुम एक हो, न उन्हें चाहो न हटाओ। तटस्थ रहो, शान्त रहो, द्रष्टा रहो। तब तुम्हें भागने वाले विचित्र दृश्य प्रलोभित या दुःखी न कर सकेंगे।

शान्ति किसी अभ्याससे नहीं आती। समस्त कृत्रिम-अकृत्रिम अभ्यासोंकी तहमें जो तुम्हारी एकरस सहज स्थिति है वह शान्त है। यदि तुम अपने सहज स्वरूपको देख सको, जो समस्त संकल्प-विकल्प, वृत्तियों एवं प्रतीतियोंके मूलमें रहता है, तो जान सकोगे कि शारीरिक एवं मानसिक चहल-पहल तथा उथल-पुथल अत्यन्त स्थूल हैं। उन्होंने कभी तुम्हारा स्पर्श नहीं किया है, यद्यपि तुम हमेशा उनके कारण अपनेको प्रभावित देखते रहे हो। देखो और केवल देखो! सटो मत, हटो मत, जानो मत, अनजान मत रहो!

ये बातें उन्हींके लिये हैं जो स्थूल शरीर सम्बन्धी व्यक्तित्वके बन्धनमें जकड़े हुए हैं। तुम्हारे शुद्ध, सहज, शान्तिमय, निःसंकल्प स्वरूपकी दृष्टिसे

इनका कोई महत्त्व नहीं है। मूलको देखो—सब दीख जायगा। मनको लौटने दो। गम्भीरता एवं पवित्रतामें उसे डूब जाने दो। परिश्रम मत करो। देखो!

आपका

अखण्डानन्द सरस्वती



★ ★ ★

हे प्रभो, तुम कैसे हो—यह मैं नहीं जानता। तुम जैसे हो, वैसे हो ही रहो। ये मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन आदि, जिन्हें मैं अपना मान रहा था, अब तुम्हें समर्पित करता हूँ। इन्हें अपनाओ, और ये मरे हैं ऐसी भावना चित्तमें कभी न आने दो।

(१०)

वृन्दावनधाम,
दि. १४-११-४४

प्रिय.............

सप्रेम नारायण स्मरण ।

वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्रमें चमत्कारोंको कोई महत्त्व नहीं दिया जाता । जन्मसे हम बाह्य वस्तुओंको ही श्रेष्ठ मानते आये हैं । इसलिये यह संस्कार इतना प्रबल हो गया है कि और तो क्या स्वयं भगवान्‌को भी बहिर्दृष्टिसे बाह्य वस्तुओंके समान ही देखना चाहते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि वे दीखते हैं; परन्तु वे तो अन्तरकी वस्तु हैं—हृदयके धन हैं । उन्हें जितना अधिक हृदयके अन्तर्देशमें अनुभव किया जाय उतना ही अधिक सान्निध्य और सत्यता है । ठोस अनुभव आत्माका है न कि शरीरका । आँखोंसे दर्शन होनेपर भी उसका आनन्द, रस, विश्वास, सर्वदाके लिये आत्मसमर्पण, हृदयमें ही होते हैं । अनुभूति और स्मृति हृदयकी वस्तु हैं । शान्ति भीतर खींचती है—बाहर नहीं भगाती । बाह्य दर्शन भी अन्तर्मुखताका साधन ही है । यदि बिना दर्शनके ही कोई अन्तर्मुख हो रहा हो तो उसे बाह्यदर्शनकी इच्छा करके बहिर्मुख नहीं होना चाहिये । तुम्हें अपनी पूर्णताका अनुभव हृदयमें ही होगा, बाहर नहीं । भगवान् अपने हृदयमें ही हैं । वे पेटीमें बंद नहीं होते । जो लोग उन्हें पेटीमें बंद देखते हैं वे भगवान् को नहीं, चित्रको देखते हैं । वैसे हँसीमें तो भई, हम भी ऐसा कह दिया करते हैं ।

उस*अंग्रेजकी पुस्तकमें एक ज़गह लिखा है—'संसारके लोग जिसे बड़ा कहते हैं, यदि तुम विश्लेषण करके देखोगे तो मालूम होगा कि वह एक स्थूल वस्तु है । उसकी तुम्हें आवश्यकता नहीं है । तुम किसी भी बाह्य वस्तुके लिये, चाहे उस रूपमें भगवान् ही क्यों न हों, अपने अन्तरकी शान्ति भंग मत करो । अपनी साधनामें अविचल विश्वास ही भगवत्प्राप्तिका एकमात्र मार्ग

* यह अंग्रेजी पुस्तक 'ध्यानके समय'के रूपमें आनन्द वाणी भाग-५ में प्रकाशित हुई है ।

है। निष्ठा ही अनुभूतिकी जननी है। यदि तुम दस वर्ष भी कोई साधना करके क्षणभरके लिये उसपर संशय कर बैठते हो तो मानो अपने किये करायेपर पानी फेर देते हो। तुम्हारा मंत्र, तुम्हारा ध्यान, तुम्हारी पूजा-पद्धति ही सर्वश्रेष्ठ है। तुम्हारे गुरु-जैसा त्रिलोकीमें कोई दूसरा नहीं।' कम से कम तुम्हारे लिये यही बात है। अभी न जाने क्या-क्या देखने-सुनने को मिलेगा। यदि पग-पगपर तुम फिसलते रहे–तुम्हारे मनमें हलचल होती रही तो मेरे भाई! न तुम घरके रहोगे न घाटके। कहीं भी निष्ठा नहीं होगी। जहाँ तुम टिकना चाहोगे, उससे अच्छा दूसरा जान पड़ेगा। फिर दूसरा। साकारका ध्यान करने बैठोगे, निराकारकी महिमा सूझेगी; निराकारका करोगे, साकारकी; मनुष्य का करोगे, वानरकी। यह चित्त की कमजोरी है जो पहले मालूम नहीं पड़ती। पीछे कहीं भी ठिकाना नहीं मिलता। अपनी निष्ठाको मजबूतीसे पकड़ लो, फिर सबसे मिलो-जुलो। एक पद है –

सबसे मिलिये सबसे जुलिये सबका लीजिये नांव।
हां जी, हां जी, करते रहिये बैठिये अपने ठांव।

जहां वज्रकी-सी दृढ़ता, समुद्र-सी गम्भीरता और ग्राहकी-सी अपनी निष्ठाकी पकड़ है, वहाँ भगवान् प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि अचलता एकरसता ही भगवान्का स्वरूप है।

आपका
अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीकृष्ण दर्शन

साधनं सुखसिद्धीनां दुःखदारिद्र्य बाधनम्।
वर्धनं भक्तिबोधानां धनं कृष्णावलोकनम्॥

श्रीकृष्णका दर्शन सुख-सिद्धियोंका साधन, दुःख दारिद्र्यका बाधन एवं भक्तिबोधका संवर्धन परम धन है।

(११)

वृन्दावनधाम
दि. २२-११-४४

प्रिय

सप्रेम नारायण स्मरण ।

आपका पत्र मिला । बात यह है कि बाह्य दर्शन होता है और उसका महत्त्व भी कम नहीं है; परन्तु उसकी साधना है भजनमें निष्ठा होना । दर्शन तो कुछ क्षणोंकी वस्तु है । निष्ठा सर्वदाके लिये दर्शनके पूर्व और पश्चात् भी आवश्यक है । वह भावना कितनी दृढ है जो अपने इष्टदेवको मूर्तिमान करके दिखा देती है ! भक्त उसे अपनी भावना नहीं, भगवान्‌की कृपा मानते हैं । प्रेम न हो, निष्ठा न हो, अन्तमुर्खता न हो तो दर्शन भी अधिक महत्त्वका नहीं । रामायण और महाभारतकालमें हजारोंने दर्शन किये, शत्रु भी रहे; क्या उन्हें भगवदानन्दका अनुभव होता था ? दर्शनके पूर्व प्रीति न हो तो सुख नहीं । प्रीति है--उनके लिये सब कुछ न्यौछावर कर देना । निष्ठा है उसकी तैयारी । बिना देखे पूर्ण विश्वास बहादुरका काम है । शान्ति ही सबका लक्ष्य है-फल है । चित्तवृत्तियोंको मोड़ो-उन्हें एक स्थानपर लौटाओ । दीपककी तरह उन्हें बुझ जाने दो-शान्त होने दो ।

कुछ हद तक व्याकुलता आवश्यक है; परन्तु यह ताप तो केवल उन लोगोंके लिये है जो इन्द्रियोंके विषयोंमें रमते हैं । उनकी छटपटीकी दिशा बदल जाती है । पश्चाताप-प्रायश्चित कराके वे अभीष्ट दिशा में अग्रसर किये जाते हैं । भयावने और लुभावने दृश्योंकी चरितार्थता केवल उन्हीं लोगोंके लिये है जो पापी हैं अथवा भोगों की कामना और लोभसे जकड़े हुए हैं । तुम्हारा मन इस कीचडसे निकल चुका है और तुम एक सुनिश्चित एवं अनुभूत मार्गसे शान्ति का यत्किंचित् अनुभव कर रहे हो । तुम्हें तो शरीरसे और इन्द्रियोंसे जो अनुभव होते हैं, उनसे ऊपर उठना चाहिये । वह समय कितना शुभ होगा जब तुम्हारे चित्तमें एक भी वासना, एक भी संकल्प न रहेगा ! तुम्हारा आदर्श इस मिट्टीके टुकड़ेके इर्दगिर्द घूमने वाला नहीं है । यह शरीर तो एक दिन श्मशानमें ही

जायगा, भले ही इसे भगवान् दर्शन दे जायँ ।

अत: अपने लक्ष्य—इष्ट आदर्शके सम्बन्धमें दृढ़ निश्चय और साधनामें दृढ़ निष्ठा होनी चाहिये । एक महात्मा आ गये, सो अब यहीं समाप्त ।

आपका

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'चित्तकी एकाग्रता अर्थात-चित्तको दफना देना--

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं ।'

तुम जो कुछ कर रहे हो, जो कुछ बोल रहे हो और जो कुछ सोच रहे हो, सब भगवान्‌के सामने। तब तुम्हें कितना सावधान रहना चाहिए ?

(१२)

श्री वृन्दावनधाम
रविवार दि. १७-१२-४४

प्रिय ....

सप्रेम नारायण स्मरण ।

उस अनुभूतिका कोई मूल्य नहीं है जो टिकती नहीं । 'सन्तो आवै जाय सो माया ।' अनुभूतियोंकी अनेकरसतामें भी तुम एकरस हो । तुम्हीं तुम्हारी अनुभूतियोंकी आधारशिला हो । जिस समय तुम किसी अनुभूतिके लिये व्याकुल होते हो, उस समय तुम इस सत्यको भूल जाते हो । पूर्णता भावनामें नहीं, बोधमें है । तुम इस बोधमें निष्ठावान् हो जाओ कि मैं और मेरे परमात्मा कभी अलग नहीं हो सकते । मुझे उन्होंने और मैंने उनको दृढ़ भुजपाश में बाँध रखा है । इसमें भूल (विस्मृति) भले ही हो, परन्तु सत्य सत्य ही है । यदि तुम्हें व्याकुलता होती है तो केवल इसी बोधको पूर्णतया अनुभव करनेके लिये होनी चाहिये । अनुभूतियाँ आती और जाती हैं, तुम उनको महत्त्व क्यों देते हो ?

तुम नाम-जप करो; परन्तु दृष्टि अपनी इष्ट वस्तुपर हो । साधु सेवा करो, परन्तु अंत:करण श्रद्धासे अवनत हो । सबसे श्रेष्ठ साधक वह है, जिसके जीवनमें केवल एक ही इच्छा है । दूसरे नंबरका साधक वह है, जो अपनी एक इच्छाके लिये सम्पूर्ण इच्छाओंकी बलि देनेको तैयार रहता है । वह तो विषयी है, जिसके जीवनमें एक से अधिक इच्छाएँ हैं । जीवनमें जो कभी-कभी विक्षेप, क्षोभ के दर्शन हुआ करते हैं, वे इन्हीं इच्छाओंकी खींचातानीके फल हैं । जब तुम अनावश्यक इच्छाओंसे परहेज करने लगोगे, तब तुम जान सकोगे कि प्रतिशत निन्नानवे इच्छाएँ अनावश्यक हैं । वही सिद्धजीवन है, जिसमें इच्छाओंकी तो बात ही क्या, कोई आवश्यकता ही नहीं है । जब कि तुम्हें एक बहुमूल्य वस्तु प्राप्त है, वह तुम्हें छोड़कर कभी नहीं जाती, तब तुम क्षणिक अनुभवोंके लिये अपनी नि:संकल्पता, शान्ति क्यों भंग करते हो ? बोध, स्मृति और विस्मृति-

दोनोंसे विलक्षण है। हमें हमारी मनुष्यताका बोध कितना दृढ़ है कि न तो स्मरण रखना पड़ता है और न तो इसके विस्मरणसे हमारा मनुष्यत्व ही जाता है। क्या हमारे हृदयमें परमात्माकी उपस्थिति मनुष्यत्वसे भी न्यून है ? वह वज्रसे भी कठोर और आकाशसे भी अचल है। परमात्मा हमारे हृदयसे कभी दूर नहीं हो सकता। देखो, मैं तुम्हें सार-सार बात बतलाता हूँ। यदि परमात्मा अभी, यहीं, और यही नहीं है तो वह कहीं भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें तो वह भी संसारी वस्तुओं-जैसा ही परिच्छिन्न और नाशवान् होगा। आँख बन्द कर लो-बाहरकी ही नहीं, भीतरकी भी। तुम जो हो, जहाँ हो, वही, वहीं परमात्मा है।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

सांख्ययोग द्रष्टाका निरूपण करता है। भक्तिदर्शन दृश्य ही ब्रह्म है, कहता है। ये दोनों एकाङ्गी हैं। अद्वैत वेदान्त दृश्य-द्रष्टा दोनोंको 'ब्रह्म' कहता है, वह किसी कर्म, उपासना, योगाभ्यासका विरोध नहीं करता, उसमें सबका समन्वय हैं। और सबको अपने स्थानपर महत्त्वपूर्ण बताया है, क्योंकि व्यवहारसे उसका विरोध नहीं है। उपासनासिद्ध अनुग्रहविषय भगवदानन्दको वह कैसे काटेगा?

श्रीवृन्दावनधाम
दि. ५. १. ६५

परम प्रेमास्पद आत्मा!

जब आपका पत्र मिलनेमें विलम्ब होता है तब मैं समझ लेता हूँ कि कोई सन्त आ गये होंगे। 'साधुसेवा करो, परन्तु अन्तःकरण श्रद्धासे अवनत हो'—इस वाक्यमें 'अवनत हो'का अर्थ है—झुका हुआ हो—गिरा हुआ नहीं। ऐसा ही हिन्दीका मुहावरा है। निःसंकल्पता—मोटर दौड़ रही है—दुनिया अपना काम कर रही है—शरीर बैठा है—प्राण चल रहे हैं—मन संकल्प कर रहा है—बुद्धि जान रही है—और तुम! अचल हो। संसारके तीन स्वर हैं—

मूढ (ज्ञानहीन, स्थिर=तमोगुण),

घोर (चल, विक्षिप्त=रजोगुण),

शान्त (वृत्तियोंकी निश्चलता=शुद्ध सत्त्वगुण)।

यह तीनों प्रत्येक समय अपना काम करते रहते हैं—तुम इनके भी भीतर—इन सबसे महान्-इन सबके साक्षी-स्वरूपसे ही निस्संकल्प हो। मनकी निस्संकल्पता तो बनावटी है। वह अभ्यासके द्वारा वर्षोंकी बनायी जा सकती है; परन्तु टूटेगी। तुम सच्ची निःसंकल्पताको जानो। तुम्हें मालूम होगा, वह तुम्हें पहले ही स्वतः प्राप्त है। तुम जो उसे अप्राप्त मानकर पाना चाहते हो

इसीसे प्राप्ति नहीं होती। समुद्रकी ऊपरी सतहपर चाहे जितनी तरंगें उठ रही हों—ज्वार-भाटा आ रहा हो, भीतर तो वह शान्त ही है। तुम जब बाह्य वस्तुओंको अपना स्वरूप समझकर बैठते हो, तभी विक्षेप और अशान्तिका अनुभव होता है। उन्हें देखकर मिटानेकी चेष्टा मत करो। उनकी ओरसे आँख बन्द कर लो। तुम्हारी अपनी सत्ता महासमुद्र है।

नियमके सम्बन्धमें फिर लिखूँगा।

—अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

मुक्तिके चार द्वारपाल हैं—सत्संग, सन्तोष, विचार और शम (मनकी शान्ति)। इन चारोंसे प्रेम जोड़नेपर मुक्तिके दरवाजेमें प्रवेश मिलता है।

वसुदेवजी कहते हैं—प्रभो! मैंने आपको पहचान लिया, बहुत स्वांग धारण किया और नाट्य किया—मेरे घरमें आप नन्हें बालक बनकर आये।

भगवान् यह सुनकर भी चुप हैं। भक्त उनके बारेमें सोचता है, यह भक्तकी विशेषता है। वसुदेव मानो श्रीकृष्णके मौनमें भी प्रश्न सुनते हैं कि—तुमने मुझे क्या पहचाना? और वसुदेवका उत्तर है—'तुम्हीं एक-रूपसे प्रकृतिके परे उसके द्रष्टा पुरुष हो। तुम्हीं अपने निर्विशेष रूपसे केवलानन्दानुभव रूप ब्रह्म हो—तुम्हीं बुद्धिके द्रष्टा सर्वान्तर्यामी हो।'

(१४)

श्रीवृन्दावनधाम
दि. ७-२-४५

प्रिय.......

सप्रेम नारायण स्मरण ।

अभिमान बुरी वस्तु नहीं है—उसका उपयोग बुरा या भला होता है । अभिमानसे किसीका तिरस्कार करना, उसे नीचा समझना, पाप करना बुरा है । अभिमानसे श्रेष्ठ कर्ममें, ध्यानमें, साधनामें लगना अच्छा है । असल बात यह है कि बिना अपने साधकपनेके अभिमानके साधना ठीक बनती नहीं । व्यवहारमें देहाभिमान-अन्तःकरणका अभिमान स्वीकार किये बिना कोई काम कैसे करेंगे ? 'यह मेरी देह है, मेरा मन है'—यह 'मैं-मैं' करने वाला कौन है ? मैं (अभिमान) ही तो ! इसलिये, 'मुझमें अभिमान नहीं है'—यही सबसे बडा अभिमान है । अभिमान स्वीकार करके ही सिद्ध लोग भी अपना काम करते हैं । साधक तो निरभिमान हो ही नहीं सकता । 'मैं यह साधन, यह नियम कभी नहीं छोडूँगा'--इस प्रकारका हठ तो अत्यन्त आवश्यक है । आज्ञापालन, प्रसन्नता या सेवाको दृष्टिमें रखकर दृढ हो जाना चाहिये । जीवनभरके लिये-जन्म-जन्मके लिये एक ही व्रत ।

(१) अस अभिमान जाइ जनि भोरे, मैं सेवक रघुपति पति मोरे ।.
(२) जनम जनम लगि रगर हमारी; बरउँ सम्भु न त रहउँ कुमारी ॥

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(१५)

श्रीवृन्दावनधाम

परम प्रिय.....

सप्रेम नारायण स्मरण ।

सब व्यक्तियाँ मनुष्य-पशु-पक्षी-वृक्ष-पाषाण आदि अपने-अपने स्वभावके अनुसार बरत रही हैं एवं राग-द्वेष-शयन-भोजन-भाषण आदि कर रही हैं। ईश्वर उनको सत्ता देकर मजा ले रहा है। तुम केवल देख रहे हो। न देखो तो समाधि दीखती है, देखो तो ईश्वरकी लीला दीखती है। अपना आपा ईश्वरके आपेसे अलग नहीं है। सब एक हैं। सब परमात्मा है। सब आत्मा है। यही सत्य है-सो तुम हो। सहज ही समाधि है। लगाओ मन! केवल देखो! जब चित्तकी निःस्पन्दतामें ही जगत् नहीं है तो तत्त्वकी अनन्त निःस्पन्दतामें जगत् कहाँसे?

आपका अपना--
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'मृत्युके चार रास्ते हैं--आलस्य, अन्नदोष, सदाचारका त्याग और स्वाध्याय (आत्मचिन्तन) का त्याग।'

(१६)

श्री वृन्दावनधाम
दि. ७-३-४५

प्रिय विपिन बाबू,

सप्रेम शुभाशीर्वाद !

संकल्पके अनुसार सारे काम कहाँ होते हैं ? प्रतिशत निन्नानवे संकल्प साधारणजनोंके-झूठे निकलते हैं। एक-दो पूरे हुए तो उन्हीं पर विश्वास कर बैठते हैं। अन्तःकरणकी तीव्र गति और शरीर तथा संसारकी शिथिल गतिपर ध्यान दो। एक संकल्प किसी क्षण में उदय हुआ—नष्ट हो गया। घंटों, महीनों, वर्षों बाद वैसी घटना घटी तो घटी—प्रायः नहीं घटती। मन कोई कार्यकारण भाव ढूँढ निकालता है। पवित्र मन, पवित्र कारण। अपवित्र मन, अपवित्र कारण। एक ही घटनाके सम्बन्धमें विभिन्न व्यक्ति, विभिन्न कारणोंकी कल्पना करते हैं—यही बात कारणके कल्पित होनेमें पर्याप्त प्रमाण है।

सभी क्रियाएँ, संकल्प, वस्तुएँ असम्बद्ध ही हैं। प्रत्येक क्षणकी सृष्टि नई है। कल्पना करो कि स्मृति नहीं है—सारा सम्बन्ध नष्ट हो जायगा। सब सम्बन्धोंका मूल स्मृतिमें है। स्मृतिकी सत्यता अप्रामाणिक है। एक दृष्टि ही सारी सृष्टि है। स्वप्नके पिता-पुत्रका सम्बन्ध तत्कालीन कल्पनाके सिवा और क्या है ?

आपका—
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(१७)

जबलपुर
दि. १९-३-४५

प्रिय......

सप्रेम शुभाशीष ।

सत्य अपरिवर्तनशील होता है । उसेमानो चाहे न मानो, जानो चाहे न जानो, वह ज्यों-का-त्यों रहता है । जाननेसे अज्ञानजनित दुःखकी भी निवृत्ति हो जाती है । सत्यकी उत्पत्ति नहीं होती; वह है । असत्यकी भी उत्पत्ति नहीं होती वह है ही नहीं । सब सत्य ही सत्य है । कुछ उत्पन्न करना और कुछ नाश करना सत्यमें सम्भव ही नहीं है । इसलिये अनुभूतिका उत्पन्न होना और उसका बिगड़ जाना भी सत्यसे कोई संबंध नहीं रखता । जब तुम स्वयं सत्य हो तब अनुभूतिके लिये इच्छा करना उसे अन्य बना देना है । ऐसी अवस्थामें तुम उसे असत्य कर देते हो; क्योंकि सत्यके अतिरिक्त जो कुछ है, वह असत्य है ।

तुम्हारा अपना ही,
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'कड़वी और मीठी, कोई भी क्रिया या वस्तु प्रेम ही है ।'

(१८)

परमहंस आश्रम, वृन्दावन
दि. ५-५-४५

प्रिय......

सप्रेम नारायण स्मरण।

(१) मैं सच्चिदानन्दघन अद्वैत अनन्त निर्विकार आत्मा हूँ। मुझमें नामरूपात्मक द्वैतरूप विषयात्मक प्रपञ्चका अस्तित्व ही नहीं है। मैं शुद्ध अमन हूँ। इस प्रकार मनका अभाव निश्चय करके अपने स्वरूपमें स्थित होना।

(२) जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थामें मन विषयोंका चिन्तन करता है सुषुप्तिमें नहीं करता। समाधि और मूर्च्छामें भी नहीं। मैं अवस्था नहीं हूँ, इनका साक्षी तुरीय हूँ। मन विकारी है, दृश्य है, जड़ है। मिथ्या विषय भावरूप है, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मनकी शान्त, घोर, मूढ, सुख, दुःख आदि समस्त वृत्तियाँ दीख रही हैं। दीखनेकी स्थितिमें मन पत्थर-सा निःसंकल्प हो जाता है।

(३) मैं स्वामी हूँ और मन मेरा सेवक। मैं जड़ शरीर नहीं चेतन आत्मा हूँ। मेरे अधीन मनका अस्तित्व है। मैं जब मूर्खतासे अपनेको शरीर मान बैठता हूँ तब वह मेरा संचालन करने लगता है। रे मन ! आ, जहाँ मैं कहूँ, वहाँ स्थिर निःसंकल्प हो जा। नहीं तो मैं तुझे छोड़ता हूँ। मैं यहाँ स्थिर हूँ, तेरी मौज।

(४) मेरे और जगत्के सारे मनोंका संचालन ईश्वर ही करता है। जब वह परम कृपालु मेरे मनमें पवित्रता, शान्तिकी इच्छा दे रहा है तो क्या वह शान्ति न देगा ? ईश्वर मेरे मनको पवित्र, अन्तर्मुख एवं शान्त बना रहा है। मैं पवित्र अन्तर्मुख तथा शान्त हो रहा हूँ। अपने ईश्वर, अपने स्वरूपका

मुझे स्पष्ट अनुभव हो रहा है।

(५) अरे मन, तू जिस विषयका चिन्तन करने जा रहा है, क्या उससे सुन्दर और कुछ है ही नहीं ? क्या ईश्वर और आत्मा भी तुम्हें प्यारे नहीं लगते ? तब औरका चिन्तन क्यों ? शान्त स्थितिसे उदासीनता क्यों ? मेरे प्यारे पवित्र मन ! आओ, सबसे श्रेष्ठ परमानन्दस्वरूप परमात्मामें स्थिर हो जाओ। मेरे प्यारे दोस्त, तुम कितने अच्छे हो कि पवित्र शान्त आत्मामें स्थित हो रहे हो !

आप अपने मनको जैसा बनाना चाहते हैं, वैसा देखिये। वह उसी समय आपको वैसा दीखेगा। सच पूछो तो देखनेके सिवा और मन है ही क्या ? यदि यह बात आपके ध्यानमें आ गयी तो तत्क्षण आप मनसे स्वतंत्रताका अनुभव करेंगे।

आपका—
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

केवल भाव ही तो परिवर्तन करना है। जिसे जड़ जगत्‌के रूपमें देखते हो, उसे भगवद्रूप देखो। यह लीला है—लीला! इसे सत्य मानकर कार्य कारण-विवेक मत करो। इस चिन्मयी लीलाकी यथार्थताको जान लो, फिर कहीं कभी शोक-मोह तुम्हारा स्पर्श नहीं करेंगे।

(१९)

श्रीवृन्दावनधाम

दि. २२-५-४५

प्रिय विपिनजी,

सप्रेम शुभाशीर्वाद!

वास्तवमें भगवान् परिपूर्ण ही हैं। उन्हें कोई देश, काल, वस्तु, गुण, रूप, आदि अप्राप्त नहीं है। न वे कुछ चाहते हैं, न बनते हैं। वह सब कुछ पहिलेसे ही हैं। भक्त लोग जैसा चाहते हैं वैसे दीख जाते हैं। ऋणी बनानेकी नहीं सोच सकते। अत्यन्त प्रेमी, जो गोपियोंकी भूमिकामें पहुँचे हुए हैं, उन्हें नीचा दिखाना चाहते हैं। और चूँकि नीचा देखे हुए भी वही हैं, इसलिए दीख जाते हैं। सच पूछो तो भाई, भगवान् शुद्ध प्रेम हैं। दूसरे जो प्रेमी हैं, उनमें तो उन्हींके किंचित् प्रेमांशका विकास होता है, इसलिए उन जैसे तो वही हैं। अतः तुम्हारा अनुभव ठीक है।

मैं बार-बार तुम्हें कहता हूँ—तुम्हारा स्वरूप शान्ति है, आनन्द है। उसकी इच्छा करना या पाना तो तब उचित होता यदि शान्ति तुमसे पृथक् कोई वस्तु होती। तुम अधिकारीकी भिक्षा मत माँगो। तुम स्वयं शान्ति हो। जिस समय इच्छाएँ होती हैं—उनके शान्त अन्तरालमें बैठकर उन्हें कौन देखता रहता है? जब वे लय हो जाती हैं तब उनके अभावको कौन देखता है? इच्छा और इच्छाके अभावके साक्षी एवं प्रकाशक! तुम्हें कौन विक्षिप्त या शान्त बना सकता है?

तुम्हारा स्वरूप अखण्ड है। इस संसारके बाह्य तथा अन्तर चंचलता तथा अचलताके मूलमें 'मैं' और 'तुम' दोनों एक हैं। तुम और तुम्हारा ईश्वर दोनों ऐसे एक हैं, जिन्हें वे स्वयं अलग करनेमें असमर्थ हैं। तुम शान्त हो, आनन्द हो। जिस अनुभवको तुम चाहते हो वह स्वयं तुम हो। और इच्छाओंकी तो बात ही क्या, तुम इस अनुभवकी इच्छाको भी निकाल फेंको, फिर देखोगे कि सारे अनुभव तुम्हारी दृष्टिमें बसते हैं।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'प्रेम गा-गाकर सुनानेकी वस्तु नहीं है। यदि वह हो तो उसे हृदयमें ही पहचाना अच्छा रहता है। उससे एक ऐसी शक्ति पैदा होती है जो प्रियतम प्रभुको अपनी ओर खींच लाती है।'

★ ★ ★

मैंने बड़े-बड़े अपराध किये हैं। मैंने तुम्हारे व्यापक रूपका तिरस्कार किया है। तुम्हें दिलमें घरमें न ढूँढ़कर दूर तीर्थयात्रामें में ढूँढ़ता रहा। मुझे तुम्हें पानेके लिए दूर जानेकी क्या जरूरत थी?

मैंने तुम्हारे अराध्यरूपका तिरस्कार किया है। तुम्हारे मन-वाणी-बुद्धिसे परे होनेपर भी तुम्हें ध्यानका बच्चा बनाना चाहा। चित्तवृत्तिमें बुद्धिके परेको विषय बनाया जैसे तश्तरीमें बिस्कुट रखना। मेरे इन त्रिविध अपराधोंको हे प्रभो! क्षमा करो।

(२०)

परमहंस आश्रम,
श्रीवृन्दावनधाम
दि. २३-६-४५

परम प्रिय......

सप्रेम नारायण स्मरण।

देखोजी, भजनमें बैठते समय तो एक बार सबको हाथ जोड़ लेना चाहिये।

(१) 'अब मैं संसारसे अलग हो रहा हूँ। यह मरे या जिये। इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। हानि-लाभ नहीं। मैं अपने स्वरूपमें शान्त हो रहा हूँ। शान्त हूँ। कभी किसी कारणसे मेरी शान्ति भंग नहीं हो सकती। परमात्मा शान्त है—प्रकृति शान्त है—मैं शान्त हूँ—शान्त! शान्त! शान्त! सब शान्त है। इच्छा नहीं, संकल्प नहीं, द्वैत नहीं। देश-काल नहीं, कार्य-कारण नहीं। केवल मैं ही मैं, शान्त ही शान्त हूँ।

(२) भगवान् मेरी रक्षा कर रहे हैं। अब दो घण्टे तक मेरा आसन अडिग, शरीर (स्थिर) अविचल, प्राण सम एवं मन समाधिस्थ रहेगा। अब संसारसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है और न तो इसके प्रति कोई महत्त्वबुद्धि है। यह भस्म हो जाय तो भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ता। भगवत्कृपासे अब मैं अपने शान्त स्वरूपमें स्थित हूँ।'

दुविधाकी आदत छोड़नेकी चेष्टा करो। यह काम इस समय इस प्रकार करना है, निश्चय रखो। दूसरे समयमें दूसरा काम मत करो। थोड़ी-सी दृढता अपेक्षित है। सब ठीक हो जायगा।

आहिस्ता-आहिस्ता निःसंकल्पता आती है—कोई परवाह नहीं। तुम यह निश्चय रखो—'मैं निःसंकल्प हूँ। अशान्ति और संकल्प झूठे हैं। केवल ऊपरी सतहपर मालूम पडते हैं। गहराईमें मैं स्वयं शान्त और निःसंकल्प हूँ। ये बाहर हों या न हों। वास्तवमें शान्ति और निःसंकल्पता अभ्यास करके बुलानेकी तो कोई आवश्यकता नहीं है। अभ्यासके लिए शरीर, मन आदि रूप संसारकी अपेक्षा होती है। मैं परम स्वतंत्र सबसे निरपेक्ष हूँ।'

'मन' माने आत्माकी—'मैं' की-मेरी आँख। इसीसे मैं देखूँ तब कोई मुझे दीखे; न देखूँ तो न दीखे। किसी वस्तुका दीखना-मालूम पड़ना मन है। जिस समय कुछ मालूम नहीं पड़ता है, उस समय मन कहाँ है? 'कुछ मालूम नहीं पड़ता—'ऐसा मालूम पड़ना भी मन ही है। यह काला, नीला, पीला, बड़ा, छोटा, ऐसा, वैसा, कैसा, बाहर, भीतर—सब मन ही है, क्योंकि सब मालूम पड़ता है। मालूम पड़ना ही मन है, सो यह बिल्कुल झूठा है। मैं से अलग कभी यह रह सकता नहीं, रहता नहीं—हैं नहीं। केवल परमात्मा-आत्मा है। यदि यह होता, मिलता, दीखता, तो इसको कैद करते, मारते या प्यार करते या उपेक्षा करते। यह तो है ही नहीं। द्वैत कहाँ?

तुम्हारा—
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'मैं स्वयं भावुकतासे कोई विशेष प्रेम नहीं करता। सत्य-सत्य ही है; क्रिया, भावना, स्थितिसे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्तर तो ज्ञान-अज्ञानसे भी नहीं पडता; परन्तु आत्मतुष्टिकी दृष्टिसे ज्ञानका उपयोग है। आखिर शोक, मोह, भय, विकार आदिमें भी जीवनरथ बेरोक टोक चलता ही रहता है। यह चलना क्या अबाध और एक रस नहीं है?'

...... २४-७-५७

(मानसमर्मज्ञ पं. श्री रामकिंकरजी उपाध्यायको लिखे गये पत्रका अंश)

★ ★ ★

(२१)

श्रीवृन्दावनधाम
दि. १०-८-४५

प्रिय विपिनजी,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

(१) किसी पदार्थको परमात्मासे भिन्न समझना संसार है। समझका नाम संसार है—ईंट-पत्थरका नहीं ।

(२) साधारण जन समझते हैं—देश, काल, वस्तु, शक्ति आदिसे समझ बनती है। व्यवहारकी दृष्टिसे यह सत्य भी है। परन्तु सर्वथा सच्ची यह बात है कि समझ ही उनका निर्माण करती है ।

(३) अपनेको भोक्ता दूसरेको भोग्य और दूसरेको भोक्ता तथा अपनेको भोग्य समझना संसार है। दरअसल एक परमात्मा ही है, उसमें भोक्ता-भोग्यका भेद नहीं है। पुरुष भोक्ता है, स्त्री भोग्य-यह भ्रम है। स्त्री भोक्ता है, पुरूष भोग्य-यह भ्रम है। विषय शरीरको खाये जा रहे हैं अथवा शरीर विषयोंको, इसका निर्णय जज बनकर करो ।

(४) जैसे बेवकूफ आदमी दाद खुजलानेको ही सुख मानता है, वैसे ही त्वचाको त्वचासे, जीभको मिर्च-मसालेसे, इन्द्रियोंको विषयोंसे घिसनेको ही सुख कहा जाता है। यह तो केवल आवेगकी शान्ति है। सुख कहाँ है ? जिसे लोग सुख कहते हैं, वह तो इच्छा उदय होनेके पूर्व भी था। फिर मिला क्या ?

(५) भोग्य क्षणभंगुर है। इन्द्रियोंमें संतोषजनक शक्ति नहीं। भोक्ता भिन्न-भिन्न कर्मोंके अनुसार-न्यूनाधिक भोगं करनेके लिये विवश हैं। ऐसी

स्थितिमें संसारमें क्या सुख है ?

(६) तुम जज होकर निर्णय करो, भोगी सुखी है या त्यागी ? कहीं, दोनोंके निर्णायक जज साहब ! आप साक्षी ही तो सुखी नहीं हैं ?

आपका अपना ही—
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'यह आत्मा ब्रह्म है। दृश्य बिना हुए भासता है। वस्तुतः सत्र आनन्दरूप है।'

★ ★ ★

यदि इसी समय भगवान् तुम्हारे पास आ जायँ, जो कि उनकी दयालुताको देखते हुए बहुत सम्भव है, तो तुम उन्हें कहाँ बैठाओगे ? क्या तुमने बाहर या भीतर कहीं भी उनके बैठने योग्य स्थान तैयार रखा है ? अबसे हृदयका कमरा उनके लिये साफ कर लो।

(२२)

श्रीवृन्दावनधाम
दि. २०-८-४५

प्रिय विपिन बाबू,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

आजका नया समाचार यह है कि श्रीहरिबाबाजीने पूरा-पूरा मौन ग्रहणकर लिया है । कीर्तन, रास आदिमें सम्मिलित नहीं होंगे । कथा न कहेंगे, न सुनेंगे । न ऊपरसे नीचे उतरेंगे और न किसीको ऊपर आने देंगे ।

अब तुम अपना उत्सव ठीक-ठिकानेसे कर लो । मैं तो तुम्हारे मनमें बसता हूँ और तनके साथ हूँ । मेरी कोई आवश्यकता पड़े तो मन ही मन ध्यान करके पूछ लेना । कैसी भी परिस्थिति आये, अपने मनको सम रखना । परमात्मा तो अब तुमसे छूटने वाला है नहीं ।

अपना ही—
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'धर्मपालनमें कुछ कष्ट हो तो उसे प्रसन्नतासे सहन करना चाहिये ।'

★ ★ ★

(२३)

कालिकाता
दि. २३-९-४५

प्रिय विपिनजी,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

जन्म, मृत्यु और व्यक्तित्व केवल स्फुरणमात्र हैं । कारण-कार्य, देश-काल और इनके सम्बन्धकी कल्पनाएँ भी स्फुरणामात्र हैं । स्फुरणहीन दशामें कुछ भी ज्ञात और अज्ञात रूपसे अनुभव नहीं होता । यह स्फुरणहीन दशा एक प्रकारसे शुद्ध सत्ताका निश्चय करनेके लिये नमूना मात्र है । समस्त भेद—यहाँ तक कि भेदसे अभेद विलक्षण है, यह भी स्फुरणकालमें ही प्रतिभासित होता है ।

स्फुरणहीन सत्ता अथवा विषयरहित ज्ञान एक ही वस्तु है । इसमें 'यह' और 'मैं' रूप ज्ञान दोनों ही जिज्ञासा दशामें कल्पित किये गये हैं । वास्तवमें चाहे 'वस्तु' एवं 'ज्ञान', 'यह' तथा 'मैं' विभिन्न प्रकारके मालूम पड़ते रहें, परन्तु न तो इससे वस्तु, सत्ता और ज्ञान आपसमें अलग होते हैं और न ही उनमें कोई भीतरी भेद बनता है । एक अद्वितीय अखण्ड ज्ञान ही सत् है और सत् ही ज्ञान है । यह कोई परोक्ष या अन्य नहीं है ।

एक प्रश्नोत्तर

प्रश्नः—तुम समस्त भेद-निरूपणको अनिर्वचनीय क्यों कहते हो ?

उत्तरः—इसलिये कि उनमें भेद नहीं है ।

प्रश्नः—जब भेद नहीं है, तब मेरे मतमें दोष क्यों निकालते हो ?

उत्तरः—इसलिये कि तुम उसमें गुण निकालते हो ।

प्रश्नः—अच्छा, तुम्हारे निकाले हुए दोष अनिर्वचनीय हैं कि नहीं ?

उत्तरः—अवश्य । वे भी अनिर्वचनीय हैं ।

प्रश्नः—तब तुम स्वयं उनका निर्वचन क्यों करते हो ?

उत्तरः—हमें निर्वचन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

हम तो देश, काल एवं वस्तु-भेदकी अवास्तविकता एवं स्वमात्रता जानकर अपने अनन्त स्वरूपमें स्थित हैं । हमें अपनी बात कहनेकी कोई जरूरत नहीं है । जब तुम अपने विचारकपनेका अभिमान लेकर गुण-दोषका विभाग करने लगते हो, तब तुम्हारे ही दृष्टिकोणसे गुण या दोष अनिर्वचनीय सिद्ध कर देता हूँ । तुम्हारा गुण-दोषका भेद स्वयं तुम्हारी प्रणालीसे ही असंगत है । हमारे सिद्धान्तमें कुछ भी परोक्ष, अज्ञात एवं अनिर्वचनीय नहीं है । अनिर्वचनीयता भी तुम्हारी प्रणालीसे है--हमारी प्रणालीसे नहीं । इधर तो निर्वचनीय और अनिर्वचनीयका भी भेद नहीं है ।

अजन्माकी जन्मतिथिपर बधाई !

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

तुम्हारे अन्त:करणमें जितनी पवित्रता होगी, उतना ही अधिक तुम शान्ति और आनन्दका अनुभव कर सकोगे। भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेकर सब पाप-ताप धो डालो और परमानन्दका अनुभव करो।

(२४)

बेलखेड़ा
दि. २८-९-४५

प्रिय विपिनजी,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

कल आपकी वर्षगाँठ है । जीवनका एक वर्ष यह भी बीत गया । मेरा विश्वास है कि इस वर्ष आपके चित्तने काफी उन्नति की है । आपके जीवनमें विचारशीलता, शान्ति एवं समताका विकास हुआ है । आप अधिकसे अधिक अपने हृदयमें स्थित परमात्माकी ओर लौटे हैं, परन्तु मुझे अभी सन्तोष नहीं है । मेरे मनमें आपको अभी और भी निवृत्त, शान्त और परमात्मामें स्थित देखनेकी लालसा है । भगवान् करें, इस आगामी नवीन वर्षमें मेरी यह अभिलाषा पूर्ण हो ।

सत्य अथवा सत्यके रूप दो नहीं हो सकते । एक सत्यसे दूसरे सत्यको अथवा एक रूपको दूसरे रूपसे पृथक् करनेवाली क्या वस्तु है ? सत्य अथवा असत्य ? सत्यसे पृथक् तो असत्य ही होता है । यदि असत्य ही सत्यको अथवा सत्यके दो रूपोंको अलग-अलग करता है तो वास्तवमें सत्य एक ही है । वह दो अथवा दो रूपोंवाला नहीं हो सकता । यदि इस युक्तिपर आप विचार करेंगे तो यह बात आपकी बुद्धिमें बैठ जायगी कि सत्यमें सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद नहीं होते ।

शेष फिर ।
आपका–
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(२५)

बेलखेड़ा
दि. १२-१०-४५

प्रिय विपिन बाबू,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

पंचदशीके इन श्लोकोंका प्रसंग यह है—'एकमात्र अद्वितीय सत्तत्त्वके अतिरिक्त और कुछ नहीं है'—यह सिद्धान्त समझानेके लिये प्रकरणके प्रारम्भमें दृश्यमान सृष्टि पहले नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी, इसलिये वर्तमानमें दीखनेपर भी नहीं है, यह समझा रहे हैं ।

श्रुति कहती है—'सृष्टिके पूर्व एकमात्र सत्तत्त्व ही था ।'

(१) प्रश्नः— माना कि सत्तत्त्व एक ही था, परन्तु उसके अवयव अनेक हों तो ?

उत्तरः— 'सतो नावयवाः शंक्याः'—अर्थात् सत्तत्त्वके अवयव (हिस्से) हो ही नहीं सकते । (सत्तत्त्व बहुत-सी संख्याओं का जोड़ नहीं है; वह बहुत-से 'जुजों' का 'कुल' नहीं है । यदि ऐसा हो तो उसमें भाग देकर यह जाना जा सकेगा कि उनकी लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई कितनी है । तब सत्तत्त्व भी परिमित, परिच्छिन्न, दृश्य, जड़ और नाशवान् हो जायगा । सत्यके एक अवयवको दूसरे अवयवसे अलग करनेके लिये दोनोंके बीचमें एक तीसरी वस्तु चाहिये, और वह वस्तु सत्से भिन्न होनी चाहिये । सत्से भिन्न असत् ही होता है, इसलिये असत्के कारण सत्के दो रूप या दो अवयव हो जायँ तो वे भी असत् ही होंगे । इसलिये सत्तत्त्व एकमात्र अद्वितीय है ।)

प्रश्नः- तुम तो युक्तिसे समझाने लगे, प्रश्न है श्रुतिका। श्रुतिसे समझाओ !

उत्तरः- **'तदंशस्यानिरूपणात्'** श्रुतियोंमें कहीं भी सृष्टिके पूर्व सत्तत्त्वमें अंशका, अवयवका निरूपण नहीं किया है।

इसके विपरीत श्रुतियाँ–'एक ही, अद्वितीय ही, सत् ही था'–ऐसा वर्णन करती हैं। (अंशवान् वस्तु सत्तत्त्व नही हो सकती, क्योंकि वह दृश्य और नाशवान् होती है।)

प्रश्नः- यदि नाम और रूपको सत्तत्त्वका अंश मान लें तो ?

उत्तरः- **'नामरूपे न तस्यांशौ'** नाम और रूप उसके अंश नहीं हो सकते।

प्रश्नः- क्यों ?

उत्तरः- **'तयोरद्याप्यनुद्भवात्'** क्योंकि सृष्टिके पूर्व नामरूपकी उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। कहनेका आशय यह है कि बिना अनेकताके रूपका अनुभव नहीं हो सकता और बिना पृथक्ताके नाम नहीं हो सकता। सृष्टिके पूर्व अनेकता और पृथक्ता बिल्कुल नहीं थी।

(पंचदशी महाभूत विवेक--श्लोक - २२)

प्रश्नः- सृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तरः- **'नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्'** नाम-रूपके प्रकट होनेका नाम ही सृष्टि है।

प्रश्नः- इससे क्या सिद्ध हुआ ?

उत्तरः- इससे यह सिद्ध हुआ कि–**'सृष्टितः पुरा न तयोरुद्भवः तस्मान्निरंशं सद्'** सृष्टिके पहले नाम-रूप प्रगट नहीं हुए थे, इसलिये सत्तत्त्वमें कोई अवयव, एक शरीरमें हाथ, पैर, नाक, कानके समान नहीं था अर्थात् वह स्वगतभेदसे रहित था।

प्रश्नः- इसका कोई दृष्टान्त भी है क्या ?

उत्तरः- **'यथा वियत्'** जैसे आकाश। जैसे घड़ा और मकान बननेके पहले आकाशमें-यह घड़ेका आकाश है और यह मकानका आकाश है-ऐसा कोई भेद नहीं था, इसी प्रकार पशु, पक्षी, मनुष्यादि शरीर बननेके पूर्व सत्तत्त्व आत्मामें यह भेद नहीं था कि यह पशुकी आत्मा है, यह मनुष्यकी आत्मा है, यह मेरी आत्मा है, यह तेरी आत्मा है। जैसे अनेक घटों और मकानोंका आकाश अलग-अलग नहीं है, एक ही

है, वैसे ही सब शरीरोंमें अलग-अलग व्यवहार किया जाने वाला 'मैं-मैं' एक ही है। उसीको सत्तत्त्व कहते हैं। यदि घट, मकान, शरीर आदिको मिटाकर सृष्टिके पूर्वकी कल्पना की जाय तो, 'वह सत्तत्त्व मैं ही हूँ और ये भेद झूठे हैं'—यह बात अनुभवमें आ जायगी ॥२३॥

भेद तीन प्रकारके होते हैं-जैसे एक पेड़में डाल, पत्ते, फूल, फल-इसको स्वगतभेद कहते हैं। बाईसवें और तेईसवें श्लोकमें इसी भेदका खण्डन किया गया है।

(२) दूसरा है सजातीय भेद—जैसे एक वृक्षका दूसरे वृक्षसे। अब विचार करना चाहिये कि सत्तत्त्वका सजातीय भेद किसके साथ हो सकता है ?

प्रश्नः- एक सत्का दूसरे सत्से सजातीय भेद मानें तो क्या हानि है ?

उत्तरः- **'सदन्तरं सजातीयं न'** दूसरा सजातीय सत् नहीं है।

प्रश्नः- क्यों ?

उत्तरः- 'वैलक्षण्यवर्जनात्' एक सत्से दूसरे सत्में कोई विलक्षणता न होनेके कारण। लक्षण एक होनेपर लक्ष्य भी एक ही होता है। एक सत्तत्त्वके दूसरे सत्तत्त्वके लक्षणमें कोई अन्तर नहीं है। सत्का इतना ही लक्षण है—'है'। अब दूसरा 'है' किसी अन्य देशमें, अन्य कालमें अथवा अन्य रूपमें हो सकता है। परन्तु सृष्टिके पूर्व देश, काल, रूपकी कल्पना ही नहीं है। सच पूछो तो सृष्टिके पूर्व की कल्पना भी सृष्टिकी दृष्टिसे करते हैं। अन्यथा सृष्टिके पहले, 'पहले और पीछे'का भेद नहीं था।

प्रश्नः- इसका सारांश क्या है ?

उत्तरः- देखो जी, 'नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा'। नाम और रूपकी उपाधिका भेद हुए बिना अर्थात् सृष्टि हुए बिना सत्तत्त्वमें भेदकी गंध भी नहीं हो सकती; इसलिये सत्तत्त्वमें सजातीय भेद नहीं है ॥२४॥

(३) तीसरा भेद है—विजातीय भेद। जैसे पेड़का पत्थरसे, मनुष्यका पशुसे। विचार यह करना चाहिये कि सृष्टिके पूर्व सत्तत्त्वका विजातीय कुछ था या नहीं।

प्रश्नः- सत्तत्त्वका विजातीय क्या है ?

उत्तरः- 'विजातीयमसत्' सत्तत्त्वका विजातीय तो असत् है।

प्रश्नः- सृष्टिके पहले यदि यह वह हो तो क्या हानि है ?

उत्तरः- क्या खूब ! असत् भी हो और हो भी !
'तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ।' अरे भाई, जो न हो उसीको तो असत् कहते हैं ।

प्रश्नः- इसका नतीजा ?

उत्तरः- 'नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ।' इसलिये असत् तो सत्के सामने खड़ा भी नहीं हो सकता । फिर वह भेदभाव कैसे उत्पन्न कर सकता है ? भाव यह कि सत्तत्त्वमें विजातीय भेद भी नहीं है ॥२५॥

अब छब्बीसवें श्लोकका भाव बतानेकी आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती । सृष्टिके पूर्व सत् ही था और बादमें सत् ही रहेगा । तब यह बीचमें सृष्टिका क्या बखेड़ा उठ खड़ा हुआ है ? यह सत् नहीं है, आगन्तुक है—प्रतीति है अर्थात् केवल मालूम पड़ता है ।

आपका

अखण्डानन्द सरस्वती

यह तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारी प्रत्येक क्रिया भेंटके रूपमें स्वीकारकी जा सकती है, की जाती है। फिर वैसा करके तुम अपने प्राणोंको तृप्त क्यों नहीं लेते? अनुभव करो—जो कुछ मैं कर रहा हूँ, सब मेरे प्रभुके श्रीचरणोंमें भेंट है और वे बड़ी प्रसन्नतासे उसे स्वीकार कर रहे हैं।

(२६)

वृन्दावन

दि. २९-१२-४५

प्रिय.........

सप्रेम नारायण स्मरण।

घटनायें प्रकृतिके गुणोंके अनुसार घट रही हैं—जन्म मृत्यु, रोग आदि। ईश्वर प्रेरक है। एक ही घटनामें भिन्न-भिन्न जीवोंकी भिन्न-भिन्न सुख-दुःख वृत्ति बन जाती है। एक स्त्रीको देखकर विरक्त दुःखी होता है, उस पाप-प्रारब्धका फल मानता है। कामी सुखी होता है, उसे पुण्य-प्रारब्ध मानता है। अधिकांशतः पापीको दुःखकी और पुण्यात्माको सुखकी कल्पना होती है। स्त्री एक प्राकृतिक मांसपिण्ड है। चित्तको आत्मा समझनेकी भूलके कारण है। इसलिए ज्ञान होने पर भी 'यह सुख है', 'यह दुःख है'—ऐसी वृत्ति तो बन सकती है; परन्तु 'मैं सुखी हूँ—दुःखी हूँ'—ऐसी नहीं। जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं, जिनकी वृत्ति निरन्तर ब्रह्माकार रहती है, उन्हें 'यह सुख है, यह दुःख है'—ऐसी वृत्ति भी नहीं बनती है। रुचि-अरुचि, इच्छा-अनिच्छा सब सुख-दुःख-भावके बच्चे है। साँप देखर भागनेकी, रोटी देखकर खानेकी इच्छा, रुचि, सुख-दुःख भावनाके अनुसार है।

ज्ञानी—अज्ञानीका सब एक-सा है, परन्तु :—

ज्ञानी		अज्ञानी
(१) सब स्वरूप या मिथ्या है।	—	सब सत्य है।
(२) मैं कर्ता नहीं हूँ। सब होता-सा दीख रहा है।	—	मैं कर्ता हूँ।
(३) मैं सुख-दुःखका भोक्ता नहीं हूँ।	—	मैं सुखी-दुःखी हूँ।

बस इतना ही फर्क है।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

☆ ☆ ☆

आत्मोल्लास

मैं अपने को क्या भूला या क्या जाना यह किगसे सुनाऊँ?
भूला अपनी मस्ती में फिर जाना तो क्या खुशी मनाऊँ?
भले भूल जाऊँ या जानू पर मैं तो ज्यों क त्यों ही हूँ।
मृत्यु-अमृतके अनृत सन्धि-कौशल का कारीगर यों ही हूँ॥

देवकीके गर्भमें भगवान्‌के आनेका अभिप्राय ऐसा ही है जैसा वेदान्त स्वीकार करता है।

यदि आत्मा साक्षी है तो ब्रह्म! 'शिवोऽहम्' है। उसका दुःखसे, जडतासे, मृत्युसे कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध आत्मस्वरूपमें परिच्छिन्न नामकी कोई वस्तु नहीं है, किन्तु जबतक ज्ञान वृत्त्यारूढ नहीं होता तबतक दुःख, जडता, मृत्यु, अज्ञानता दूर नहीं होते। इसी प्रकार ईश्वर सम्बन्धी ज्ञानमें जबतक देवकीके गर्भमें ईश्वर न आवे तब तक दुःखसे छुटकारा नहीं हो सकता।

जिज्ञासुके प्रति

जय हो प्रिय जिज्ञासु तुम्हारी बुद्धि शुद्ध हो ।
त्यागे विषयविलास, आत्मशोधन प्रबुद्ध हो ॥
तुम अविनाशी सत्य कालके द्रष्टा चेतन ।
हो सबमें भरपूर, एकरस विश्व निकेतन ॥१॥
तुमसे तुम ही एक, द्वैतका लेश नहीं है ।
अमर, अजर, अज, लेपरहित क्या क्लेश कहीं है ।
स्वयं तत्त्व हो तुम्हीं, स्वयं को स्वयं छान लो ।
अवधूतोंका गीत 'अहं ब्रह्मास्मि' जान लो ॥२॥
कर सबका अपवाद, आपको ब्रह्म पिछानो ।
अज अद्वैत अनन्त न निजमें कुछ भी सानो ॥
किसमें किससे कौन अन्वयी या व्यतिरेकी ?
बाधित हुई उपाधि, रहा फिर कौन विवेकी ॥३॥
गयी अन्धतागन्ध, बन्धप्रतिबन्ध कहाँ है ?
साधन, सन्धि, समाधि, मोक्ष, अनुबन्ध कहाँ है ?
पूर्ण चूर्णकी कथा वृथा है, व्यथा नहीं है ।
समरस गगन समान मानकी प्रथा नहीं है ॥४॥
यह कारण, यह कार्य, दृश्य यह द्रष्टा चेतन ।
यह दुःख, यह सुख, भेद-छेदके मिथ्या दर्शन ॥
मिथ्या मिथ्या नहीं, सत्य भी सत्य नहीं है ।
दोनों अपने निज स्वरूप, सब ब्रह्म सही है ॥५॥
सर्व सर्वदा सर्वगत, जो अद्वय विज्ञान ।
नानुवृत्त व्यावृत्त वा, सो निज 'मैं' पहचान ॥६॥

★ ★ ★

(२७)

वृन्दावन
दि. ३-४-४६

प्रिय........

सप्रेम नारायण स्मरण ।

यह सृष्टि ज्ञानीको भी ठीक वैसी ही दिखलायी पड़ती है, जैसी अज्ञानीको । ज्ञानका स्वभाव समझमें परिवर्तन करनेका है, समझी जाने वाली वस्तुमें नहीं । हम एक चमकीले पदार्थको भूलसे मणि समझ बैठें तो उस पदार्थका सच्चा ज्ञान मणि समझनेकी भूल मिटा देगा, चमक नहीं मिटायेगा । लाल फूल पर रखी हुई स्फटिक मणिको यदि कोई लाल समझनेकी भूल करे तो ज्ञान होने पर केवल मणिकी लालिमाकी भूल ही मिटेगी, उसका लाल दीखना न मिटेगा । स्वप्नमें भी वैसा ही जगत् दीखता है, जैसा जाग्रत्में । स्वप्नमें दो तरहकी स्थिति होती है :–१. स्वप्नको समझना. २. स्वप्नको जाग्रत् समझना । अज्ञानियोंकी स्थिति दूसरे प्रकारकी है अर्थात् वे स्वप्नको जाग्रत् समझते हैं । ज्ञानी स्वप्नको देखते हुए भी उसे स्वप्न ही समझते हैं । ज्ञानियोंकी दूसरी अवस्था होती है–समाधिकी । उस समय संसार नहीं, उसका अभाव दिखलायी पड़ता है । इसीको संसारका सुषुप्तिवत् दीखना कहते हैं । तुम्हारे प्रश्नका उत्तर यह हुआ कि ज्ञानीको व्यवहार कालमें सारी वस्तुएँ स्वप्नवत् हैं और समाधिमें सुषुप्तिवत् । वस्तुएँ सब ज्यों-की-त्यों ठोस दिखलायी पड़ती हैं; परन्तु उनमें 'यह ठोस है' ऐसी बुद्धि नहीं रहती । यदि इस बुद्धिका विस्मरण हो जाय तो उस विस्मरणमें भी ठोस बुद्धि नहीं रहती । ज्ञानीका जीवन शुद्ध ज्ञान है । वह क्रिया, पदार्थ, भावना और स्थितियोंको केवल अपना खेल-मेल समझता है, केवल प्रतीतिमात्र ।

यह बात मैंने केवल व्यक्तिगत दृष्टिसे कही है । सच पूछो तो ज्ञानीकी स्थिति स्वसंवेद्य होती है । मूर्खको अपना शरीर जितना प्रत्यक्ष है, उतना ही

ज्ञानीको आत्माकी ब्रह्मरूपता। जैसे शरीरको भूलनेपर भी हम दूसरे नहीं हो जाते, वैसे ही अपनी ब्रह्मरूपता भूल जानेपर भी हम कोई दूसरे नहीं हो जाते। साक्षात् अपरोक्ष अनुभव—ब्रह्मस्वरूप आत्मापर स्मरण-विस्मरण का क्या प्रभाव है ? परन्तु देहकी स्मृतिसे जैसे उसको संवार-सजाकर उसके धर्मका पालन होता है, उसी प्रकार अपनी ब्रह्मरूपताके स्मरणसे जीवनमें निर्दोषता, असंगता, शान्ति एवं परमानन्दका विस्तार होता है। मैं समझता हूँ कि अब तुम्हारे पूछे हुए श्लोकोंके अर्थ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है; मिलने पर बता दूँगा।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

क्या ही अच्छा होता कि तुम जैसा बनना चाहते हो, वैसा बन जाते! परन्तु वैसा न बननेका कारण क्या है ? तुम्हारी दुर्बलता। शरीर चाहे वहाँ तक न जा सके, मनसे जानमें तो कोई अड़चन है ही नहीं। तुम जहाँ पहुँचना चाहते हो, मनसे वही जाकर बैठो। तुम देखोगे कि तुम्हारा शरीर और उसकी परिस्थितियाँ तुम्हारी सहायता कर रही हैं और तुम अपने प्रियतम प्रभुके पास हो।

(२८)

बिरौली
श्री रामनवमी

प्रिय विपिनजी,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

यह प्रश्न सुन्दर रहा । पहले दृष्टान्तका तात्पर्य समझो । केवल वस्तुको समझानेके लिये एक सरल रीति । सो भी केवल एक अंश । ठूंठमें भूतका दृष्टान्त जगत्का असत्पना समझाता है । फिर प्रश्न उठता है–भ्रान्ति मिटनेपर जगत् क्यों दीखता है ? इसका उत्तर है–स्फटिककी लालिमा ।

लाल फूलके कारण सफेद मणि लाल दीखता है । अंतःकरण है लाल फूल । यह दृश्यमान् जगत् है–लालिमा । मणि है–ब्रह्म । जबतक ब्रह्मके साथ अन्तःकरण जुड़ा हुआ है तबतक जगत् दीखेगा । अन्तःकरण मिथ्या है, यह भी तो एक अन्तःकरणका ही विचार है । इसलिये विचारकी दशामें जगत् दीखेगा । जब अन्तःकरण शान्त हो जायगा तब वह नहीं दीखेगा–जैसे समाधिमें । जबउदय होगा तब दीखेगा–जैसे स्वप्नमें । जब आत्माकी ब्रह्मरूपताके ज्ञानसे अन्तःकरणके सहित समस्त दृश्यके प्रति दृढ़ मिथ्यात्व बुद्धि, प्रतीतिमात्र बुद्धि अथवा स्वरूपबुद्धि (जो कि अन्तःकरणमें ही होती है) हो जानेके कारण अन्तःकरणमें पुनर्जन्म ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं रह जायगी-–वह मिट जायगा, तब लाल फूल न रहनेके कारण लालिमाका भाव भी नहीं होगा । इसलिये लालिमाको साबुनसे धोनेका प्रयास न करके उसे स्वपरऐक्यज्ञानके द्वारा बाधित करनेका ही प्रयास करना चाहिये ।

यदि मुझसे ब्रह्म ही बात करता तो मैं कह देता कि अरे ब्रह्म, तुझमें अन्यकी सत्ता, अन्यका अंग या प्रतीति नहीं है । तुझे भ्रम भी नहीं है । जो कुछ टेढ़ा-सीधा, रंग-बिरंगा दीख रहा है, वह तू ही तू है । परन्तु मेरे सामने तो एक जिज्ञासु है जो अन्तःकरणकी आँखसे ही देखता है । इसलिये दृष्टान्तका सहारा

लिया। दृष्टान्तको न पकड़कर अपनेको पकड़िये; देखिये, बिना देहाभिमानके जगत्की प्रतीति कहाँ है ? अनन्तमें सीमित वस्तु कैसे ? तुम तो अनन्त हो। रज्जु में सर्प-भ्रमके अनेकों हेतु हैं :-

(१) आँखकी मन्दता, (२) रस्सीका होना, (३) असावधान रहना, (४) पहले देखे हुए साँपका संस्कार, (५) रस्सी और साँपका सादृश्य।

मनके संकल्प या विचार कोई नये नहीं। सब संस्कारवश ही होते हैं। जब हम भूलसे अपनेको उनका कर्ता मान बैठते हैं तब वे नये बन जाते हैं। अभिमान ही नया है। संकल्पकी धारा तो पुरानी है।

संसार सत्य है या असत्य ? इतना ही क्यों पूछते हो ? या तो पूछो- संसार क्या है ? अथवा यह पूछो कि वह सत्य, असत्य, या इन दोनोंसे विलक्षण कुछ और है क्या ? उत्तर अनिर्वचनीय ही ठीक है।

सत्य है या असत्य है-यह निर्णय तो बुद्धि करती है। बुद्धि सत्य है या असत्य, यह निर्णय कौन करेगा ?

सत्य, असत्य-दोनोंका 'यह' रूपसे निर्वचन होता है। केवल 'मैं' का 'यह' रूपसे निर्वचन नहीं होता। इसलिये केवल 'मैं' ही अनिर्वचनीय है। माया, ईश्वर, प्रेम, जगत् सब अनिर्वचनीय हैं, इसलिये 'मैं' हैं।

आपका-

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(२९)

वृन्दावन
दि. २५-७-४६

प्रिय..........

सप्रेम नारायण स्मरण ।

भगवान्का अन्य रूपसे ध्यान तो केवल न्यायदर्शन-सम्मत है, जिसे उपासकोंने स्वीकार किया है। भक्तियोगके अनुसार भी रूपसे भाव (मुस्कराहट, चितवन आदि) का, तथा भावसे भी ध्येयके आनन्दका ध्यान श्रेष्ठ माना गया है। सांख्यके अनुसार दृश्यके दीखते रहनेपर भी उससे राग न होना, तादात्म्य या एकत्व न होना ध्यान है। पुरुष (चेतन मैं) स्वयं असङ्ग है। योगदर्शनके अनुसार दीखना बंद होना चाहिये। जब वृत्तियोंका चारों ओरसे निरोध या परावर्तन (लौटना) हो जाता है और वे अपने उद्गम स्थानसे बाहर नहीं जातीं--'अहं' में ही रुक जाती हैं, उस समय द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होता हैं। इसीकी पूर्णता होनेपर अस्मिता (अहंभाव) का आलम्बन करके होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधि होती है। जबतक यह ध्यानकी अवस्था है, 'मैं ध्याता अपने ध्येयका अनुभव (ध्यान) कर रहा हूँ'—ऐसा भान होता है, तबतक ध्यानकी अवस्था कही जाती है। परन्तु जब 'यह ध्यानकी अवस्था है'—ऐसा भान नहीं रहता, अपने ध्येयका ही स्फुरण होता है, अपने जाग्रत्कालीन शरीर और उसके संबंधकी स्फूर्ति नहीं रहती, तब उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह स्थूल रूपके ध्यानसे, सूक्ष्मके ध्यानसे और आनन्द मात्रके ध्यानसे हो सकती है। यह वास्तवमें ध्यातासे पृथक् नहीं है, ध्याताकी ही एक वृत्तिका स्फुरण है; इसलिये इसका गाढ़ ध्यान होनेपर ध्येय लुप्त हो जाता है और ध्याता अपने स्वरूपमें, द्रष्टामें स्थित हो जाता है। इस स्वरूपस्थितिमें शब्द, अर्थ और ज्ञानका भेद (विकल्प) नहीं रहता है। इसीसे 'ज्ञाता'के रूपमें 'अहं' की स्फूर्ति नहीं होती और यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधिसे ऊपर हो जाती है। इसके भी दो भेद होते हैं—सबीज और निर्बीज। पहली अवस्थामें जाग्रत्का बीज रहता है, जिससे समाधि टूटती है; दूसरीमें नहीं रहता। यह यदि तत्त्वज्ञानके बाद हो तो वेदान्तियोंको

कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु यदि जीवोंकी अनेकता, ईश्वरकी अन्यता अथवा जगत्की सत्यताके संस्कार नहीं मिटे हैं तो इस समाधिको भी वे एक जीवकी भावनात्मक स्थिति ही मानते हैं। इसमें संसारका बीज विद्यमान है। गुरुके द्वारा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा ऐक्यज्ञानकी आवश्यकता है।

वेदान्तियोंने चित्त, जगत्, जीव, ईश्वर आदिकी परिभाषा अलग की है। इसलिये इनकी साधन-परिपाटी भी अलग हैं। ये चित्तको 'घट' के समान अर्थरूप-वस्तुरूप नहीं मानते हैं। ये चित्तको अर्थका भावमात्र मानते हैं। इसलिये इनके मतमें यह जो जाग्रत् कालमें विस्तृत जगत् दिखायी या सुनायी पड़ता है, स्मरण या अनुमानमें आता है, सब केवल स्वप्नावस्थाके समान चित्तका विलास है। जैसे स्वप्नका जगत् (पृथ्वी, समुद्रादि), सहस्त्रों जीव, ईश्वर आदि स्वप्नकी कल्पना करने वाले चित्तका ही विलास है—इसी प्रकार जाग्रत्की कल्पना करनेवाले चित्तका ही विलास है। देश, काल एवं वस्तुओंके, जीव, ईश्वर, स्वर्गादिके रूप एवं भेद चित्तके स्फुरण हैं। एक शरीरकी जाग्रत् अवस्था ही अपनी जाग्रत् नहीं है। हजारों जीवाभास और उनके स्वप्न, सुषुप्ति आदि मेरे जाग्रत्का विस्तार है। इसलिये वेदान्तियोंका ध्यान, यहाँसे प्रारंभ होता है कि यह सब मेरे चित्तका स्फुरण है—पृथक् द्रव्य नहीं है।

(१) 'समस्त दृश्य पदार्थोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—मैं असङ्ग, निर्विकार, कूटस्थ, एकरस ब्रह्म हूँ'—ऐसी निश्चयात्मक स्थिति।

(२) 'मेरे सिवाय दृश्य नामक कोई वस्तु ही नहीं है। मैं एक अद्वितीय, आधार-आधेय भाव, कार्य-कारण भाव आदिसे रहित, माया आदिसे शून्य परम तत्त्व हूँ।'

यह भी एक प्रकारसे भावनात्मक स्थिति ही है। अर्थात् यह भी एक चित्तकी स्फुरणा है। चित्तका निर्विषय—निःसंकल्प होजाना मात्र ध्यान है। वेदान्तियोंके मतमें विषयोंका (सुषुप्तिकालीन अज्ञानका अनुभव भी विषय ही है) भान ही चित्त है। इसलिये भान मिटजानेपर चित्त नहीं रहता। अब जो चित्तका अधिष्ठान है—जिसमें चित्त स्फुरित हो रहा था, वही रहता है। यही

चित्तका अपने अधिष्ठानसे किसी भी रूपमें पृथक् न स्फुरना 'ब्राह्मी स्थिति' है, अथवा सच्चा ध्यान है। यह ध्यानकी ब्राह्मी स्थिति है। ज्ञानकी दूसरी है। इस सम्बन्धमें तुम पूछो, तब बताऊँगा।

(३) शरीरकी विभुताके ज्ञानसे जो अपरिच्छिन्नका अनुभव होता है, वह उपयोगी एवं सहायक होनेपर भी स्थूल है। स्थूलता, सूक्ष्मता, कारणता-सब अपरिच्छिन्न ही है। सबमें एकरस 'मैं' (स्वयं अपने-आप) की सत्ता ही वास्तवमें अपरिच्छिन्न है।

(४) सब शरीर इतने ही अपने हैं, जितना यह शरीर—इससे 'मैं' की अपरिच्छिन्नता ही दृढ़ होनी चाहिये। अन्तःकरणकी अक्षुब्धता और व्यवहारका सौन्दर्य गौण है। ज्ञानकी सफलता तत्त्वके साक्षात्कारमें ही है, जिससे अविद्याकी निवृत्ति होती है, व्यावहारिक उपयोगमें नहीं। शरीर, व्यवहार, साधन, ज्ञान--सब सत्यके दर्शनकी सामग्री हैं। ज्ञानका फल व्यवहारमें जो आये, आने दो--इस पर दृष्टि डालना बहुत आवश्यक नहीं है। पूर्व-पूर्व भेदज्ञानके संस्कारसे व्यवहार होता है।

(५) सर्वत्र निर्विशेष रूपसे ब्रह्म है—यह ठीक है। परन्तु ऐसा समझनेमें ब्रह्म कहीं कोई परोक्ष पदार्थ न रह जाय, इसलिये उसे 'मैं' कहना-समझना भी आवश्यक है। सर्वकी अनुभूतिमें 'मैं' का रहना अनिवार्य है। 'मैं' ही निर्विशेष रूपसे सर्वत्र है। इसीसे 'ब्रह्म सब है' के साथ ही 'आत्मा सब है', 'मैं सब है'—यह वाक्य भी उपनिषदोंमें हैं।

(६) वास्तवमें आत्मा ही परम पवित्र है। जो अपनी सहज पवित्रतामें अकृत्रिम रूपसे स्थित है, उसका अंतःकरण, इन्द्रियाँ, शरीर भी सहज ही पवित्रतामें स्थित हैं। कर्तृत्वसे, प्रयत्नसे जो पवित्रता रखी जाती है, वह तो अपने अन्तरालमें अपवित्रताका भार छिपाये हुए है। तुम पवित्र हो तो तुम्हारा सब पवित्र है। सत्यको माननेकी आवश्यकता नहीं होती। वह अपनेको मना लेता है। न माननेपर भागता नहीं।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

(३०)

श्रीवृन्दावन,
दि. १३-९-४६

प्रिय बन्धु,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

(१) सब आत्मा है—क्रोध किसपर ?

(२) क्या स्थाणुमें प्रतीयमान चोरपर भी लाठी प्रहार ?

(३) सब भगवान् या उनकी लीला है—प्रत्येक घटना ही प्रेमपूर्ण है ।

(४) सब प्रकृतिका खेल है—इसमें अच्छा-बुरा क्या ?

(५) अपने स्वभावसे विवश लोगोंकी चेष्टापर ध्यान ही क्या ?

(६) हमारा अंतःकरण इन विचारोंको आत्मसात् कर चुका है—अब उसमें क्रोध असम्भव है ।

(७) मैं जीवनभर अब कभी क्रोध नहीं करूँगा—ऐसा दृढ़ निश्चय है ।

(८) अनुकूलता-प्रतिकूलताके भाव अज्ञानमूलक हैं—यह क्रोधकी नींव है ।

(९) जो मेरे मन और शरीरके प्रतिकूल क्रिया करता है, वह मुझे उनसे ऊपर उठनेकी प्रेरणा देता है । जहाँ कोई निशाना लगायेगा, उससे मैं ऊपर हूँ ।

(१०) क्या यह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि मैं अपने चित्तका प्रसाद खो दूँ ?

(११) मुझको कोई कामना नहीं है, फिर किस कामनाकी पूर्तिमें बाधा होनेपर क्रोध करूँ ?

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'प्रीति करि सुख मति चहियौ री।
जैसें जैसें राखे प्रीतम तैसें रहियौ री॥'

★ ★ ★

यदि अबतक जीवन का उद्देश्य निश्चित न किया हो तो आज ही, इसी समय कर लो। उद्देश्यहीन जीवन व्यर्थ है।

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(३१)

वृन्दावन
दि. १५-११-४६

प्रिय........

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

वैसे तो भगवान् सर्वत्र हैं और सब हैं । अपने चित्तकी दुर्बलता और घबराहटके सिवा और कोई दुःखका कारण नहीं है । चञ्चलता भी दुःख नहीं है । देखो, बालकका मन कितना चञ्चल रहता है, परन्तु वह दुःखी तो नहीं होता । हमने कई स्थितियोंके बारेमें यह कल्पना कर रखी है कि यह दुःख है । यह सब मनका आरोप है । मरनेके पूर्व मरनेका भय मानस दुर्बलताके सिवा और क्या है ? ज्ञान मृत्युको भी अमृत बना देता है, भयको हास्यकी सामग्री ।

इस क्षणको मस्तीसे व्यतीत होने दो । अगले क्षणकी कल्पना करके इसे खोओ मत । इस तरह कुछ भी हाथ नहीं लगता । भूत-भविष्यकी चिन्ता छोड़कर, आगे-पीछेके क्षणोंको न देखकर, वर्तमान क्षणमें ही अपने स्वरूपको देखो ।

तुम्हारा—
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(३२)

वृन्दावनमधाम
दि. २७-११-४६

प्रिय विपिनजी

शुभाशीर्वाद !

संसारमें ऐसी कोई इच्छा, कोई दुःख नहीं है जो बिना परिच्छिन्न पदार्थमें आत्मबुद्धि किये होता हो। अपने को अपूर्ण माने बिना किसी देशमें, किसी कालमें, किसी रूपमें न मिलनेवाली वस्तुकी आवश्यकता ही क्यों उदय होने लगी ? सारी सीमाएँ उसीको बाँधती हैं जो 'अहं' की झूठी मायासे जकड़ा हुआ है। 'है' और 'नहीं है' का बोध भी तो 'अहं' की भीतिपर ही खड़ा है। यह सब भावों, स्थितियों और ज्ञानोंकी आधारशिला है। इसे ही खोना है। अब एक प्रश्न यह हो सकता है कि 'अहं' खोया कहाँ और कैसे जाय ? यदि इन पदार्थों एवं स्थितियोंमें, चाहे वे दिव्य हों अथवा अदिव्य, अपनेको खोनेकी चेष्टा ही की जाय, जिनका अनुभव ही बिना 'अहं' के नहीं होता, तो किसी प्रकार भी 'अहं' का खोना संभव नहीं है। ऐसी स्थितिमें 'अहं' का आधार या मूल का ही अनुसन्धान करना पड़ेगा। यह जो प्रत्येक ज्ञान-अज्ञान के मूलमें 'अहं-अहं' की लड़ी नहीं टूटती, यह कहाँसे आती है, कहाँ फुदकती है ? वह कौन-सा समुद्र है, जिसकी यह तरंग है ? इसके मोटेपनको काटते जानेपर सूक्ष्मसे सूक्ष्म अवस्थामें जाकर पूर्णरूपसे 'इदं' में जो 'अहं'—बुद्धि हो रही है, इसका विसर्जन हो जानेपर 'अहं' के लिये कोई परिच्छिन्न पदार्थ नहीं रह जाता। फिर तो वह अपने मूलको छोड़कर और कहाँ समायेगा एवं 'अहं' पदका दूसरा अर्थ ही क्या शेष रह जायगा ? एक, अद्वितीय, अनन्त, शान्त, चिद् वस्तु ही समस्त पृथक्-पृथक् स्फुरित होनेवाले 'अहं' का मूल स्वरूप है। इस लिये यदि बोध हो जाय कि मेरा मूल स्वरूप क्या है, तो जीवनकी किसी खास स्थितिके लिये कोई आग्रह न रह जाय। जो हो जाय, होता रहे। जो कहा जाय, कहा जाता रहे। एक बार डूबकर देखो तो सही, अपना मूल स्वरूप कैसा है !

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

(३३)

वृन्दावनधाम
दि. २६-११-४६

प्रिय विपिनजी,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

(१) किसी स्त्रीने एक महात्माको कपटी कहकर पुकारा । वे खुशीसे खिल उठे । लोगोंने पूछा–'इतनी खुशी क्यों ?' वे बोले–'आज मेरा सच्चा नाम लिया गया ।'

(२) एक महात्माके पास कुछ दुष्ट आये और थोड़े दिन रहकर चले गये महात्मा रोने लगे । लोगोंने पूछा–'क्यों ?' वे बोले–'हाय ! हाय ! वे ज्यों के त्योंलौट गये । सत्संगसे उनका कुछ सुधार नहीं हुआ ।'

(३) कोई महात्मा रास्तेसे जा रहे थे । किसीने उनके ऊपर एक टोकरी राख डाल दी । शिष्य बिगड़े । महात्माने कहा–'आज मेरे ऊपर आग बरसनेवाली थी । इन्हें धन्यवाद दो कि इन्होंने उसे राख कर दिया ।'

(४) परदेश जाते समय पतिने पत्नीसे कहा–'मैं तुम्हारे लिये कितने दिनोंका प्रबन्ध कर जाऊँ ?' स्त्रीने कहा–'जितनी मेरी आयु हो ।' पति बोला-–'यह तो मुझे नहीं मालूम ।' स्त्री बोली–'जिसे मेरी आयुका ज्ञान है, वही आजीविकाका प्रबन्ध करेगा; तुम्हारी चिन्ता व्यर्थ है ।' जब पड़ोसीने पूछा–'क्यों जी, तुम्हारे स्वामी तुम्हारे खाने-पीनेका क्या प्रबन्ध कर गये हैं ?' स्त्री बोली—'खाने वाले स्वामी परदेश गये, खिलाने वाले यहीं हैं ।'

(५) सेवकने कहा–'स्वामी ! बाहर आकर देखिये, कैसी वसन्तकी बहार है !' 'स्वामी ने कहा–तू ही जरा अन्दर आकर देख, कैसी छटा है ? इसके सामने बाहरकी सब छटाएँ फीकी हैं ।'

(६) किसीने कहा—'स्वामी, आप पाप और पापियोंसे घृणा करते होंगे ?'

स्वामी—'मुझे अपने प्यारेसे अवकाश ही कहाँ है ?'

(७) एक शिष्यको अशुद्ध पाठ करते देखकर आगन्तुकने कहा—'आप अशुद्ध पाठसे इसको क्यों नहीं बचाते ?' महात्मा ने कहा—'मैं फकीर हूँ, मुझे किसीका दोष देखनेका कोई अधिकार नहीं है।'

(८) एक साधक अपना मन ढूँढ रहा था। आकाशवाणी हुई—'तू मुझे छोड़कर मन क्यों ढूँढ रहा है ?'

(९) एक महात्मा ईश्वरसे प्रार्थना करते थे—'प्रभो ! मेरे साथी मेरे सङ्ग-दोषसे ही अपराध करते हैं, इसलिये इनके अपराधोंका दण्ड इन्हें न देकर मुझे देना।'

(१०) आश्रमवासीके चोरी करनेपर लोगोंने कहा—'महाराज ! इसे निकाल दो।' महात्मा बोले—'ईश्वर अपनी सृष्टिसे क्यों नहीं निकालता ?'

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

—०—

हे दन्तावन सम्प्रविश्य विवरं निःशंकमङ्गीकुरु
पीडां तैर्विहितां मनाग हतमना मा भूः सहस्वापदम् ।
लोके शोधन बोधन प्रणयिनः के के न कां कां दशां
कष्टामापुरहो रहोगतमिदं पीडोद्भवाः सिद्धयः ॥

'हे दाँतोंकी रक्षा करनेवाली दातुन ! तुम मुखविवरमें प्रवेश करके दाँतोंके द्वारा दी हुई पीड़ाको निश्शंक होकर स्वीकार करो। किंचित भी उदास-निराश न हो। आपत्तिको सहो; क्योंकि लोकमें नयी चीज खोज करने, सत्यको समझानेवाले ऐसे कितने प्रेमी हुए हैं, जिन्होंने न जाने कौन-कौन सी कष्टमयी दशा सहन नहीं की है। सच पूछो तो रहस्यकी बात यह है कि सारी सिद्धियाँ सहनमेंसे निकलती हैं।'

(३४)

वृन्दावन
दि. ३०-११-४६

प्रिय......

सप्रेम नारायण स्मरण ।

मेरा अभिप्राय तो केवल इतना ही था कि बालक चंचलतामें दुःखकी कल्पना नहीं कर सकता । जो अपूर्णताके अनुभवमें अपनेको खो बैठा है—स्वयं अपनेको पूर्ण या पूर्णसे सम्बन्धवान् नहीं जानता, वह दुःखी ही रहेगा । 'वह चंचल होनेपर भी दुःखी नहीं होता' अर्थात् चंचलतामें दुःखका आरोप नहीं करता । और सब आपका कथन ठीक है । बालककी स्थिति कोई पूर्ण थोड़े ही है !

दुःखाकार या सुखाकार चित्तवृत्ति होना तो अन्तःकरणका स्वभाव ही है । परन्तु इसके हेतुरूपसे जो बाह्य निमित्तोंकी कल्पना कर ली जाती है, वह सर्वथा अज्ञान एवं अन्धपरम्पराजनित संस्कारकी सखी है । 'मर गया', 'चला गया' आदि घटनायें भाव-भेदसे सुख-दुःख—दोनोंकी निमित्तता धारण करती हैं । चित्तकी परिणामरूप दुर्बलता तबतक रहेगी जबतक वह सर्वथा निर्विषय अथवा इष्टाकार नहीं हो जाता । ज्ञानका इतना प्रभाव अवश्य होता है कि चित्तवृत्तिके परिणामका शुद्ध द्रष्टा अपनेको अभिमानी अर्थात् 'मैं सुखी-दुःखी हूँ'—ऐसा कभी नहीं समझता । बाह्य निमित्तोंसे सुखी होनेकी कल्पना केवल विषयी लोगोंके चित्तमें होती है या अधकचरे साधकोंको, जो देहात्मबुद्धिके पक्के सेवक हैं ।

'मुझे बाहरका कुछ चाहिये ही नहीं चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो'--ऐसा निश्चय-सम्पन्न व्यक्ति कभी किसी कारणसे दुःखी क्यों होने लगा ?

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

'बनना कवि पर कभी दुःखके गीत न गाना ।
टीका करके कभी न मनमें व्यथा बुलाना ॥
रहो हमेशा सरस प्रीतिकी रीति बढ़ाओ ।
तन मन धनके बिना प्रेमके फूल चढ़ाओ ॥
दिलको कड़वा मत करो, रखो सदा रस घोल ।
सुनकर सब सुखमें सनें, बोलो ऐसे बोल ॥'

★ ★ ★

क्या तुमने आज किसीको कुछ सेवा की है ? यदि नहीं तो आजका दिन तुमने खो दिया। यदि किसीकी कुछ सेवा की है तो सावधान रहो, मनमें कहीं अहंकार न आ जाय! इस विशाल विश्वमें तुम्हारा कर्तृत्व कितना छोटा है। यदि इससे अधिक सेवा कर पाते तो क्या उत्तम होता!

(३५)

वृन्दावन
दि. १३-१२-४६

एक दिन किसी भक्त सेठके घर नास्तिक भोजन करने बैठ गया। मालूम होनेपर उसे सेठने उठा दिया। रातको स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा—'भगतजी! जिसे मैंने ७० वर्षकी आयु तक बिना नागा भरपेट रोटी खिलायी, उसे आप मेरे कहलाकर एक दिन भी नहीं खिला सके! धन्य है आपकी भक्ति!

सारे देशमें दुर्भिक्षके कारण त्राहि त्राहि मची थी। एक साधारण स्थितिका मनुष्य बड़ी मस्तीसे सड़कपर घूम रहा था। उससे एक भक्तने पूछा—'इतनी आपत्तिके समय तुम खुश क्यों हो?'

उस मनुष्यने कहा—'जिनका मैं नौकर हूँ, उनके पास कई सालके खाने भरको अन्न है। मुझे क्या फिक्र?' भक्तजीका हृदय भावसे भर गया—'मेरे मालिकके पास तो कभी कोई कमी हो ही नहीं सकती।'

ब्रह्मसूत्रके टीकाकार वाचस्पति मिश्र एक इमलीके नीचे बैठकर तीस वर्ष तक ग्रंथ लिखते रहे। एक दिन किसीने आकर कन्याका विवाह करनेके लिये करुण स्वरमें उनसे धन-याचनाकी। उन्होंने आँख उठाकर सामने देखा तो उनकी पत्नीने, जो तीस वर्षसे उनकी सेवामें थी, अपना कड़ा निकालकर उनके सामने रख दिया। उन्होंने पूछा—'तुम कौन हो दयावती?' स्त्री बोली—'स्वामी, क्या आप मुझे नहीं पहचानते? मैं आपकी दासी हूँ!' मिश्रजीने कहा—'तीस वर्ष तक मैंने बाहरकी कोई वस्तु नहीं देखी। अच्छा देवि! तुम क्या चाहती हो?' स्त्री बोली—'मैं अपना नाम चाहती हूँ (सन्तानका अभिप्राय)।' मिश्रजीने कहा—'अच्छा, तुम्हारे नामका एक ग्रंथ लिख देता हूँ।' उस ग्रंथका नाम 'भामती' है।

एक महात्मा अपने शिष्योंके साथ यात्रा कर रहे थे। रास्तेमें कुछ शराबी

मस्तीमें बकबक कर रहे थे। शिष्योंने कहा 'स्वामी ! इन्हें ऐसा शाप दो कि ये मर जायँ।' महात्माने कहा—'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि हे प्रभो ! जैसे अब ये मस्त हैं, हमेशा रहें। कभी इन्हें इसका दण्ड न भोगना पड़े।'

एक महात्माकी कुटीमें रातको चोर आये। कुछ न पाकर जब निराश हो लौटने लगे तब महात्माजीने कहा—'खाली हाथ क्यों लौटते हो ? रातभर मेरे साथ बैठकर भजन करो ! सबेरे जो कुछ आयेगा, सब तुम्हारा।' चोरोंने वैसा ही किया। प्रातःकाल किसीने लाकर सौ गिन्नियाँ दी, जो चोरोंको दी गयीं। उनके कृतज्ञता प्रकट करनेपर महात्माने कहा—'यह तो तुम्हारे भजनका प्रताप है।' चोर भक्त हो गये।

किसी महात्माके आश्रममें घड़ीकी चोरी करनेपर, चोरको पकड़कर लोग महात्माजीके पास ले आये। महात्माजीने कहा— 'हमें घड़ीकी जरूरत होती तो अपने पास रखते। इसको इतनी जरूरत है कि बेचारेको विवश होकर चोरी करनी पड़ी। घड़ी इसे दे दो।' वह चोर आश्रमका सदस्य बन गया।

आपका—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

मेरे मनकी रहे, तभी मैं खुश होता हूँ।
तेरी इच्छापूर्ति देख निज सुख खोता हूँ।
'मैं' की पूजा करूं, नाम ईश्वरका लेऊँ।
मन-तनमें आसक्त, वचनसे सब कुछ देऊ।
प्यारे, यों ही चल रही, भक्ति बहुत ही दूर है।
'मैं-मेरा' मारे बिना भक्त, ढोंग भरपूर है॥

★ ★ ★

(३६)

श्रीवृन्दावनधाम
दि. १८-१२-४६

परम प्रेमास्पद आत्मा,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

(१) 'घट' धातुतः, तत्त्वतः 'घट' नाम, उसकी आकृति और पानी लानेका काम अपनी विशेषता है। अब देखना है कि हमारी सत्यकी परिभाषा क्या है ? नाम और रूप तो स्पष्ट कृत्रिम है। वह नाम-रूप तो देश, काल, जातिके भेदसे भिन्न है। तब क्या कामचलाऊपना अर्थात् पानी लाना ही घटकी सत्यताका परिचायक है ? यह घटका 'कुछ' पना क्या उतना ही सत्य हैं कि जितनी मिट्टी ? क्या जितने देश-कालमें घट है, उतने ही देश-कालमें मिट्टी भी है ? मिट्टीके जीवनमें कितनी ही बार, कितनी ही जगह, कितने ही रूपोंमें घट बना और बिगडा, परन्तु मृत्तिका अबाधित रही। यह अबाधित सत्ता ही हमारा सत्य है। इस परिभाषापर घट सत्य नहीं उतारता। आकाशकी दृष्टिसे मिट्टी, मनकी दृष्टिसे आकाश तथा ब्रह्मकी दृष्टिसे मन भी घट-जैसा ही है— अर्थात् आपेक्षिक सत्य है। आपेक्षिक सत्य माने मूल सत्यसे भिन्न। सत्यसे भिन्न अर्थात् असत्य।

यदि पृथ्वीकी आयु ४३ लाख २० हजार वर्षका हजार गुना मानें और घटकी आयु १० वर्ष या १०० वर्ष मानें तो शायद आप गणितसे बता सकें कि वह पृथ्वीकी क्या कुछ है ? ब्रह्मके उपर्युक्त एक दिनके हिसाबसे सौ वर्ष, और फिर अगणित ब्रह्मा। उनके पूर्व भी सत्तारूपसे पृथ्वीका अस्तित्व ! पृथ्वी यदि अपनी आँखसे देखती तो क्या घट उसको कुछ दिखायी पड़ता ? सर्वदेशरूप अनन्तमें घट अपना कितना स्थान रखता है ? सत्तासे भिन्न होकर क्या वह असत् ही नहीं है ?

असलमें उदाहरण किसी वस्तुके किसी एक अंशको खुलासा समझनेके

लिये दिया जाता है। वक्ता उससे जितनी बात समझना चाहता है उतना ही देखिये। ब्रह्ममें यदि जगत्को घटके समान बना मानें तो क्या ब्रह्मका कुछ हिस्सा अलग करके उसका जगत् बना है ? उस ठोस एकरस अनन्त तत्त्वमें जगत्का निर्माण कैसे ? दृष्टान्तको पकडकर कभी दार्ष्टन्ति नहीं भूलना।

(२) भक्त सोच रहा था—'भगवान्से क्या प्रार्थना करूँ ? प्रभो, मुक्ति दीजिये !'—तो क्या वे माँगने पर देते हैं ?

'विश्वका दुःख दूर कीजिये !'—तो इसका औचित्य वे नहीं समझते ?

'मुझपर प्रसन्न हो जाइये !'—तब क्या वे अप्रसन्न हैं ? अन्तमें कहा—

'प्रभो ! मैं सब स्थितियोंमें सन्तुष्ट हूँ—मुझे कुछ नहीं चाहिये। सम हूँ—अब तो प्रसन्न हो जाइये !'

भगवान्—'तुम झूठ बोल रहे हो। यदि तुम सब स्थितियोंमें सम और सन्तुष्ट हो तो तुम्हें मेरी प्रसन्नताकी क्या आवश्यकता है ?'

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

मनके जीते जीत है मनके हारे हार।
मन अरपौ प्रभु चरणमें होवै बेड़ा पार॥
होवै बेडा पार न मनके मालिक बनिये।
सेवक हू मति बनौ कृष्णरतिरसमें सनिये॥
मनकौ तुष्टीकरण दुःखकौ कारन कहिये।
कृष्णार्पण परिपुष्टि रसामृतसरिता बहिये॥
बहिये रस मन्दाकिनी यही प्रीतिकी रीति है।
मनके हारे हार है मनके जीते जीत है॥

★ ★ ★

(३७)

वृन्दावन

दि. १३-१-४७

प्रिय........

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

आपने उपाधि हटानेकी बात ठीक सोची है। ध्यान भी एक शरीर है। उसका सम्बन्ध आत्मासे कुछ नहीं है। शरीर न रहे तो ध्यान कैसा ? आत्मा तो ध्यान और उसके अभावमें भी एक-सा है। शरीरकी ही तरह ध्यान भी एक उपाधि है। इसको हटाकर देखिये तो शरीरके सीधे या टेढ़ेपनका असर नहीं पड़ेगा ।

यदि प्राणायाम किये बिना भजन न हो सकता हो तो रातको भोजन कम करे या बिलकुल न करे। केवल दूध पी ले। फिर तो शौच गये बिना प्राणायाम कर सकते हैं ।

आप ध्यानकी स्थितियोंका जाग्रत्में विश्लेषण करें तो बहुत अच्छा हो। उस समय क्या-क्या रहता है ? ध्येयवृत्ति और ध्याता ! साक्षी अलग है। ध्यानके समय क्या ध्येय बाहरसे आकर प्रवेश करता है या ध्यानवृत्तिका ही कोई रूप है ? यदि ध्याता अलग रहता है तो फिर ध्याता बड़ा कि ध्येय ? ध्याता और ध्येय दोनों ध्यानके विलास हैं। फिर असलीयत क्या है ?

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(३८)

सत्संग भवन,
दादीसेठ अगियारी लेन, बंबई
दि. १४-१-४७.

प्रिय विपिन बाबू,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

यज्ञ कार्य अपनी गतिसे चल रहा है । विघ्न तो हैं ही । यहाँकी भीड़-भाड़, आचार-विचार, कथा-व्याख्यान, सभी वैराग्यजनक हैं । मनुष्योंकी पृथक्-पृथक् दौड़-धूप, कोलाहल, अभिमान, दीनता, खुशी और नाराजी—सभी इस बातके सबूत हैं कि वासनाके पुतले बेतरतीब थिरक रहे हैं । आश्चर्य तो यह है कि सभी अपने स्वर-तालके ज्ञान पर नाज़ करते हैं । जिस निर्जीव जनतासे हम अपने पीछे चलनेकी आशा रखते हैं, वह हमें कितना पीछे घसीटेगी इसका क्या पता ? जिसका कोई वश नहीं अपनी किसी एक नसनाड़ीके संचालनमें, वही सबके संचालनकी हिमाकत करता है । समस्त क्रियाओं, भावों, स्थितियोंके भीतर जो शक्ति-प्रवाह हो रहा है, उस स्रोतका उद्गम देख लेनेपर विषमताकी भ्रान्ति मिट जाती है । देखनेवाले और देखे जानेवालेका भेद नहीं रहता । इसलिये साधनकी दृष्टिसे केवल देखना ही सत्य है । देखना आँखकी क्रिया नहीं है, ज्ञान है और वह अनुभवकी कोई लोकोत्तर स्थिति होगी—ऐसी कल्पना करके उसे परोक्ष ज्ञान नाम देनेका कोई कारण नहीं है । वह केवल ज्ञान है—इससे अधिक शब्दाडम्बरकी आवश्यकता नहीं है ।

कौन व्यक्ति ईश्वर है, सुख-दुःख क्या है—इस मीमांसाकी कतई जरूरत नहीं है । केवल इतना ही देखना है कि हमारा व्यक्तित्व उस सम्पूर्ण शक्ति स्रोत-उद्गमके साथ कितना एक है ? उस अनन्त ज्ञान, इच्छा और कृतिमें हमारे अलग जान पड़ने वाले ज्ञान, इच्छा और कर्म कितने गर्क हैं ? केवल वे ही नहीं, स्वयं हम भी आपादमस्तक मग्न ही हैं । बस, आगे कुछ कहना नहीं है । चिन्ता और विक्षेपका यही समाधान है ।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

(३९)

श्री हरिबाबाका बांध,
पो. गवाँ (बदायूँ)
दि. ५-३-४७

परम प्रिय.........

सप्रेम नारायण स्मरण।

सोमना स्टेशन पर पानी लाते-लाते छोटे* रह गये। मुझे याद आयी-'हिचको मत!' और मैंने जंजीर खींच दी। छोटे आ मिले। गार्ड टिकिट ले गया। मैंने कहा—'हिचको मत!' अपने-आप अलीगढ़ स्टेशन पर वापिस दे गया। पूछा भी नहीं कि तुम कौन हो?

रातको आठ बजे बबराला उतरे। सवारीका कोई प्रबन्ध नहीं था। मैंने कहा 'हिचको मत!' चल पड़े। एक स्त्रीने अपनी सवारीपर हमारा सामान रख लिया। तीन मील चलनेपर एक राह चलती बैलगाड़ी मिली। उसने कहा-'तुम थके हो, बैठ जाओ।' एक बजे तक बांधपर पहुँच गये।

श्री महाराजजीकी कुटी बन्द थी। मैंने कहा—'हिचको मत' और बिना कुंजीके ताला खुल गया। उस दिन सुबहसे शामतक एक आने वाले टिकिटके-'हिचको मत'—इस आदेशका पालन किया।

श्री हरिबाबा—'क' ने बारह वर्ष तपस्या की। कुछ चमत्कार न हुआ तो अविश्वासी होकर चल पड़ा। उसके साथ 'ख' भी हो गया। पहले दिन जिसने बहुत आवभगत की, उसकी सोनेकी थाली 'ख' ने चुरा ली। रास्तेमें 'क' के

टिप्पणी : * छोटेजी ब्रह्मचारी,

दिल्ली स्टेशन पर विपिनजीने महाराजश्रीको वजन लेनेवाली मशीनकी टिकिट दी। उस पर लिखा था 'हिचको मत' Do not hesitate। इसी सूत्रका स्वामीजीने मौजमें प्रयोग किया, जिसका रोचक विवरण उक्त पत्रमें दिया गया है।

डांटनेपर 'ख' ने कहा—'मैं अपने कर्मका फल भोगूँगा। तुम्हें क्या करना है ? दूसरे दिन गांववालोंने ठहरने नहीं दिया। मुश्किलसे एकने खेतपर सोने दिया। वहीं 'ख' ने थाली छोड दी। तीसरे दिन एक बड़े भक्तके पालनेपर झूलते बालकका गला घोंट दिया। चौथे दिन रास्ता बताने वाले बालकको नदीमें डुबो दिया। 'क' ने कहा—'तुम राक्षस हो, तुम्हारा मुख देखना पाप है।' 'ख' ने कहा—'मैं नारायण हूँ, मेरा दर्शन करो।' वह नारायणके रूपमें प्रकट हो गया। 'क' ने प्रार्थना की—'आपकी लीलाका क्या रहस्य है ?' भगवान्ने कहा--'चुराकर श्रद्धाकी परीक्षा, छोड़कर श्रद्धाकी वृद्धि की गयी। बच्चा मेरी भक्तिका बाधक था। रास्ता बताने वालेकी मृत्युसे एक राज्यकी रक्षा हुई।' भगवान्की लीला अचिन्त्य है।

आनन्दमयी मां—एक सेवाव्रतीके घर एक अतिथि गायका सिर लेकर आया। बोला—'राँधकर खिलाओ।' वह हिचका तो सही, पर दिल कड़ा कर राँध दिया। खानेके समय वह अतिथि युगल सरकार हो गया।

महाभारतमें—एक सुदर्शन नामका ब्राह्मण था। उसने अपने मनमें यह निश्चय कर लिया कि मुझसे मेरी कोई चीज चाहे जो माँगेगा, दे दूँगा। यह बात किसीको बतायी नहीं। पालन करता रहा। एक दिन बाहर जाना हुआ तो अपनी पत्नीसे कह गया। स्त्रीके पास एक अतिथि आया। खाने-पीनेके बाद उसने कहा—'किवाड़ बन्द कर दो।' स्त्रीने वैसा ही किया। अतिथि बोला--'मेरी सेवा करो।' स्त्री पाँव दबाने लगी। उसी समय सुदर्शनने किवाड़के बाहरसे आवाज दी। स्त्री पशोपेशमें पड़ गयी—'अतिथि सेवा करूँ या किवाड़ खोलूँ ?' अतिथि—'तुम अपने पतिसे पूछो' पतिने बाहरसे कहा—'तुम अतिथि सेवा कर लो, मैं बाहर बैठा हूँ।' किवाड़ खुल गये। वह भगवान् थे।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

(४०)

रामघाट

(बुलन्दशहर)

ज्येष्ठ कृष्ण १, मंगलवार

परम प्रिय विपिनजी,

सप्रेम नारायण स्मरण।

वृत्ति उसे कहते हैं, जो अपने विषय घट-पटादिको प्रकाशित करे। जब जिस विषयको प्रकाशित करती है, तब तदाकार होती है, जैसे—घटाकार।

वृत्तिके घटाकार होनेमें दो अंश हैं—पहले जो आकार था उसका परित्याग, आवरणका भंग और घटाकारताका ग्रहण। पहलेको वृत्तिव्याप्ति और दूसरेको फलव्याप्ति कहते हैं।

अब ब्रह्माकारवृत्तिमें पहला अंश यह है कि अन्याकारताका परित्याग कर दो। वृत्ति अपने द्वारा प्रकाशित किसी भी ज्ञात-अज्ञात, प्रत्यक्ष-परोक्ष वस्तुका आकार धारण न करे, वह आकार चाहे दिव्य हो या अदिव्य। आकारके मिथ्यात्वका ज्ञान वृत्तिकी इस निर्विषय स्थितिमें सर्वोपरि सहायक है। लय या निद्रा भी एक आकार है। स्वाद भी एक आकार है। 'मैं ब्रह्म हूँ—साक्षी हूँ' इत्यादि भी वृत्ति द्वारा प्रकाशित आकार ही हैं। अब इनसे रहित जो

वृत्ति है—देश, काल और वस्तुके आकारसे शून्य—यद्यपि घटके समान उसने ब्रह्मको प्रकाशित नहीं किया, 'मैं ब्रह्मको जानता हूँ'—ऐसा अभिमान नहीं किया; तथापि वह स्वयं विषयशून्य होनेके कारण सत्ताशून्य है—ब्रह्म सत्तासे पृथक् नहीं है। अब वह ब्रह्माकार नहीं, ब्रह्म ही है।

ब्रह्म अर्थात् मैं निरन्तर हूँ। नैरन्तर्य पैदा करना नहीं है। 'अपनेको भूल गया', यह विस्मृति मनोराज्य मात्र है। मनोराज्यसे असलीयतमें कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम अखण्ड एकरस हो। यह बात फिर।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'प्यारे प्रभु! तुम्हारी जिक्र और फिक्रने मुझे ऐसा बना दिया है कि किसीके भी चरणचिन्ह देखकर मेरा सिर झुक जाता है।'

★ ★ ★

एक बार अपनी वृत्तिको देवताओंसे मिलाओ तो तुम भी देवता हो जाओगे। जिसका मन जहाँ है वह वहीं है। पुरुषका स्वरूप श्रद्धामय है। जिसकी जहाँ श्रद्धा है वह वहीं है। अपना दिल ठीक है तो सारी दुनिया ठीक हो जाती है।

(४१)

वृन्दावन
दि. ९-५-४७

अभिन्नात्मा,

ब्रह्म अर्थात् देश, काल, वस्तु, कल्पनाका अधिष्ठान, अपरिच्छिन्न अनन्त। वह किसीको अपना आकार समर्पित कर नहीं सकता। वृत्ति है शान्त, परिच्छिन्न। इसमें ब्रह्मको विषय बनानेकी योग्यता नहीं है। इसलिये ब्रह्माकारवृत्तिका अर्थ घटाकारवृत्तिके समान किसी विशेष आकारको प्राप्त वृत्ति नहीं है। वृत्तिका शान्त हो जाना, विशेष आकारोंको ग्रहण न करना--निराकारताकी भी कल्पना न करना—अपने आधारसे अभिन्न हो जाना (आधेयसे नहीं), परम शान्त हो जाना, जिसमें शान्तिवृत्ति भी न हो (लय नहीं), ब्रह्माकारवृत्तिके नामसे कही जाती है। वास्तवमें यह वृत्ति नहीं। क्योंकि अन्तःकरणका कल्पित या सत्य विषयके आकारमें परिणाम प्राप्त करना (तब्दील होना) वृत्ति है—विषयाकार त्याग कर, निर्गर्भ होकर सहज स्वरूपमें स्थित होना अर्थात् परिणत (तब्दील) न होना ब्रह्माकारता है।

आपने ब्रह्मकारवृत्तिका स्वरूप नहीं पूछा था; किन्तु उसके नैरन्तर्यका उपाय पूछा था—सो अब सुनो। वृत्ति दो तरहकी होती है—एक तो कालके भीतर बहती रहती है—एक, दो, तीन, चार। घटके बाद पट। इनमें जो क्रमकी संवित् है, वही काल है। यह सर्वदाके लिये एकाकार नहीं हो सकती। एक व्यक्तिके अन्तःकरणमें जो देश, काल और वस्तुभेदके संस्कारसे गर्भित है, प्रयत्नपूर्वक यह एकाकार बनायी जाती है और जैसा प्रयत्न, उसके अनुरूप काल तक टिकती है। इसे निदिध्यासन कहते हैं। इसमें प्रयत्न करनेपर भी अपनेको कर्ता समझा जाता है। इस अवस्थाके अनुभवसे यह विचार करनेका अवसर मिलता है कि वृत्तिकी चंचलतामें ही जगत्का भेदका अनुभव होता है, शान्त दशामें नहीं। यदि जगत् या भेद सत्य होता तो शान्त दशामें उसका और स्पष्ट अनुभव होना चाहिये। आत्मा परम शान्त, अचंचल, अनन्त सत्य है। उसमें भेदकी

स्थिति सम्भव नहीं है। जो कुछ भेद दीख रहा है, वह केवल दीखना मात्र-आकाशमें तिरमिरेके समान। शान्त दशामें जगत्का अनुभव न होनेसे इस विचारकी सुम्पुष्टि होती है। यही साक्षात्कारका द्वार है। 'यह है', 'मैं हूँ'—इन दोनों स्फुरणाओंका अन्त होनेपर भी जागते रहना—इसका स्वरूप है।

इस बातको दूसरी तरहसे यों कह सकते हैं—राग-द्वेष रहित, प्रतीतिमात्र, वासनाशून्य, शान्त स्थिर, निर्मल अन्तःकरणमें, स्वच्छ और निस्तरंग सरोवरमें अनन्त आकाशके समान ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है। शीशेमें अपने प्रतिबिम्बकी तरह अपनी प्रतिच्छाया ही दिखती है। यद्यपि यह शुद्ध आत्मा नहीं है, तथापि अपने-आपको पहचाननेके लिए काफी है।

अपनी अनन्तता पहचान लेनेके बाद अपनी अनन्त दृष्टिसे एक बार देखो। कालके छोटे-छोटे-कल्पित अंश, जिनमें तुम्हें एक अन्तःकरण, एक जीवन, स्मृति-विस्मृतिके उलटफेर, जाग्रत-सुषुप्तिके ऊपर ही ऊपर घूमनेवाले झूठे चक्कर, भिन्न-भिन्न देशाश्रित पदार्थोंकी कल्पनाएँ, उनके हेय-उपादेयपनेकी भ्रान्तियाँ निराधार ही प्रतीत हो रही हैं, तुम्हारे अनन्त स्वरूपमें कितना समय, कितना स्थान, क्या अस्तित्व रखती हैं? ओ अनन्त! तुम व्यक्ति नहीं हो, परिच्छिन्न नहीं हो। एक देह और एक अन्तःकरणसे, उनकी उलझनोंसे, जन्म-मृत्यु और स्मृति-विस्मृतिसे, तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। चलका, अचलसे, शान्तका मुझ अनन्तसे, मिथ्याका सत्यसे, कोई सम्बन्ध नहीं है। यही अनन्तकी दृष्टि है। इसीको हम दूसरी वृत्ति कहते हैं। इसी दृष्टिसे देश, काल, वस्तुका भेद प्रतीतिमात्र है। यह दृष्टि कालके भीतर नहीं है, इसलिए विस्मृतिमें भी रहती है।

बालकको घटका अज्ञान है। देखनेपर भी नहीं पहचानता। बड़ेको घटका अज्ञान नहीं है—उसने घटको खूब पहचान लिया है, परन्तु विस्मृति

रहती है। उस विस्मृतिसे घटकी पहचानमें—ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं आता, अज्ञानकी उत्पत्ति भी नहीं होती। यह तो अन्यके ज्ञानकी (जो कि संस्कारजनित केवल परम्पराका व्यवहार मात्र है) महिमा है। स्वसत्ताका ज्ञान तो कभी मिट ही नहीं सकता। अपनेको शरीर, मनुष्य, समझनेकी भूल छोड़ देने मात्रसे तुम्हारे अखण्डता अक्षुण्ण है। तुम्हीं निरन्तर हो—अखण्डानन्द हो।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

☆ ☆ ☆

'छल बल सुख चाहै अबुध
निश्छल गहै न धर्म।
हरि हिरण्य दोनों बहैं
यहै कर्मको मर्म॥'

☆ ☆ ☆

ईश्वरका सब जगह सबमें सब समय होनेपर भी जबतक उसे भक्तिपूर्ण हृदयमें अपना बनाकर-ध्यानका विषय बनाकर स्थापित नहीं किया जाता तबतक दुःख दूर नहीं होता।

ईश्वरने अनादिकालसे अबतक तुम्हें अपने संकल्पमें धारण किया है अब तुम अपने संकल्पमें ईश्वरको धारण करो तो मृत्युसे, दुःखसे छूटोगे। भगवान्‌को अपना रिश्तेदार बनाकर अपने हृदयमें बैठा लो।

(४२)

वृन्दावन

अंधकारमें एक घट रखा है। दीपकसे वह दूर हुआ। प्रकाश व्याप्त हो गया। आवरण भंग होनेसे वृत्ति व्याप्त हो गयी। अपने-आपका अज्ञान मिट गया। घटका आवरणभंग होनेके बाद दूसरी वृत्ति होती है—'मैं घटको जान गया।' यह बात ब्रह्मके सम्बन्धमें नहीं होती। आवरणभंगका फल जैसा घटका वृत्त्यारूढ होना है—वृत्तिमें प्रतिफलित होना है—वृत्तिका 'घट' रूप बच्चेको अपने पेटमें लेना हैं—वैसे ब्रह्म नहीं आता। अर्थात् 'मैं ब्रह्मको जान गया'—ऐसा फल नहीं होता। फलकी व्याप्ति नहीं होती। 'मैं ब्रह्म हूँ—देश, काल और भिन्न-भिन्न वस्तुओंके आकारमें अथवा उनके निषेधके आकारमें परिणत होनेवाली वृत्तियोंका निष्क्रिय प्रकाशक मात्र हूँ'—ऐसा यथार्थ बोध जिस क्षण होता है, उसी समय कारण (अज्ञान) सहित संसारकी सम्पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। अपनी यानी ब्रह्मकी दृष्टिमें अपना व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है—साथ ही साथ व्यक्तिगत उलझनें भी। अपने इस अप्रमेय (जिसको साबित करनेके लिये किसी सबूतकी जरूरत नहीं) और स्वयंप्रकाश (जिसे प्रकाशित करनेके लिये किसी वृत्तिकी आवश्यकता नहीं) स्वरूपका साक्षात्कार हो जानेपर व्यक्तिगत जीवनमें 'अहं' बोध नहीं रहता है। इसलिये उसकी परवाह और चिन्ता नहीं रहती है।

समस्त दुःखोंकी जड़ देहाभिमान है—देहको 'मैं-मेरा' समझना। जिस समय हम 'मेरा चित्त'—ऐसा व्यवहार करते हैं उस समय—'मैं' का चित्त 'मैं' का व्यवहार स्थूल शरीरके लिये होता है। भेद तो स्थूलमें ही दीखता है। उसीके आधारपर चित्तका विभाग है। इसलिये जबतक देहमें अभिमान है, तब तक देह और चित्तकी चिन्ता छूट नहीं सकती।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। हम दो तरहकी चर्चा करते हैं। एक—तुम स्वयं ब्रह्म हो—असङ्ग हो, अभोक्ता हो। वृत्ति चाहे विषयाकार हो चाहे ब्रह्माकार, उसका तुमपर कोई असर नहीं है। वह स्वयं उड़नछू है, मिथ्या है। यह बात तुम्हारे व्यक्तित्वको लेकर—चाहे वह कितना ही सुन्दर, सगुण,

सविशेष भगवान् हो, नहीं कहते । यह अपरिच्छिन्न आत्म-स्वरूपका बोध करानेके लिये ही है । यदि तुम भले-बुरे दोनोंसे असङ्ग नहीं हो, केवल सुखमें, संपत्तिमें, अनुकूलतामें सङ्गवान् हो जाते हो, तो कहना पड़ेगा कि तुम्हारी असङ्गगता बनावटी है । दर असल एक पक्षसे, सम्पत्तिसे, सुखसे तुम्हारा सङ्ग है । वह कमलकी असङ्गता कैसी जो गन्दे जलमें न रहती हो ? या वह रज्जुकी असङ्गता क्या जो केवल अच्छी जातिके सर्पका अध्यारोप करनेपर ही रहती हो । दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है, इसलिये सब कुछ-कर्म, कर्मफल, कारण, कर्ता, भोक्ता, भोगफल आदिकी प्रतीति होते रहनेपर भी कुछ नहीं है । यह देह-देहाभिमानी जीव, सचमुच यदि स्वर्गमें सुखी है और नरकको यन्त्रणासे उत्पीडित है तो इससे मुझे क्या ? मुझ अपरिच्छिन्न, अद्वितीय, स्वयंप्रकाशमें इनका कुछ अर्थ ही नहीं है !

दूसरी बात—यह एक व्यक्ति है । इसे प्यास लगी है और पानी पीकर तृप्त हो रहा है । मिर्च खा ली, कष्ट भोग रहा है । यह तो बच्चा है—इसका बचपन ही तो है यह ! तुम सयाने होकर यह कैसा काम करते हो ? इसे डाँट दो । इस अन्तःकरण —व्यक्तिको उत्साहित करो, मिर्च न खानेको उत्साहित करो । कैसी भी पीड़ा हो, सहनेकी आदत डालनेको बाध्य करो । तुम्हारा कहा जाने वाला शरीर, मन, मुँह, मूत्रेन्द्रिय तुम्हारी आज्ञा माननेको तैयार नहीं हैं तो तुम्हारी पत्नी, भाई तथा और लोगोंसे तुम अपनी आज्ञा माननेका दावा कैसे कर सकते हो ?

तुम अपने मनके सेवक नहीं, मालिक हो । तुममें यह मन तो नाचीज़ है । इसके मचलने और रोनेकी खिल्ली उड़ा दो—'अरे ओ मन ! तू किसी अज्ञानीका तो है नहीं, जीवका भी नहीं है; मुझ ब्रह्मका है । तू खुद महात्मा है । क्या छोटी चीज पर पिघलता है ! बेटा ! बादशाहका पुत्र कहीं ऐसे रोता है ? ऐसा मत कर, नहीं तो मैं अभी निःसंकल्प हो जाता हूँ । तू मर जायगा ।'

तुम मुझसे भोजनके संबन्धमें कई बार चर्चा कर चुके हो । मुझे यह बात कुछ अटपटी-सी लगती है । तुम क्यों नहीं दृढ़तासे रुक जाते ? जो चीज तुम

छोड़ दोगे तुम्हारे सामने कोई लायेगा कैसे ? दो-तीन दिन रूखी-सूखी खाओ। यह बात सब विषयोंके लिये हैं।

असङ्ग आत्माका बोध अनन्त है। जीवन एक व्यक्ति है। जीवन्मुक्तका व्यवहार व्यक्तिगत है। यह शुद्ध ही होना चाहिये। इसमें प्रलोभन और पीड़ाके लिये कहीं स्थान नहीं है।

योगी लोग वृत्तिसे दुःख हटाकर सुख भरते हैं। उपासक इष्टदेवको बसाता है। वेदान्ती दुःखको हटाता है—सुखको भी हटाता है—इष्टदेवको भी हटाता है।

वह यदि किसी वृत्तिका स्थापन करे तो फिर उसे भी हटाना ही पड़ेगा। इसलिये स्वाद और पीड़ा दोनों मिथ्या हैं, बाधित हैं, प्रतीति मात्र हैं—ऐसा ज्ञान ही उन सब पर कुठाराघात है।

यदि तुम्हें अनुभव होता है कि वृत्तियाँ मेरे सामने उछलकूद मचाती रहती हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम उनके प्रकाशक हो। कोई प्रकाश्य वस्तु अपने प्रकाशकसे अलग नहीं होती। यदि तुम अपने प्रकाशक स्वरूपका अनुसंधान करो—वृत्तियोंसे काम लेना बन्द करो तो देखोगे कि कोई वृत्ति नहीं है। तुम उनसे काम लेते हो, यही उनका बना रहना है।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

सुख, सुख करता बावरा
भूला अपना आप।
धन्य अन्यको मानकर
भोग रहा अभिशाप॥

★ ★ ★

(४३)

वृन्दावन,
दि. २-६-४७

प्रिय रमा सक्सेना,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

(१) संसारमें सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध वही है, जो उसके चक्करसे निकाल दे । ऐसा सम्बन्ध केवल गुरु-शिष्यका है । जो परमात्माका दान करे, वह परमात्मा ही है । इसे मृत्यु भी नहीं काट सकती । संसारी लोग मतलबके सगे हैं । क्या तुम्हारा मन किसी ऐसे मनुष्यसे, जो स्वयं ईश्वर हो, ऐसा दृढ़ सम्बन्ध रखता है ?

(२) जीव प्रेमी नहीं, ईश्वर ही सच्चा प्रेमी है । उसके प्रेमके सामने कृतज्ञ होनेमें ही जीवका कल्याण है, अपनेको प्रेमी माननेमें नहीं । यह कितनी सुन्दर बात है कि जीव ईश्वरका प्रियतम है ! उसकी मृत्यु भी अपने प्रेमीके हाथों हो तो कितनी सुन्दर हो !

(३) 'मैं प्रभुका हूँ'–यह तो शुरु–शुरूका भाव है । 'प्रभु-मेरे हैं'–यह उत्तम भाव है । हम उनसे जो चाहें, सो उन्हें करना पड़ेगा–ऐसी ममता प्रेममें स्वाभाविक है । 'मेरे' से भी निकट 'मैं' है । 'मैं प्रियतम हूँ, वे प्रेमी हैं'--ऐसी अवस्थामें सच्चा प्रेम है । मेरा आशीर्वाद और प्रसाद है कि तुम्हें सच्चा प्रेम प्राप्त हो ।

(४) प्रेम अर्थात् आकर्षण । बाहरकी वस्तुको भीतर, दूरको निकट, सूखेको सरस, मृत्युको अमृत बनाना प्रेमका ही काम है । जिससे प्रेम है, उसका निवासस्थान बाहर नहीं, अपने हृदयमें है । इसलिये प्रेममें वियोग नहीं है ।

(५) प्रेमका विकास अधीन होनेमें है—अधीन करनेमें नहीं। प्रेम कोई परीक्षाका स्थान नहीं है। वह तो रसका—अमृतका एक अखण्ड प्रवाह है, जो हमेशा नीची भूमि (झुके व्यक्ति) की ओर जाता है। तुम जिसके सामने जितने अधिक नम्र हो, उतना ही अधिक उसके प्रेमके पात्र हो। नम्रता ही प्रेमकी आधार शिला (नींव) है।

(६) यह बात बहुत थोड़े लोग जानते हैं कि शिष्य तो केवल अपनी श्रद्धासे ही गुरुको ईश्वर मानता है; परन्तु गुरु अपने अनुभवसे शिष्यको ईश्वर देखता है। यह सर्वथा सत्य है कि शिष्य संसारमें भी लग जाता है; परन्तु गुरु तो अपने शिष्य—ईश्वरके चिन्तन, स्मरण, सेवनमें संलग्न रहता है।

(७) प्रेमके दो वरदान हैं—मौन और सहिष्णुता। यदि तुम अपनी विवशताको अभिशाप समझती हो तो भूल है। प्रेमी आगमें पड़कर निखर आता है। अतृप्ति-प्यास प्रेमको रस बना देती है।

(८) मैं उस व्यक्तिको सबसे अधिक पसन्द करूँगा, जिसका चरित्र पवित्र, हृदय भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण और बुद्धि हमेशा सचेत रहती है। विचार, भाव और चरित्रकी पूर्णता ही पूर्ण जीवन है।

(९) ईश्वर विश्वास ही उन्नत जीवनका लक्षण है। प्रतिकूलसे प्रतिकूल परिस्थिति भी विश्वासीके लिये अनुकूल और ईश्वरकी स्मृतिका कारण बन जाती है। विश्वास ही बड़ीसे बड़ी सिद्धि और चमत्कार है।

(१०) ईश्वरसे बड़ा सत्य और कुछ नहीं है। यह कितनी बढ़िया बात है कि वह हमें छोड़कर जी नहीं सकता। सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें इसी एक शक्तिकी कमी है और यह हमारे पक्षको प्रबल बनाती है।

(११) प्यारा चाहे अपने हाथ न आये, उसके नामको तो वह स्वयं भी नहीं छीन सकता।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

(४४)

वृन्दावन
दि. ७-७-४७

प्रिय रमाजी,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

जैसे अपने घर कोई अपना ही आया । अब उसकी सेवा कैसे की जाय ? सेवाको ही तो भजन कहते हैं । उसे अच्छे आसनपर बैठाओ । हाथ-पैर धोओ । चन्दन-माला, खाना-पीना, आरती, शयन आदि । उससे जैसा सम्बन्ध हो, उसके अनुकूल व्यवहार करो । भगवान्‌को अपना निकट-से-निकट सम्बन्धी मानकर उनसे प्रेम करो, खिलाओ-पिलाओ, सेवा करो, लड़ो-झगड़ो, क्योंकि वे तुम्हारे हैं । उनसे कोई दुराव नहीं है । लालाशाही तकल्लुफ न करो । मेवे हों तो ठीक, नहीं तो चने ही सही । बैठे-ठाले दिनभर उन्हींसे लाड़ लड़ाया । यही भजन है । उन्हींके साथ खाओ-नहाओ, बैठो-सोओ, खेलो । वे तुम्हारे, तुम उनके । कुछ नहीं तो दो तोलेकी चटपटी जीभपर उनके मीठे नामकी मिश्री घोल-घोलकर रस लेते रहो । दिन-रात मुँह मीठा रहेगा ।

तुम्हारा–
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(४५)

वृन्दावन
आषाढ शुक्ल ३-२००४

प्रिय विपिन बाबू,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

(१) स्वयं भगवान् निर्विकार एवं निःसंकल्प हैं । मनुष्यको अपनी जाति, संस्कृति, धर्म, भाषा, कुल आदिके दृढ़ अभिनिवेश हैं । वह अपने अभिनिवेशको जनताकी आँख अपनी ओर खींचनेके लिये भगवान् पर थोप देता है । एक ओर कुरानशरीफ भगवद्वाणी है तो दूसरी ओर बाइबिल । यदि हिन्दू धर्मके हिमायती इलहामकी दुहाई दे सकते हैं तो इस्लाम धर्मके हिमायतीको भी उसका अधिकार है । भगवान्में संकल्प होने माननेपर उनमें निर्दयता, पक्षपात आदि दोष प्राप्त होते हैं ।

जिन मतोंमें ईश्वरको संकल्पवान् मानते हैं, उनमें भी उसे सत्यसंकल्प कहा गया है । उसके संकल्पके विपरीत कोई हो ही नहीं सकता । यदि ईश्वरका संकल्प कुछ करनेका है तो हम शान्त रहें इसीके लिये । ईश्वरका संकल्प नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो हमेशा वही काम होते रहना चाहिये । यदि अनित्य है तो जीवके संकल्पसे उसमें कुछ विशेषता नहीं रही । संकल्पमें परिवर्तन ज्ञानके परिवर्तनने होता है । ईश्वरके ज्ञानमें परिवर्तन उसे अनीश्वर बना देना है । अपने संकल्पको ईश्वरका संकल्प कहना दृढ़ताका सूचक तो है—यथार्थ नहीं ।

(२) सब कुछ चाहना अर्थात् किसी भी परिच्छिन्न और अल्प पदार्थको न चाहना है । जो बड़ीसे बड़ी वस्तु चाहता है, उसको छोटी वस्तुओंसे स्वभावसे ही वैराग्य होता है । यही वृत्तियोंकी शान्ति है ।

(३) तुम्हारा अनुभव बिल्कुल ठीक है। तुममें जो दूसरी वस्तुओंकी कल्पना करनेकी शक्ति दीखती है, उसे क्या तुम अलग करके दिखा सकते हो ? वह दीखती भी तभी है, जब कि तुम अपनी अनन्तताका अनुभव नहीं कर रहे होते हो। अनुभवमें स्मृति नहीं और स्मृतिमें अनुभव नहीं।

अपना आपा देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। कार्यकी सत्ता स्वीकार किये बिना शक्ति कहाँसे दीखेगी ? तुम्हारे अनन्त स्वरूपमें न कार्य है--न कारण; फिर शक्तिकी क्या कल्पना ?

(४) भक्तोंसे हारने वाले भगवान् अपनी भगवत्ता कितने दिन तक सुरक्षित रख सकते हैं ? उन्हीं भक्तोंके डरसे तो भगवान्‌को छिप जाना पड़ा।

तुम्हारा अपना
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(४६)

वृन्दावन
दि. १९-७-४७

प्रिय विपिन बाबू,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

चाहे बनी दुनियाँ बिगड़ जाय, या नई दुनियाँ बन जाय, अपनी स्थितिमें अविचल रहना अच्युतका सहज स्वरूप है; अन्यथा साक्षी, अधिष्ठान, निर्विकार, कूटस्थ वगैरह केवल कथनमात्र हैं। उनके पूर्व मस्तिष्कके रग-रेशोमें मन किस अवस्थामें था—केवल होश मात्र, जिसे चेतना या संज्ञा कहते हैं। और दुनियाँके सारे बखेड़े, मनुष्य जातिके आनुवंशिक संस्कार, माता-पिताकी वासनाएँ, लोगोंकी देखा-देखी परिस्थिति आदिके प्रभावसे भर गये हैं। अधिकांश संस्कार सत्यानुसन्धानके अभावसे ही आये हैं। अपने मनको जन्मसे पूर्वकी अवस्थामें ले जानेपर उसका रहस्य खुलता है। दर असल मन नामकी कोई चीज बाहर या भीतर कहीं नहीं है। परिच्छिन्न शरीरसे तादात्म्य होनेपर ही यह प्रकट होता है। यह भ्रान्तिका बच्चा है। अनन्तमें विषय अथवा वासनाओंके लिये कोई स्थान नहीं हैं। तुम अपनेको एक बार अनन्त अपरिच्छिन्न स्वीकार करके देखो, तब मन अपने-आप ही बिला जायगा। शेष भगवत्कृपा।

तुम्हारा अपना
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(४७)

वृन्दावन
दि. २३-७-४७

प्रिय विपिनजी,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

पिछले शनिवारको बारह बजे राततक 'सिन्धी सांई' हास-विलास करते रहे । रविवारके प्रातः पाँच बजे मैयासे बोले—'अब तो मैं चला । इतना-इतना रुपया इन-इन कामोंमें खर्च करना ।' किसी सत्संगीको भी नहीं बुलाने दिया। । श्री महाराजजी (श्रीउड़िया बाबाजी) का मेरा तथा श्री राधारानीका नाम उच्चारण करके चुप हो गये । हार्ट फेल हो गया । वैद्यने आकर इंजेक्शन दिया, कुछ नहीं । छः बजे मैं पहुँचा । वहाँ हाहाकार मचा हुआ था । सिन्धी लोग अत्यंत दुःखी हैं । मेरा ऐसा विचार है कि किसीको प्रेम करनेका मौका देना दुःखकी सृष्टि बढ़ाना है ।

जिस समय मैं वहाँ हाहाकारके बीच बैठा हुआ था, मेरे चित्तकी दशा बहुत ही शान्त थी । मैं लगती जा रही समाधि को बलात् रोक रहा था । जैसे हो ही नहीं । अब प्रेमियोंसे बचनेमें उनका हित मालूम पड़ता है । अपने हृदयमें तो हृदय नामकी वस्तु है ही नहीं ।

जिस समय यह जीवन मां-बापके नन्हें-से धातु-बिन्दुके रूपमें था, उस समय होश—चेतना नामकी वस्तु भी प्रकट नहीं थी । गर्भमें आनेपर मनुष्यताके संस्कार, बाहर आनेपर मां-बापकी रीतिसे खानें-पीने-मूतने आदिकी स्वयं अभिव्यक्ति हुई । धीरे-धीरे देखा-देखी इशारे, आवाज़, भाषा आदिके द्वारा उस शुद्ध होशको कलुषित कर डाला गया । अब हम सुने-देखे इशारोंके आधारपर कल्पनाओंके बड़े-बड़े महल खड़े कर चुके हैं । इन्हीं कल्पनाओंके पुंजको मन कहते हैं । जन्मसे पूर्व मृत्युके अनन्तर मनका क्या स्वरूप है ? इस

जन्ममें हमारे मनमें जितनी भाषा, इशारे आदिके द्वारा घुसी बातें हैं, उनको निकालकर मनकी जाँच-पड़ताल करें। अधिकांश कल्पनाओंका कारण इसी जन्ममें गंभीरतासे ढूँढ़नेपर मिल जायगा। अभी हम मनका शुद्ध स्वरूप जाननेके लिये, पूर्व जन्मकी कल्पनाको, जो स्वयं भी हिन्दू होनेके कारण हमारे दिमागमें आयी है, छोड़ देते हैं। जन्मके पूर्व जैसा मन था, उसका ध्यान करो; बादकी बढ़ी हुई बातोंको छोड़ दो; फिर तुम्हीं बताओ कि मन क्या है ?

शरीर नगरमें दिमाग एक पावरहाउस है। ज्ञान शक्तिको प्रकाश देता है; क्रियाको गति देता है। बल्ब जलते हैं, पंखे चलते हैं इत्यादि। जब पावरहाउसकी मशीन अनन्त चेतनकी छाया ग्रहण करने योग्य नहीं रह जाती, तब वह फ्यूज हो जाती है। यदि हम आत्मतत्त्व (अपने-आप) के बारेमें सोचते हैं तब मालूम पडता है कि हम मशीनपर, दिमागपर अन्तःकरणमें आरूढ़ चेतन (चिदाभास) नहीं हैं; बल्कि वह अनन्त सत्ता तथा ज्ञान हैं जो इन मशीनोंका भी प्रकाशक है। उस अनन्तमें अपनी दृष्टिसे और कुछ है ही नहीं। उसके लिये फिर कोई कर्तव्य, प्राप्तव्य, त्यक्तव्य और ज्ञातव्य कहाँसे होगा ?

श्वेताश्वतर उपनिषद्में काल, स्वभाव आदिको कारण नहीं बतलाया है। वह तो एक प्रश्न है। दूसरे मतमें परमात्माकी शक्तिको कारण बतलाया है—मीमांसापूर्वक। देखिये शांकरभाष्य। खण्डन आपका ठीक है।

तुम्हारा अपना
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

(४८)

दि. १२-९-४७

प्रिय रमा सक्सेना,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

जीवनमें उन्नत बननेके लिये नम्र होना आवश्यक है । बिना नम्रताके उन्नति नहीं हो सकती । शिव महिम्नमें कहा है–

'न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ।'

अर्थात् नमस्कार करना किसकी उन्नतिका कारण नहीं होता ? नमस्कार तो अपनेसे श्रेष्ठ व्यक्तिको किया जाता है । जो स्वयं ही अपनेको बड़ा समझता है, वह किसको प्रणाम करेगा ? जहाँ अभिमान है, वहाँ नम्रता नहीं । अतः यह सिद्ध है कि, अभिमानके अभावमें ही नम्रता आ सकती है । बच्चा सरल होता है–निष्कपट–भोला-भाला । सब उसे गोदमें ले लेते हैं । बड़े-बूढ़े को नहीं । क्यों ? बच्चा छोटा है, छलरहित है । जगके प्रपंच नहीं जानता । बूढ़ा अपनेको बहुत कुछ समझता है, इसलिये वह प्रत्येकके आदरका पात्र, प्रेमका अधिकारी नहीं होता ।

तुम्हारा शुभचिन्तक
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(४९)

वृन्दावन
दि. ९-११-४७

प्रिय विपिन बाबू,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

शरणार्थियोंकी सेवाको परमार्थ न मानना तुम्हारे मनका दोष है या क्रियाका ? कोई भी क्रिया वस्तु-रूपसे परमार्थ ही है या नहीं ? वस्तुसत्यमें--चिद् धातुमें द्रष्टा-दृश्यका भेद सम्भव है अथवा नहीं ? द्रष्टा और दृश्यमें कोई सन्धि (विभाजक रेखा) है या नहीं ? है, तो वह भी होनेके कारण सन्धि कैसे ? नहीं है, तो द्रष्टा-दृश्यमें भेद कैसे ? भेद नहीं, तो जैसे दृश्यको परमार्थ मानना मान्यतामात्र है, वैसे ही द्रष्टाको परमार्थ मानना भी मान्यतामात्र है या नहीं ? यदि दोनों मान्यता हैं, तो संसारके सभी कर्म भक्ति-ज्ञान सम हैं या नहीं ? तत्त्वमें, साधनमें, क्रियामें, द्रव्यमें, गुणमें, भावमें जो भेद है वह मान्यतामात्र ही है—तत्त्वगत नहीं, यह जाने बिना निर्द्वन्द्वता, जीवन्मुक्ति अथवा वर्तमान जीवनके आनन्दमें मस्ती आ सकती है या नहीं ? न भी आये तो तत्त्वतः कुछ अन्तर हो गया क्या ? क्या जड़चेतन दो हैं ? इनकी सन्धि क्या हैं ? सन्धि नहीं है तो सम्पूर्ण एकत्व ही है न ? फिर व्यवहार और परमार्थ अलग-अलग क्यों ?

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(५०)

वृन्दावन (मथुरा)
दि. ५-८-४८

प्रिय विपिन बाबू,

सप्रेम नारायण स्मरण।

साक्षि-साक्ष्य भाव कल्पित है। 'इदं'के अधिष्ठान रूपसे भी तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता। घटका अधिष्ठान जमीन या सर्पका अधिष्ठान रज्जु है। वह तो अन्य है। जो अन्य रूपसे ज्ञात होगा, वह विनाशी और जड़ होगा। उसकी अन्यता जैसे कल्पित है, वैसे ही उसमें जड़ता और विनाशित्व भी कल्पित है। इसलिये उस 'इदं' का अधिष्ठान अन्य नहीं, मैं ही हूँ—यह ज्ञान ही जरूरी है। इसके बिना भ्रान्ति दूर नहीं हो सकती।

यह जानकर भी प्रसन्नता हुई कि देहके विरोधी या अन्तर्भूत होनेका भाव भी मिट गया। ऐसा हुए बिना परमार्थ और व्यवहारका भेद नहीं जाता। यह भेद भी अन्य भेदोंकी तरह ही दुःखद है; क्योंकि जो परमार्थ सर्व देश, सर्व काल, सर्व रूप और सर्व अनुभवरूप नहीं है, वह अपने अभावमें दुःख देगा ही—इसमें सन्देह नहीं। मेरे विचारसे तुम्हारे ज्ञान और अनुभवमें पिछले दिनों में एक अपूर्व विकास हुआ है। यह मेरे लिये प्रसन्नता और आनन्दका कारण है। मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ और इस प्रकार अपना ही अभिनन्दन करता हूँ; क्योंकि 'तुम' और 'मैं' के मायने एक ही हैं।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(५१)

वृन्दावन
दि. ४-३-५७

प्रिय........

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

जीवका सुखसे सहज प्रेम है । सभी सुख चाहते हैं; परन्तु सुखका निवास या सुखका मूर्तिमान स्वरूप क्या है– इस सम्बन्धमें लोगोंकी जानकारी उलटी है । ऐसी वस्तुओं या व्यक्तियोंमें लोग सुख मान बैठते हैं जिनके सुखरूप होनेकी सम्भावना तो दूर, सुखकी छाया भी नहीं है । ऐंसे पदार्थोंसे देर-सबेर दुःख ही मिलता है । किसीभी नाशवान वस्तुसे नित्य सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इससे यह सिद्ध है कि हमारा इष्ट संसारकी कोई वस्तु नहीं है । हमारा इष्ट अविनाशी सुख है--ऐसा केवल ईश्वर है । वह कृष्णके रूपमें प्रकट है । हमारे जीवनका सर्वस्व, समाधि, ब्रह्म, प्यारा एकमात्र कृष्ण है । यह साँवरा, सलोना, मोरमुकुटवारा, पीताम्बरधारी, मनमोहन नन्दकिशोर ही हमारे प्राणोंका स्वामी हृदयेश्वर है । यह निश्चय होनेपर ही मानसी सेवा प्रारम्भ होती है ।

शुभचिन्तक
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(५२)

वृन्दावन
दि. २९-४-५७

प्रिय बेटी बिन्दु,

शुभाशीर्वाद सहित प्यार ।

तुम्हारा पत्र कई दिन पहले मिल गया था । मुझे दिन-रातमें सैकड़ों आदमियोंसे मिलना पड़ता है । शरीर प्रतिदिन थक जाता है । इसीसे पत्र लिखनेमें देर हो जाती है । बेटी, मैं कभी पत्रका उत्तर न लिखूँ तो भी तुम पत्र लिखना । तुम रूठनेका स्वभाव मत सीखना । तुम्हारे प्रेमभरे पत्रसे मुझे प्रसन्नता होती है । मैं शनिवार चार मईको ऊटी जा रहा हूँ । बदरीनाथ नहीं जाऊँगा । शरीर अस्वस्थ है ।

प्रभु श्यामसुन्दर अपने ही अन्तर्देशके अन्तरतममें विराजमान रहकर तुमसे मिलनेके लिये अज्ञात कालसे गाढ़ आलिंगनके लिये तुम्हारी चिर प्रतीक्षा कर रहा है । उसकी एक-एक चितवन, मुस्कान, बोलन, चलन तुम्हें अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये हो रही है । उसकी वह मधुर वंशीध्वनि तुम्हारे हृदयके साथ ही छेड़छाड़ है ।

मेरी भोली बेटी, तुम्हारे चाहते ही वह तुम्हारे साथ हँसेगा, खेलेगा, मिलेगा ।

मेरा प्यारभरा आशीर्वाद सर्वदा तुम्हें प्राप्त है ।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(५३)

वृन्दावन
दि. १३-५-५७

प्रिय तारा !

सप्रेम नारायण स्मरण ।

खोर है रसकी साँकरिया ।
पांयन गड़ि गड़ि जाय कसककी पैनी कांकरिया ॥
या पै चलै न कोउ गरबकी लैके गागरिया ।
'हरि' घूमै इक सुरत रंगीली पियकी नागरिया ॥

प्रेमकी उच्चतम दशामें संयोग और वियोग परस्पर एक दूसरेसे अपनेको बदल लेते हैं। वियोगमें भी निरन्तर स्मृतिके कारण तन्मयताका उदय हो जाता है और प्रत्यक्ष के समान ही मिलनका रस आने लगता है। संयोगमें भी अतृप्ति, अतीत विरहकी स्मृति तथा भावी वियोगकी सम्भावना, कल्पना तथा स्फुरणासे दुःखका उदय हो जाता है। मिलनके रसावेशमें भी प्रेमी-प्रियतमकी एकता हो जाती है। यह एकता वेदान्तियोंके समान नहीं है। यह तो रसाद्वैत है। इसमें मिल-मिलकर भी अलग होते हैं। अलग हो-होकर भी मिलते हैं। सटना-हटना, डूबना-उतराना, मिलना-बिछुड़ना, सिसकना-मुसकराना—यही तो प्रेमका विलास है। इसीसे प्रत्येक चोपमें, चावमें, उमङ्गकी तरङ्गमें प्रिया प्रियतम और प्रियतम प्रिया हो जाते हैं। उनका प्रत्येक मिलन नवीन और प्रत्येक समागम प्रथम होता है। वही लज्जा, वही नखरे।

'न आदि न अन्त विलास करें दोउ
लाल प्रियामें भई न चिन्हारी ॥

'भई न चिन्हारी'--इसी बातको जयदेवने **'प्रथम समागम लज्जितया'** कहा है। भागवतमें **'सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा'** कहकर केवल एक ही

बार अधरामृतपानकी स्वीकृति दी है। यह अतृप्ति ही, जिसका पूर्वरूप व्याकुलता है, प्रेमका प्राण है।

'जनम अवधि हम रूप निहारेनु, नैन न निरपित भेलु।'

आजकल हम लोग उटकमंडमें हैं। यह स्थान सात हजार फुट ऊँचा है और शीतल है। यहाँ बीस-पच्चीस दिन रहनेका विचार है। शरीर स्वस्थ, मन प्रसन्न है। कोई कार्यक्रम नहीं है। विश्राम वर्षोंके बाद मिला है। तुम्हारे प्रेमकी स्मृति है। अपने शरीर, मनका समाचार देना। बिन्दु, इन्दुको सस्नेह प्यार आशीष।

मेरा लिखनेका अभ्यास छूट गया है। दादा आलसी है। आजकल वह पत्र नहीं लिख रहा है। मैं उसपर नाराज हूँ। इस समय तो पत्र लिखनेमें ही लगा है। फिर पत्र आने पर।

शेष भगवत्कृपा।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(५४)

श्रीवृन्दावन

दि. १४-५-५७

मेरे प्यारे आत्मदेव!

अपने आपसे ही पूछनेमें कष्ट या संकोच क्या? पृथिवीका उद्धार करनेके लिए वराह रूप ही उपयुक्त था।

१. लोकमें देखा जात है कि सूकर पृथिवीसे बहुत प्रेम करता है। उसका थूथन पृथिवीको हींड-हींडकर मिट्टीको ऊपर कर देता है, जिससे मिट्टी पानीकी ऊपरी सतहपर छा जाती है और पानी ढक जाता है।

२. सूक़रका मुख पृथिवीका चुम्बन करता है। पृथिवी आधिदैविक रूपसे वराहकी पत्नी है।

३. पृथिवीके गन्देसे गन्दे रूपको भी अपना भोग्य बनाता है केवल सूकर। किसीके दोषको भी अपना भोग्य बना लेना प्रेम-वात्सल्यकी पराकाष्ठा है।

४. पृथिवी=भू सत्तारूप है। वेद=ज्ञानक़ी चोरी या लोप हो जानेपर वह अज्ञात भावको प्राप्त हो जाती है। जल=जड़ भावको प्राप्त हो जाती है। सामान्य चेतन उसकी तिरोहितको प्रकाशित तो करता है; परन्तु उद्धार नहीं कर सकता। उसकी अज्ञानता अथवा तिरोधानको निवृत्त करनेके लिये अवतीर्ण

चेतन या वृत्त्यारूढ़ ज्ञानकी=अवतारकी आवश्यकता होती है। अवतार भी ऐसा होना चाहिए जो सर्वात्मभावकी अभिव्यक्ति करता है। आकार विशेषसे तत्त्वकी हानि नहीं होती। आभूषणगत सर्व आकार स्वर्णमय ही हैं। भगवान्‌के सर्व आकार चेतन ही हैं। सूकरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग यज्ञरूप हैं। क्रिया, भोग आकार, स्थितिमें भेदसे तत्त्वमें भेद नहीं होता। वराह रूप इन सब तात्पर्योंको द्योतित करता है।

शेष भगवत्कृपा।

अखण्डानन्द सरस्वती

☆ ☆ ☆

'व्याकुलतासे जो स्मृति होती है, उसमें प्यासकी प्रधानता होती है। यह प्यास ही प्रेमीको प्रियतमके पास पहुँचाती है। मिलनेपर भी अतृप्त रखती है। नित्य नूतन भावका आविर्भाव और दिव्य रसकी अनुभूति भी उसीसे होती है।'

(५५)

ऊटी

दि. १५-५-५७

प्रिय.........

मैं तुम्हें पत्रमें क्या लिखूँ ? तुम्हारी मेरे प्रति जा निश्छल प्रीति है, पत्र लिखकर उससे छुटकारा तो नहीं मिलता। गरीबी ईश्वरकी कृपा है, यदि उसमें पवित्र और प्रसन्न रह सके।

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'श्याम भजे जा, काम किये जा,
का काहू का डर रे !
हाथ न पाई, सिरपर सांई'
का बाहर का घर रे !'

★ ★ ★

(५६)

ऊटी

दि. १६-५-५७

प्रिय पाठकजी,

सप्रेम नारायण स्मरण। तुम्हारा पत्र मिला।

१. किसीको जान बूझकर दु:ख न देना।
२. दूसरेके हकको न दबाना।
३. परस्त्री पर कुदृष्टि न डालना।
४. यथाशक्ति झूठ न बोलना और
५. भगवान् के लिये कुछ समय अवश्य निकालना

इन पाँच नियमोंको धारण करनेसे मनुष्य ईश्वरको प्रिय होता है। शेष भगवत्कृपा।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

कहा लिखत जड़ कागजनि ए रे पण्डित मूढ़ ?
पढ़ अन्तरतममें लिखित प्रभुकी बानी गूढ़ ॥

★ ★ ★

(५७)

ऊटी,
दि. २९-५-५७

प्रिय चिम्मनलालजी,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

एक विलक्षण बात है—साधारण रूपसे लोग समझते हैं कि जब तक 'मैं' नहीं छूटेगा तब तक 'मेरा' भी नहीं छूटेगा; परन्तु यह उलटी है । ऐसा तब हो सकता था जब परिच्छिन्न 'मैं' कोई सच्ची वस्तु होती । वस्तुत: 'मेरा-मेरा' करके ही मेरा वाला 'मैं' बना हुआ है । मेरा वाला ही परिच्छिन्न 'मैं' है । दृश्य अधिष्ठान ज्ञानके बिना ही सत्य तत्त्व भासता है । भक्तिसे यह कल्पना होती है कि ईश्वरका है । विवेकसे यह कल्पना होती है कि प्रकृतिका है । अविवेकसे यह कल्पना होती है कि 'मेरा' है । दृश्य ही कभी 'मैं' और कभी 'मेरा' भासता है । कभी 'तू'-कभी 'तेरा', कभी 'यह-वह'—सब दृश्यका ही विस्तार है । सब प्रत्ययका विषय है । जबतक दृश्यपर किसीका ममत्व भले ही अपना, अन्यका, ईश्वरका, प्रकृतिका ही क्यों न हों, स्थापित करते हैं, तबतक 'मैं' की परिच्छिन्नता कट नहीं सकती । इसलिये दृश्यपरसे ममता पहले हटनी चाहिये । वेदान्त सिद्धान्तमें अभिमानीको जीव कहा गया है । जब विशेष-विशेष दृश्यका अधिष्ठान एक निर्विशेष है—ऐसा ज्ञान होता है, तब निर्विशेषमें विशेष कल्पना मात्र है और निर्विशेष वस्तु आत्मासे भिन्न नहीं हो सकती । निर्विशेष सत्तारूप सर्वाधिष्ठान प्रत्यक् चेतनरूप आत्मा है । ऐसा ज्ञान होते ही सम्पूर्ण दृश्य विवर्त्त हो जाता है । 'मेरे' की परिच्छिन्नता अज्ञानसे थी, सो अज्ञान ही मिट गया । कुछ अपने पेटमें रखते ही, कुछ 'मेरा' मानते ही 'मैं' परिच्छिन्न भासने लगता है । जिसका कुछ 'मेरा' कुछ 'तेरा' है; वही जीव है । जिसका सब है, वही ईश्वर है । जिसका न सब है, न कुछ है, वह समाधिस्थ द्रष्टा है।

जो सब भी, कुछ भी दोनोंका अभिमानी भी, दृष्टा भी, भाव-अभाव, प्रतीति-अप्रतीति-सब कुछ रहते हुए भी सर्वके सत्ताशून्य होनेके कारण संस्पर्शशून्य है—वही अपना आत्मा ब्रह्म है ।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

(५८)

उटकमण्ड

दि. ५ जून-५७

प्रिय रणजीतराय,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

* 'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः' --

प्रज्ञावान् जिज्ञासुको चाहिये कि अपनी वाक् आदि इन्द्रियोंको मनमें स्थापित करे । इसका यह अर्थ नहीं है कि जैसे पानीको घड़ेमें रखते हैं वैसे इन्द्रिय नामकी कोई वस्तु है और उसे किसी आधारमें स्थापित करते हैं और फिर वहाँसे निकाल लेते हैं । किसी भी इन्द्रियके द्वारा किसी विषयका ज्ञान अथवा क्रिया तभी होती है जब पूर्व संकल्प, अभ्यास अथवा मनका संयोग होता है । **'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'** । मनके बिना कुछ भी नहीं हो सकता । मन ही उन-उन गोलकोंसे सम्बन्ध करके भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंका नाम-रूप ग्रहण करता है । **'यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च'** । ऐसी औषधिका सेवन करनेपर जिससे मन शून्य हो जाय, इन्द्रियाँ भी शून्य हो जाती हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंके बिना विषय नहीं, मनके बिना इन्द्रियाँ नहीं तो इन्द्रिय और विषयोंकी सत्ता मनसे भिन्न नहीं है । यह सब मनोमय ही है । ऐसा ज्ञान ही वाक् आदि इन्द्रियोंको मनमें स्थापित करना है ।

'तद् यच्छेद् ज्ञान आत्मनि' :--

मनको ज्ञानात्मामें स्थापित करना चाहिये । मनमें जितनी संस्कार, वासना, स्मृति, कल्पना, विचार, निश्चय, स्थिति आदि वृत्तियाँ उठती हैं, ज्ञानके अनुसार

* **टिप्पणी--** यह कठोपनिषदकी तृतीय वल्लीका मन्त्र है, जो आगराके श्रीरणजीतरायजी नागपालके प्रश्नके उत्तरके रूपमें लिखा गया था ।

ही उठती हैं। वृत्ति और उसकी शान्ति दोनों ही ज्ञानसे सिद्ध होती हैं। जिससे जिसकी सिद्धि होती है और जिसके बिना जिसकी सिद्धि नहीं होती, वह वस्तु अपनी सिद्ध करनेवाली वस्तुसे भिन्न नहीं होती। क्या कोई भी वस्तु और तद्विषयक संकल्प-विकल्प बिना ज्ञानका होता है? क्या अपनी कोई भी स्थिति अज्ञात होती है? सबकी सिद्धि ज्ञानसे ही है। इसलिये ज्ञानसे भिन्न मनका कोई अस्तित्व नहीं है—इस बातको समझना ही मनको ज्ञानमें स्थापित करना है।

'ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्' :—

व्यष्टि ज्ञानको, जो प्रत्येक मस्तिष्कमें अलग-अलग होता है, एक महान् ज्ञानमें स्थापित करना चाहिये। तत्त्वतः ज्ञान पृथक्-पृथक् होता ही नहीं। विषयगत भेद ही ज्ञानपर आरोपित कर ज्ञानमें भेद माना जाता है। घट-पट अलग अलग हैं। जैसे एक ही रोशनीमें दोनों दीखते हैं, वैसे ही एक ही ज्ञानसे दोनों प्रकाशित होते हैं। देश, काल, वस्तु, स्फुरणाएँ, विचार, स्थितियाँ—कोई भी पदार्थ ज्ञानको भिन्न-भिन्न बनानेमें समर्थ नहीं है। वे सबके सब ज्ञानसे ही प्रकाशित और सिद्ध हैं। देह, मस्तिष्क, सूक्ष्म, कारण शरीर भी। व्यष्टि-समष्टिका भेद भी। इसलिये एक अद्वितीय ज्ञानसे भिन्न अनेक ज्ञान नहीं हैं। व्यष्टिज्ञानके भेद झूठे हैं। स्वतःसिद्ध सर्वावभासक ज्ञान ही सत्य है। उसके सिवा और कुछ भी नहीं है।

'तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि।' :—

उस ज्ञानको भी शान्त आत्मामें स्थापित करना चाहिये। प्रश्न यह है कि क्या वह एक ज्ञान ही व्यष्टि बुद्धि, मन, इन्द्रिय और विषयोंके रूपमें परिणत, परिवर्तित हो रहा है? क्या उसीके अनेक रूप हैं? ज्ञानको अनेक, नश्वर मानें तो बौद्धोंका विज्ञानवाद, एक और परिणामी मानें तो उपासकोंका सगुण ईश्वरवाद। श्रौत मत यह है कि वह अद्वितीय ज्ञान वस्तुतः स्फुरणशून्य ही है। उसमें तो स्फुरणकी कल्पना इस कारणकी जाती है कि विचारक एक शरीरको 'मैं' मान कर अपनेसे भिन्न प्रतीत होनेवाले विषयोंकी स्थिति के

सम्बन्धमें विचार करता है। उपादान कारण जड़ हो, तभी वह परिणामी हो सकता है, साथ ही दृश्य भी। उपादान कारण सबका जब ज्ञान ही है तो उसके परिणामी होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। परिणाममें क्रम, रूपान्तर, अन्तरङ्ग-बरिरङ्ग भेद रहते हैं। वे सबके-सब प्रकाश्य, दृश्य होते हैं। इसलिये ज्ञान परिणामका प्रकाशक और विवर्त्ती अधिष्ठानमात्र है। यही ज्ञानको शान्तात्मामें स्थापित करना है। यह कोई क्रिया, अभ्यास, उपासना, आवृत्ति, भाव, स्थिति आदि नहीं है—शुद्ध बोध है।

शेष आनन्द है। तुम प्रसन्न होगे।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'कृष्ण कथा कथा और सब वृथा व्यथा !
न इति न अथ चला करे रथ !'

● ● ●

आनन्द-ब्रह्म

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।
आनन्दोद्धयेव खल्विभानि भूतानि जायन्ते ।
आनन्देन जातानि जीवन्ति ।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।'

- तैत्तिरीय उपनिषत्

'आनन्द ब्रह्म है-ऐसा अनुभव किया; क्योंकि यह निश्चित है कि यह सब पदार्थ आनन्द से प्रकट होते है, प्रकट होकर आनन्दसे ही जीते हैं, आनन्द की ओर गतिशील हैं, आनन्द से ही तृप्त होते हैं और आनन्द में ही प्रवेश करते हैं ।



महाराजश्रीके पत्र

(१)

परमप्रेमास्पद आत्मा !

सप्रेम नारायण स्मरण ।

कोई मनुष्य, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, अपनी सब इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकता।

१- भोग की इच्छाएँ ।

२- संग्रह की इच्छाएँ ।

३- कर्म की इच्छाएँ ।

●

ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि इनमें छाँट की जाय ।

१ - कौन-कौन पूरी की जायँ ?

२ - कौन कौन छोड़दी जाय ?

३ - किन्हे प्राथमिकता दी जाय ?

४ - किस एक के पूर्ण होने से और सब पूर्ण हो जाती है या मिट जाती है ?

●

उपर्युक्त विवेकसे धर्मका प्रारम्भ होता है। बिना इच्छाओं में काट-छाँट या नियंत्रण के मनुष्य-जीवन चल नहीं सकता। इसलिए संग्रह, भोग एवं कर्म पर विवेकानुसारी रोक और नियन्त्रण होना आवश्यक है।

●

कर्म, भोग और संग्रह की इच्छाओंकी मूल प्रेरणा एवं उद्देश्य के सम्बन्धमें विचार करने पर ज्ञात होता है कि उन्हें भी साधारण रूपसे तीन भागों में बाँट सकते हैं।

१ - जीवन सम्बधी-मृत्यु, रोग, भूख, ठंड, निर्बलता आदि से बचने के लिए सामग्रियों की आवश्यकता।

२ - ज्ञान सम्बन्धी-कहीं बेवकूफ न बनना पड़े, इसके लिये ग्रन्थ, पाठशाला, पर्यटन, चिन्तन, सत्संग आदि ज्ञानरक्षक एवं वर्द्धक सामग्री।

३ - आनन्द सम्बधी-इन्द्रिय और मनको अभाव, दुःख, चिन्ता आदिसे बचाकर प्रफुल्ल -प्रसन्न करने के लिये सामग्री।

●

इन तीनों प्रकारों की पिण्डीभूत रुपरेखा बतलायी जाय तो यों कहा जायगा -

१ - हमें अविनाशी जीवन चाहिये।

२ - हमें सर्वोपरि ज्ञान चाहिये।

३ - हमें अविनाशी और ज्ञात होता हुआ आनन्द चाहिये

अर्थात् - हमें ईश्वर चाहिये।

●

जो लोग कहते हैं कि हम ईश्वर को नहीं मानते, वे भी ईश्वर को ही चाहते हैं और जिस वस्तु को चाहते हैं, उसका अस्तित्व अनजान में ही कहीं न कहीं अपने अन्तस्तल में स्वीकार करते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि आस्तिक, नास्तिक सभी जान में या अनजान में ईश्वर को चाह रहे हैं। उसकी प्राप्ति सम्भव मानते हैं और अपने में उसकी प्राप्ति की योग्यता स्वीकार करते हैं।

●

धर्मके अनुसार कर्म करने से पापकर्म नहीं होते हैं। कर्ताका तमोगुण दूर होता है। देहसे भिन्न एक आत्मा नाम की वस्तु है जो स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होती है, यह विश्वास दृढ़ होता है और इस प्रकार हम अन्तःकरणशुद्धि और विवेक की ओर अग्रसर होते हैं।

●

भगवान्‌की उपासना करने से संसार की वासना, आसक्ति आदि दोष दूर होते हैं और भगवत्तत्व का ज्ञान बढ़ता है।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

(२)

परम प्रेमास्पद आत्मा

बृन्दावन

कल सायं पाँच बजे सानन्दमङ्गल वृन्दावन पहुँच गये। रास्ते में तुम लोगों का आना-जाना, खिलाना-पिलाना, सब स्मृतिपट पर घूमता रहा। आज प्रातः से ही लोगों का आना-जाना लग रहा है। रासलीला देखी, वेदान्तचर्चा भी की। सब काम करते हुए भी एक मधुर स्मृति चारों ओरसे घेरे हुए हैं।

तुम बड़ी सावधानी से अपने सब कर्तव्य पूरे करना। प्रेम हृदय की वस्तु है। दूसरे के साथ व्यवहार करते हुए भी दूसरे का स्मरण किया जा सकता है। केवल संसार में भगवान् को भर लो।

कल से तुम्हारे लिये लिखना शुरू करुँगा। अपना समाचार लिखना। मुझे इस समय भूख भी है और प्यास भी। अब सेव खानेका समय है। सस्नेह आशीष।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

●

(३)

परम प्रिय,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

तुम्हारे भगवद्ध्यान में रूप, स्पर्श, रसास्वाद और खिलाने-पिलाने की विशेषता होनी चाहिये ।

१. नख से शिखा तक भगवान् के रुप-सौन्दर्य का चिन्तन ।

२. हृदय से आलिङ्गन, कपोल स्पर्श ।

३- रसास्वादन, और

४- विविध प्रकार का भोजन-पान

मैं समझता हूँ कि बड़ी निपुणता से यह सब हो सकेगा । मैं हृदय से तुम्हारे पास ही हूँ ।

जहाँ तक सम्भव हो, गुरुजनों को अपने अनुकूल बनाओ । इसके पहले तुम्हें उनके अनुकूल बनना पड़ेगा । अपनी सेवा और सहृदयता से उन्हें प्रसन्न करो । मेरे विचार में तुम्हारे लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है ।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

★



परमप्रेमास्पद आत्मा

वृन्दावन

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

आज दोपहर साढ़े ग्यारह बजे ऊपर आ गया । तीन बजे तकके लिये दरवाजा बन्द है । मन बहुत ही मधुर अतीत की स्मृतियोंमें उलझा हुआ है-

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा
गुणैर्विहीनो गुणिनांबरो वा ।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा
कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममास्तु ॥

'श्रीकृष्ण चाहे कुरुप हो या सुन्दरशिरोमणि ! वे गुणवान् हों या निर्गुण ! वे मुझसे द्वेष करें या मेरे लिये करुणा के समुद्र बन जायँ, वही मेरे एकमात्र आश्रय हैं ।

आश्लिष्य मां पादरतां पिनष्टु वा-
प्यदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥

' मुझ चरणों की दासी को वे अपने गाढ आलिंगन द्वारा पीस डालें या कभी दर्शन न देकर मर्माहत कर दें, उनकी जो इच्छा हो, करें । मेरे प्राणनाथ तो वही हैं, दूसरा नहीं ।'

आपका ही

अखण्डानन्द सरस्वती

★

परम प्रेमास्पद,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

जब प्रेम हृदय की वस्तु है-यह बात पक्की है, तब यह भी उतना ही निश्चित है कि किसी वस्तु या क्रिया का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये । यह ठीक है कि प्रेम मीठा भी है, कड़वा भी है; परन्तु प्रेम की यह कड़वाहट भी दिव्यरसरूप है। इसी से तो बार-बार उसकी सृष्टि होती है । जिसको प्रेम के कड़वे रूप का रस नहीं आता, उसने प्रेमदेव की परस्पर विरुद्ध मूर्ति की अद्भुत झांकी नहीं देखी । बिना क्रम के सामञ्जस्य, स्वारस्यसे रहित, प्रेमका स्वरूप यदि ऐसा न होता तो उसे अनिर्वचनीय कौन कहता ? '**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्** ।'

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

' सहेली हो, पीर सहे सचु पइये ।
दहन सहन बिन कवन रसायन कौने भाँति सरइये ॥'

★

वृन्दावन

परम प्रेमास्पद आत्मा,

जहाँ तक हो सके-अपने धर्म की हानि न हो, ईश्वर की विमुखता न आये, अपना प्यारा न छूटे, वहाँ तक झुकना ठीक रहता है। जिससे मिलने के लिये सारा संसार है, यदि वही छूटता होतो थोड़ी दृढ़तासे भी काम लेना चाहिये। सर्वथा दीन भाव आ जानेसे अनुचित दबाव का शिकार होना पड़ता है। ईश्वर के नाम पर डट जाना चाहिये। सेवा पूरी करना। मुस्कराहट से स्वागत करना। भजन नहीं छोड़ना और पास पड़ोस के लोगोंको भी भजन के लिये प्रेरित करना। मैं तुम्हें शक्ति देता हूँ और वह अनन्त तक।

अखण्डानन्द सरस्वती

•

बरसत नैना निशि दिवस, तऊ अधर रसहीन
प्रेम-अगिन प्रजुलित हिये, तातें दोऊ दीन ॥

•

ऊटी

परम प्रेमास्पद

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

घर में भगवान के लिये स्थान हो । कुछ समय, कुछ क्रिया, वस्तु प्रतिदिन भगवान् के लिये ही हो । मानसी सेवा अवश्य । चोरी, जारी, झुठ और हिंसा से बचना । मन्त्र का जप करना ।

तुम्हारा,

अखण्डानन्द सरस्वती

•

'बुद्धि में तीन बातों का रहना आवश्यक है -

१. तत्काल निर्णय की शक्ति

२. मन-इन्द्रियों का नियंत्रण,

३. दृढ़ता ।

परन्तु ये तीनों तब रहते हैं, जब बुद्धि बलवती होती है । यह बल कहाँ से आता है ? प्रेम ही बुद्धि को रस देता है, जिससे वह बलवती होती है ।'

ऊटी

प्रिय इन्दु बेटी

सस्नेह प्रेमाशीष। तुम्हारा पत्र मिला। अभी परसों ही ....को पत्र लिखा है, इसलिए तुम्हें अलग से लिख रहा हूँ। तुम्हारे हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतना प्रेम है-यह जानकर हृदय आनन्द से भर जाता है। तुम्हारा हृदय प्रेमरस से सिक्त है - सराबोर है, यह मेरे लिए गौरव की बात है। इसी प्रकार तुम सर्वदा आनन्द प्रीति और तृप्ति से भरी रहो।

रूस जानेकी बात भी प्रसन्नताकी ही है। तुम रूस (देश) भले जाओ; पर कभी भी रूस मत जाना (रूठना नहीं)। मैं तुम्हारा इस लोक में भी चरम एवं परम उत्कर्ष देखना चाहता हूँ। तुम विदेशो में जाकर अपने राष्ट्र का सिर गर्वोन्नत करो। वहाँ प्यारा कन्हैया तो तुम्हारे साथ जायगा ही।

मैं जुलाई के प्रथम सप्ताह में बम्बई आने का विचार रखता हूँ। ऐसा भी सम्भव है कि यहाँ से लौटते समय जून के द्वितीय सप्ताह में भी वहाँ आना हो जाय। तुमसे मिलना हो जायगा।

विदेश में जाने से पूर्व नियम लेना आवश्यक है। अपने अन्तर में आशा, दृढ़ता और उत्साह लेकर जाना चाहिये। कम से कम मन ही मन प्रतिदिन पन्द्रह मिनिट श्रीकृष्ण के लिए अलग समय भी रखना पड़ेगा। नाम-जप अधिक हो। आचार देशभेद से पृथक-पृथक् होते हैं। दूसरों के प्रति सहिष्णु और सद्भावसम्पन्न होना चाहिये।

शेष भगवत्कृपा।

●

तुम्हारा अपना ही आत्मा

अखण्डानन्द सरस्वती

(९)

ऊटी

परम प्रेमास्पद आत्मा

जो वस्तु प्रत्यक्ष रहती है, वह किसी समय परोक्ष भी हो जाती है। जोवस्तु परोक्ष रहती है, वह कभी न कभी किसी न किसीको प्रत्यक्ष भी होती है। जिसका कभी किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके परोक्ष रूपसे होने में भी कोइ प्रमाण नहीं है। वह तो कल्पित है। जो परोक्ष है और कभी-कभी किसी-किसी को प्रत्यक्ष होता है, साधनसे, वह वस्तुतः दृश्य ही है। जो दृश्य होता है, वह नाम-रूपात्मक होता है और अपने अधिष्ठान में कल्पित तथा उससे अभिन्न होता है। अधिष्ठान अन्य रूपसे कभी अनुभवका विषय नहीं होता; होनेपर दृश्य हो जायेगा। दृश्य जितना भी है-चेतन से प्रकाशित है। चेतन वस्तुतः दृश्य से अन्य देश, अन्य काल या अन्य वस्तु के रूपमें रहकर उसे प्रकाशित नहीं करता, उसके अधिष्ठान के रूपमें रहकर ही उसे प्रकाशित करता है। इसलिये नाम-रूप जिस अपरिच्छिन्न अधिष्ठानमें कल्पित हैं, वह अपना आत्मा ही है; क्योंकि चेतन 'इदं' प्रत्ययका विषय नहीं होता। अपना आत्मा प्रत्यक्ष-परोक्ष के भेदसे रहित सदा अपरोक्ष है। अपने-आपकी परोक्षता भ्रान्तिसिद्ध है। इसलिये भ्रान्ति की निवृत्ति से परोक्षता की भी निवृत्ति हो जाती है। अपरोक्षता तो स्वतःसिद्ध है ही।

प्रत्यक्ष या परोक्ष वही वस्तु होती है जो बहिःईन्द्रिय या अन्तःईन्द्रियकी विषय और अन्य होती है। 'स्व' वस्तु न दोनों इन्द्रियों का विषय है और न अन्य ही है। इसलिये आत्मा न तो प्रत्यक्ष ही है और न परोक्ष ही। यह तो दोनो का प्रकाशक अधिष्ठान है। आत्मा के बिना किसी भी देश, काल एवं वस्तु की सिद्धि तथा स्थिति नहीं हो सकती। जिसकी स्थिति जिसमें होती है और सिद्धि जिससे होती होती है वह वस्तु उससे भिन्न नहीं होती। इसलिए दृश्य विलक्षणा आत्मा से भिन्न दृश्य की कोई सत्ता नहीं है। वह तो प्रतीतिमात्र, ज्ञानस्वरूप अतएव वस्तुतः आत्मा ही है।

तुम्हारा,

अखण्डानन्द सरस्वती

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

ऊटी,

प्रिय रतनसी भाई ,

सप्रेम श्रीकृष्णस्मरणपूर्वक शुभाशीर्वाद ।

तुम्हारा समाचार जानकर प्रसन्नता हुई । हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध इस जन्म का ही नहीं, बहुत पुराना है। नहीं तो थोड़े ही समय के मिलनसे इतना प्रेम नहीं हो सकता था । तुम्हारी प्रगाढ़ श्रद्धा और प्रीतिसे हमारा चित्त बहुत ही प्रसन्न है । हम हृदय से चाहते हैं कि तुम अपने जीवन का ध्येय प्राप्त करो। ईश्वर की कृपा और प्रेम सर्वदा हमें प्राप्त हो रहा है । निरन्तर सब परिस्थितियों में उसका अनुभव करते रहना चाहिये ।

शेष भगवत्कृपा ।

तुम्हारा,

अखण्डानन्द सरस्वती

'प्रेमके ह्रास के नौ लक्षण हैं -

१. **प्रेम का घटना-बढना**
२. **हृदयका कठोर होना**
३. **विश्वास में कमी**
४. **'बस-बस, अब बहुत हो गया'**
५. **भय होना**
६. **भेदभाव होना**
७. **पुराना पड़ना (पुरानी परी लाल पहचान)**
८. **दोष की कल्पना होने पर उपेक्षादृष्टि**
९. **लौकिक दृष्टि होना ।**

ऊटी.

प्रिय सौ. हेमलता,

सप्रेम श्रीकृष्णास्मरणपूर्वक शुभाशीर्वाद

तुम्हारा पत्र मिला । प्रसन्नता हुई । मेरा विश्वास है कि तुम्हें भगवान का ध्यान होने लगा होगा । मन में मन्त्र गान करना । ध्यान और मानसी सेवा का अभ्यास चालू रहे । बच्चों की सेवा में भी भगवान् की ही सेवा देखनी चाहिये। वे ही अनेक रूप धारण अपने भक्त की सेवा स्वीकार करते हैं । हमें हर क्षण सावधान रहकर अपने हृदय को अपने प्यार की स्मृति और प्यार से भरपूर रखना चाहिये । हर एक परिस्थिति को भगवान् के साथ जोड़ना चाहिये ।

सुश्री गीता समझदार है और बहुत निपुण है । हम चाहते हैं कि उसके हृदय में भगवान्‌की भक्ति बढ़े । सब बच्चों को प्यार

★

अखण्डानन्द सरस्वती

ऊटी,

प्रिय जीत बाबू,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

आपका पत्र मिला । आपका प्रश्न और उसका उत्तर लिख रहा हूँ :-

प्रश्नः - समाधि में द्रव्य की प्रतीति नहीं होती तथा कर्म के द्वारा द्रव्य, संस्कार और कर्ता की निवृत्ति नहीं होती । यहाँ पर 'द्रव्य' शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर : द्रव्य का लक्षण है गुण और क्रिया का आश्रय होना । पृथ्वी भी द्रव्य है, शरीर भी द्रव्य है । नाम-रूप का आश्रय भी द्रव्य है । नाम-रूप का आश्रय नाम-रूप तो नहीं है, इसलिये वह दृश्य भी नहीं है । 'स्व'-'पर' के भेद की भी प्रतीति नहीं होती । इसलिये 'स्व' की भी प्रतीति नहीं होती । 'स्व' रहता है, प्रतीति नहीं रहती-अर्थात् 'स्व' प्रतीति का-ज्ञानका विषय नहीं होता । ज्ञानका विषय तब हो, जब अन्य भी ज्ञान का विषय हो और-'स्व' भी। अन्य भी प्रातिभासिक रहे और 'स्व' की पारमार्थिकता का बोध हो जाय, तब काम बनता है ।

द्रष्टा-दृश्यको पृथक् करना - विवेक

दृश्य का निष्प्रयोजन होना - वैराग्य

दृश्य की प्रतीति न होना - समाधि

दृश्य की प्रतीति-अप्रतीति, दोनों के अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्मसे आत्मा की अभिन्नता का बोध ही ज्ञान है, । अधिष्ठान अन्य है, तो उसकी सन्मात्रता सिद्ध हे । अधिष्ठान 'स्व' है तो चिन्मात्रता स्वतःसिद्ध, सन्मात्रता भी । दोनोंकी एकता बिना पूर्णानन्द नहीं ।

शेष आनन्द है ।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

मन सरसत परसत नहीं, करसत तन बिनु काज ।

रस बरसत, हरसत न क्त, जरत मरत केहि गाज ॥

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

परम प्रेमास्पद आत्मा

सप्रेम नारायण स्मरण ।

उन दिनों ध्रुवजीको भगवत्प्राप्ति हुई थी । बड़े बड़े ऋषिमुनि इकट्ठे हुए । परस्पर विचार करने लगे कि हम लोगों ने कठिन-कठिन तप, व्रत, आराधन किये, भगवत्प्राप्ति नहीं हुई यह नन्हा-सा शिशु ! छह मासकी तपस्या । भगवान् इसे कैसे मिल गये ?

अन्तमें निश्चय हुआ कि ध्रुवसे ही चलकर पूछा गाय । उनके पूछनेपर ध्रुव कोई उत्तर न दे सके; क्योंकि उन्हें अपनेमें किसी विशेषता का पता नहीं था । ध्रुवके चुप रहनेपर महात्माओंने कहा - 'अच्छा, जब भगवान् मिलें, तब उनसे पूछकर बतलाना ।'

ध्रुवके प्रश्न करनेपर भगवान्ने कहा-'अभी चलो घूम आयें, फिर प्रश्नोत्तर ।'

दोनों निकल पड़े । सामने विशाल जलराशि । खिले कमल, सारस, हंस तैर रहे । छोटीसी सुन्दर नाव पर दोनों बैठे । भगवान्ने डाँट अपने हाथमें ली । नावजलपर तैरने लगी । ध्रुव अपलकनेत्रोंसे भगवान्की अनूप रूप राशिका पान करने लगे । थोड़ी दूर पर श्वेत पर्वत मिला । ध्रुवने पूछा–'प्रभो ! यह क्या है ।' भगवान्ने कहा-'ध्रुव ! यह तुम्हारे अनादि कालसे अबतकके उन जन्मों की हड्डीयोंका पर्वत है, जिनमें तुमने मेरी भक्ति नहीं की थी ।'

आगे बढ़नेपर पहेलेसीभी विशाल पर्वत, जो आकाशको चूम रहाथा, देखकर ध्रुवके पूछनेपर भगवान्ने कहा- 'यह तुम्हारे उन जन्मोंकी हड्डियोंका पर्वत है- पहेलेसे लाखों गुना बड़ा, जिनमे तुमने मेरी भक्ति की है। यह ज़ो आज मैं तुम्हे मिला हूँ, तुम्हारी नाव खे रहा हूँ, यह केवल एक जन्म की साधना नहीं है; तुमने मेरे लिये कोटि कोटि जन्म खपा दिये हैं ।'

कहना न होगा कि ध्रुवने जब यह चर्चाकी, महात्माओंकेप्रश्नका उत्तर मिल गया ।

★ ★ ★

प्रिय व्रजमोहन,

प्रसन्न रहो !

अपना आदर्श ऊँचा रखो। अपनी महत्त्वाकांक्षा के प्रति आशावान् रहो, साधन के प्रति निष्ठावान् और उद्देश्य के प्रति सच्चे। 'क्लैब्यं मा स्म गमः' तुम्हारी भावी महिमा मेरी दृष्टि में है। मैं उस समय की प्रतीक्षामें हूँ, जब एक पगली छलांग ही तुम्हारे बीच की दूरी मिटा देगी।

प्यारे तुम्हारी मुक्ति और मेरी मुक्ति अलग-अलग नहीं है। यदि तुम बद्ध हो तो मैं मुक्त नहीं। आत एक है-सत्य एक है। तुम स्वयं एक अखंण्ड सत्य हो। तुम अपने को पहचानो ! यही सच्ची गुरु -पूजा है। मैं क्या तुम्हारे हृदय में नहीं हूँ ? जब तुम्हारा मन चलायमान होता है, जब तुम मजा लेते और पछताते हो, तब क्या मैं तुम्हारे हृदय में बैठकर तुम्हारे साथ सुखी-दुःखी नहीं होता ? मेरी उपस्थिति में ही सब कुछ हो रहा है।

तुम्हारा ही

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

प्रिय बेटी,

ऊटी,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

१. अपने घर में भगवान् के लिये निश्चित स्थान रखो ।

२. कुछ-न-कुछ समय भजनके लिए अवश्य निकालें।

३. ईश्वरके लिए सेवा पूजा-कुछ काम अवश्य करें।

४. अपने इष्ट पर निछावर करके दो-चार पैसे रोज गरीब को दें ।

५. भगवान् के नामका जप-कीर्तन कम से कम १५ मिनिट अवश्य करें।

६. अपने हृदय को श्रद्धा-स्नेह से तर रखें ।

७. जान-बूझकर किसी को दु:ख न पहुँचायें ।

इन सात नियमों पर चलने से संसारका दु:ख नहीं व्यापता और भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

शेष भगवत्कृपा ।

तुम्हारा अपना ही ,

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

परम प्रेमास्पद आत्मा !

कर्म का आश्रय है द्रव्य, प्रेरकहै संस्कार । अभिमानी है कर्ता । समाधि में द्रव्यकी प्रतीति नहीं होती । संस्कार लीन रहते हैं । कर्तृत्त्व शान्त; परन्तु बीज सबका है । इससे कर्म के द्वारा द्रव्य, संस्कार और कर्ता तीनों की निवृत्ति नहीं होती, वह भले ही निष्काम हो । समाधिसे भी नहीं । आत्मा को ब्रह्म जानने से द्वैत का बाध हो जाता है । यही मोक्ष है ।

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

ओ रे मेरे प्यार, यार ! तू कहाँ फंस गया ?
जहाँ न तेरी क़द्र, भद्र ! तू वहाँ फंस गया ।
सोच-समझकर भला, चलाकर किसी राह में ।
कम से कम हँस कहे 'वाह !' उस सर्द आहमें ।



ऊटी,

परम प्रेमास्पद आत्मा !

उपासना तीन प्रकारसे होती है -

१-हृदय में राग-द्वेष किसी के प्रति न हो । राग में दोष-दर्शन और द्वेषमें गुण-दर्शन की योग्यता का लोप हो जाता है । राग में पक्षपात और द्वेषमें हिंसा होती है । दोनों ही पाप हैं । इनसे रहित हृदय में ईश्वरके सान्निध्य. प्रेम एवं स्वरूप का अनुभव होता है । निर्मल हृदय ईश्वर की पूजा है ।

२- वाणी से जितना भी व्यवहार होता है, ईश्वर से होता है; क्योंकि वह सबके हृदय में रहता है । झूठ, चुगली, गाली, निन्दा, कटु, हानिकारक, अधिक विवादस्पद,ऊँचे स्वर से अनवसर वाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिये। इन दोषों से रहित बोलना ईश्वर की पूजा ही है ।

३- शरीर से कुछ न कुछ कर्म होता ही रहता है । बस इतना ही ध्यान रखा जाय कि अपने कर्म के द्वारा किसी को दुःख न पहुंचे । दूसरे के हक की वस्तु अपने पास न आये । परस्त्री या पर पुरुष का सम्बन्ध न बने । फिर तो सबमें ईश्वरबुद्धि करके व्यवहार किया जा सकता है ।

अभिप्राय यह है कि इसके बिना केवल जप-पूजा ही ईश्वर की उपासना की नहीं है । इनके होने पर ही ईश्वरकी जप-पूजा फलवती होती है ।

इन सबका सार-१-हृदयमें राग-द्वेष का अभाव, २- वाणी का माधुर्य और ३- शरीर से सदाचरण; यही ईश्वर की सच्ची पूजा है ।

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिभिः ।
हिंसादिरहितः काय एतदीश्वरपूजनम् ॥

तुम्हारा,

अखण्डानन्द सरस्वती

●

परम प्रेमास्पद आत्मा !

यह निश्चित है कि ईश्वर के लिये किया हुआ एक भी संकल्प व्यर्थ नहीं जाता ; क्योंकि वह एक चेतन कल्पवृक्ष है और अपने प्रेमी की सब इच्छाओं को जानता है तथा उन्हें पूरी करने की सामर्थ्य रखता है। उसका हृदय बहुत कोमल है। तुम्हारी प्रत्येक प्रार्थना पूर्ण होगी।

एक बहुत बडे महात्मा अपना शरीर त्याग रहे थे। उनके एक मित्र ने पूछा-' कुछ अपने अनुभव बता जाओ।' पहेलेतो मना कर दिया। बहुत आग्रह करने पर कहा-'अच्छा, तुम बताओ, मेरे मुखमें दाँत है या नहीं'। दूसरे ने कहा'- नहीं हैं '। पूछा- 'और जीभ' ? दूसरे- 'सो तो हैं'। महात्मा-'अच्छा, मेरा यही संदेश देना कि जो कठोर है वह पहले टूट जाता है और जो कोमल होता है वह बना रहता है ;'

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★ ★

परम प्रेमास्पद आत्मा

.... मेरा शुद्ध प्रेम सर्वदा तुम्हारा कल्याण ही चाहता है। मेरा और ईश्वर का सम्बन्ध तुम्हारे मन को बलवान् बनायेगा। तुम्हारे चित्त में जो कभी-कभी दीनता मालूम पड़ती है, वह निकल जायगी। तुम अपनी पूरी शक्ति अधिकार और विश्वास के साथ काम करो। अपने को विषयी संसारी लोगों के नीचे दबाओ मत, उनपर हावी हो जाओ। प्यारे! तुम मालिक हो गुलाम नहीं। मेरा पूर्ण विश्वास और आशीर्वाद है कि तुम्हे अपने साधन और उद्देश्य में सफलता मिलेगी।

तुम्हारा,

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'हे मुकुन्द! तुम कुन्द-कुञ्जमें करते रहो विहार।
कभी - कभी अपनी राधा को भेजो मन से प्यार॥'

(२२)

ऊटी,

परम प्रेमास्पद आत्मा !

तुम्हारे पत्र मिल गये थे। देवर्षि नारदने प्रेमके ये लक्षण लिखे हैं।—

१—गुण रहितम् —

सुन्दर हैं, उदार हैं, दयालु हैं, दाता हैं, सर्वज्ञ हैं—इन सब गुणोंको देखकर तो वे लोग प्रेम करते हैं, जिन्हें इन गुणोंसे कुछ लाभ उठाना है। जिसे अपने प्यारेसे कुछ लाभ नहीं उठाना है, उसे गुणोंकी क्या आवश्यकता ? गुण देखकर जो प्रेम होता है, वह उस गुणकी कमीसे या अवगुण दीखनेपर नष्ट हो जाता है। आज सुन्दर देखकर प्रेम किया—कल चेचक निकल आनेपर टूट गया। प्रेम अपने प्रियतमके दोष देखता ही नहीं; यदि कदाचित् दोष दिखे तो प्रेम और बढ जाता है। दोषके अवसरपर ही तो प्रेमकी आवश्यकता है जो अपने प्यारेको दोषसे बचाये या उसके दोषको अपना भोग्य बनाकर आनन्दित हो। हमें अपने प्यारेसे दान, दया या ज्ञान तो लेना नहीं है, फिर वे सगुण हैं या निर्गुण इस खोज-बीनसे हमें क्या प्रयोजन ? वे जैसे हैं वैसे ही ठीक, वैसे ही मेरे हैं। उनमें 'वह' या 'यह' रहनेपर या घटने-बढ़नेपर हमारा प्रेम रहेगा-ऐसी कोई शर्त प्रेममें नहीं चलती है। हम उन्हें पसन्द करें, इसके लिये उनमें कुछ रहने न रहनेकी जरूरत ही क्या है ?

२—कामनारहितम्—

प्रेम और काम दोनों एक साथ नहीं रहते। अपने प्रियतमको सुख पहुँचानेका भाव प्रेम है। अपने प्रियतमसे अपने लिये सुख लेनेका भाव काम है। श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि प्रेम और कामकी क्रियामें अन्तर नहीं है, भावमें अन्तर है। क्या हम अमने प्रियतमको भोगना चाहते हैं ? अथवा हम उसे भोग देना चाहते हैं ? प्रेम और काममें बाल बराबर अन्तर है--बस, अपने लिये या प्रियतमके लिये ! काम और प्रेम एक साथ अन्तःकरणमें नहीं रह सकते।

प्रेमी निष्काम हो तो कामी प्रियतम भी थोड़े समयमें ही निष्काम हो जाता है। प्रियतम निष्काम हो तो सकाम प्रेमी भी थोड़े ही समयमें निष्काम हो जाता है। यह प्रेमकी ही महिमा है कि वह अपने आश्रय (जिसमें प्रेम रहता है-प्रेमी) और अपने विषय (जिससे प्रेम होता है—प्रियतम) दोनोंको ही शुद्ध चिन्मय, भगवद्रूप बना देता है।

३—प्रतिक्षण वर्द्धमानम्—

गंगाजी ज्यों-ज्यों आगे बढती हैं, बढती ही जाती हैं। नहर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, घटती जाती है। प्रेम गंगा है, काम नहर। प्रेम निर्मल, पवित्र—पावन है—काम कलुषित। प्रेम क्षण-क्षण, नया-नया रस और चमत्कार लाता है। प्रेममें प्रियतमका सौन्दर्य नूतन, मधुमय, लास्यमय, चटपटा-सलोना, छलकता हुआ जान पड़ता है। जैसे चन्द्रमाके लिये प्रशान्त रत्नाकर भी उल्लसित होकर थिरकने लगता है लहरियोंके रूपमें, वैसे ही प्रेमीका हृदय-रङ्गमञ्च भी प्रियतमके लिये प्रीतिनटीके नवीन-नवीन भावविलासोंसे स्पन्दित होता रहता है। प्रेम बढ़ता है और बढता ही जाता है—

'छिनहिं चढै छिन ऊतरै सो तौ प्रेम न होय।'

४—अविच्छिन्नम्—

कोई सम्बन्ध संसारमें जब जुड़ता है तब टूटता भी है। मृत्युसे, बेवकूफीसे, दुःखसे, वियोगसे, प्रतिकूलतासे सारेके सारे संसारी सम्बन्ध ग्रस्त हैं। इसीसे चाहनेपर भी उनमें स्थायित्व नहीं आता। भगवान्‌के प्रेममें वे सब बातें नहीं होतीं; क्योंकि प्रेम मृत्युसे भी ठोस अमर है, प्रकाशरूप है, रस है। वियोग तो इसकी वृद्धिमें सहायक है। प्रतिकूलतामें प्रियतमकी इच्छापूर्तिका सुख है। प्रेम अपने विषय प्रियतम और आश्रय दोनोंको अपनी गोदमें लेकर झूला झूलता रहता है। दोनों शक्ल-सूरत, आकार-प्रकार बनाता-सजाता रहता है। कहीं अन्त नहीं है। वृन्दावनमें प्रिया-प्रियतमको लता-वृक्ष, कीट-पतंग, पशु और पक्षियोंके रूपमें भी स्त्री-पुरुष बनाकर यही प्रेम भिन्न-भिन्न प्रकारका रसास्वादन कराता है—**'स्त्री राधा पुरुषः कृष्णो विज्ञेयो व्रजमध्यमः।'** प्रेम कभी किसी भी निमित्तसे या बिना निमित्त स्वभावसे टूटनेवाली वस्तु नहीं है।

५—सूक्ष्मतमम्—

प्रेम इतना सूक्ष्म होता है कि वह प्रेमीकी नस-नसमें व्याप्त हो जाता है। उसकी एक-एक क्रिया, सोना, जागना सब प्रेमसे भर जाता है। प्रेमी समझता है कि मैं अपने लिये खाता-पीता हूँ, लेकिन दरअसल वह अपने प्रियतमके लिये ही खाता-पीता है। उसके हृदयकी सूक्ष्मतामें प्रियतम रहता है।

'एक जु मेरी अँखियनमें निसि द्यौस रह्यौ करि भौन।
गाइ चरावन जात सुन्यौ सखि सो धौं कन्हैया कौन?'
'याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥'

'सखि वे धन्य हैं, जो स्वप्नमें अपने प्यारेका दर्शन प्राप्त करती हैं। हमारी तो यह स्थिति है कि कृष्णके साथ निद्राने भी वैर साध लिया—वह भी मुझे छोड़कर चली गयी।'

यह प्रेमकी ही सूक्ष्मता है जो नींदको भी मिटा देता है, समाधिको शून्य-सा भयप्रद और ब्रह्मानंदको भी दुःख बना देता है। यह प्रेमकी ही सूक्ष्मता है कि प्रियतम श्यामसुन्दर मनके करकमलोंसे प्रियाजीके मानस-शरीरको भी छूनेमें डरते हैं—

'मनहूके करन सों छुवत डरत हैं', अतएव

'बार-बार दूरि ही तें पायन परत हैं।'

६—अनुभवरूपम्—

प्रेमकी कोई बाहरी पहचान नहीं है। उसकी शक्ल-सूरत, रंग-रूप, लाड़-प्यार, लड़ाई-झगड़ा आदिसे कोई निश्चित नहीं कर सकता। दुलार-मार, त्याग-भोग, लेना-देना, झूठ-सत्य, धर्मा-अधर्म, संयोग-वियोग, जीवन-मृत्यु—सभी स्थितियोंमें रहकर भी प्रेम सबसे न्यारा है। उसको प्रेमी और प्रियतमके सिवा दूसरा कोई जान नहीं सकता। कभी-कभी तो प्रेमके उच्चतम भावको प्रियतम भी समझ नहीं पाता। प्रेम समझसे बहुत ऊपर है। वह तो आत्मा-परमात्माका स्वरूप ही है। वह अनुभव है। प्रेमीके तन, मन, वचनसे, जागृत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें जो कुछ होता है—सबके 'अनु'=पीछे प्रेम ही 'भव'=रहता है। वही अपने कोमल, सुकुमार, अमृतस्यन्दी संस्पर्शसे प्रेमीकी प्रत्येक क्रिया, संकल्प, भाव, विचार, स्थितिको अनुप्राणित करता रहता है। कभी-कभी तो प्रेमीको भी इस बातका पता नहीं चलता कि यह काम प्रेमसे प्रेरित होकर कर रहा हूँ; क्योंकि प्रेम खुद परदेमें रहकर ही सब कुछ करता-कराता है। वह स्वयं अनुभव है, अनुभवका विषय नहीं है।

'गीत गोविन्द'की बात मिलनेपर करेंगे। यहाँसे ६ जूनको मैसूर जा रहे हैं। बम्बई पहुँचनेका समय फिर लिखेंगे।

तुम्हारा ही—

अखण्डानन्द सरस्वती

• • •

प्रेम-महिमा–

१. प्रेम मुहूर्त देखकर पैदा नहीं होता ।

२. बढ़नेके लिए पोषणकी आवश्यकता नहीं होती ।

३. रसीला और सफल होनेके लिए समयकी प्रतीक्षा नहीं होती ।

४. परिपक्व होकर कभी सड़ता नहीं ।

५. दाताकी कोई आवश्यकता नहीं होती ।

६. अपने आश्रय (प्रेमी) और विषय (प्रियतम) दोनों को अपने वशमें रखता है ।

७. यह (प्रेम) ईश्वरका भी मालिक है, सेवक नहीं ।

★ ★ ★

जूठ़ मूठ़ से लिप्त दांत, दारूण की घेरी ।
अन्न-पान आसक्त , मात्र रस की जो चेरी ।
ऐसी जिह्वा भला, कहेगी 'प्रेम-प्रेम' क्या ?
प्रेम क्षेम रस पूर्ण गुप्त डर छोड़ बहे क्या ?
चल सजनी उस देश में जहां न रजनी प्रात है ।
बोलन डोलन से रहित पिया मिलन बिनु बात है ॥

★ ★ ★

(२३)

परम प्रमास्पद आत्मा !

सप्रेम शुभाशीष ।

भक्तिमार्गमें धर्मानुष्ठानकी अपेक्षा एक बड़ी विशेषता है। धर्ममें तो एक विशेष प्रकारकी क्रिया करनी पड़ती है, जैसे यज्ञ, दान, उपवास आदि; परन्तु भक्तिमार्गकी सुगमता और सरलता यह है कि अपने सब काम पूर्ववत् करो; केवल भाव, नीयत, उद्देश्य बदल दो। शरीरको ठीक रखो, अपने लिये या संसारके लिये नहीं, अपने जीवनसर्वस्व हृदयेश्वर श्रीकृष्णके लिये। मां-बाप, पति-पत्नी आदिकी सेवा भी उन्हें श्रीकृष्णका स्वरूप मान या उन्हें श्रीकृष्णका मानकर ही करनी चाहिये। घर भी श्रीकृष्णका ही मन्दिर है। वे तुम्हारे पास आते हैं, इसलिये उसे स्वच्छ-पवित्र रखना। तन, मन, धन, सब श्रीकृष्णका। इसीसे तो और सेवा करना चाहिये। अपना हो तो उदासीन भी रह सकते हैं। प्यारे प्रभुकी वस्तु या उनकी सेवामें लगने वाली वस्तुकी सँभाल ज्यादा रखनी चाहिये।

जहाँतक सम्भव हो, खाते-पीते समय उन्हें अर्पण करके मन ही मन उन्हें खिलाते हुए ही खाना-पीना चाहिये। भगवान्के लिये भोजन उत्तम है, उपवास नहीं। धर्म-विरुद्ध भोग ईश्वरको पसन्द नहीं।

आजकल जो लोग पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहनकी चकाचौंधमें अपने जीवनके सच्चे सुख और शान्तिको भी भूलते जा रहे हैं; उन्हें क्या कहें ? **'अंजन कहा आँख जेहिं फूटे।'** इतना सिनेमा नहीं देखना चाहिये कि आँख ही खराब हो जाय। सिनेमाकी बात तो उदाहरणके तौरपर लिखी है।

स्वास्थ्य, सेवा-भाव, संयम, सम्मान और समय कभी नहीं खोना चाहिये। सद्भाव ही भक्तिका सर्वस्व है। अपना दिल प्यारके अमृतसे सराबोर

रहे। किसीके प्रति दुर्भावका विष न आने पाये। विष पहले दिलको और दिलवालेको ही जलाता है। दिलमें बस, दिलदार ही रहे।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

हे वृन्दावननाथ ! हाथ अब सिर पर दीजे।
कभी न छूटे साथ, दास अपना कर लीजे।
हे आनन्दमुकुन्द ! नवल नटवर गिरिधारी।
प्यारे मोहन ! मीत ! साँवरे ! सब सुखकारी।
आओ प्रियतम, सामने, करलो नयन निवास।
हृदय वास भी तोड़ता जीवन आशा श्वास॥

★ ★ ★

(२४)

बंबई

परम प्रेमास्पद आत्मा !

सप्रेम नारायण स्मरण ।

प्र.– सुख इष्ट है या सुखकी उपलब्धि=ज्ञान ?

उ.– उपलब्धिके अतिरिक्त सुख कुछ नहीं है । उपलब्धि न हो तो सुख क्या!

प्र.– ठीक है, परन्तु उपलब्धिका विशेष आकार सुख है ।

उ.– फिर तो वह नाशवान् और दुःखपरिणामी होगा; क्योंकि आकार एक-से नहीं रहते, बदलते रहते हैं ।

प्र.– ऐसा क्यों ?

उ.– तत्त्व नित्य होता है, आकार नहीं । अनुपलब्धि सुखकी सत्ता नहीं है । उपलब्धिमात्र ही सुख है ।

प्र.– सुखकी क्षणिकतासे उपलब्धि भी क्षणिक क्यों नहीं ?

उ.—क्षणिकता उपलब्धिका विषय है । इसलिये उपलब्धिअकाल है । आकारगत क्षणिकता उपलब्धिमें आरोपित । उपलब्धि ही सुख है । अकाल ही सत्य है ।

प्र.– उपलब्धिमात्र ही सुख है, क्या अभिप्राय ?

उ.– चाहे जिस आकारकी उपलब्धि हो, वह उपलब्धिका परिणाम नहीं, विवर्त्त ही है । इसलिए कोई भी आकार प्रतीत हो अर्थात् सभी आकार तत्त्वतः उपलब्धिस्वरूप ही हैं । उपलब्धि ही सुख है, उसका आकार चाहे सुख हो, दुःख हो या और कुछ । जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वही तो सुख है ।

आपका ही–

अखण्डानन्द सरस्वती

(२५)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

स्नेहपूर्ण आशीर्वाद—

भगवान् सर्वत्र परिपूर्ण हैं जो उनकी सत्ताको स्वीकार करते हैं उन्हें आस्तिक कहा जाता है। संसारमें किसी भी वस्तु को देखें, उसमें एक अविनाशी जीवन है—शक्ति है, गति है, अपनी विलक्षणता है। सबमें ईश्वरको जानो और और मानो, तुम्हें बहुत सुख मिलेगा; परन्तु इतनेसे कोई भक्त नहीं हो जाता। भक्त तो तब होता है जब भगवान्‌के संयोगकी भावनामें रस और वियोगकी स्फूर्ति होनेपर मिलनके लिये व्याकुलता होती है। उस समय मन इतना तन्मय हो जाता है कि बाहरके सुख-दुःख मनपर अपनी कोई छाप नहीं डाल पाते। गंगाकी धारामें बहते अच्छे-बुरे पदार्थोंके समान वे आते-जाते रहते हैं। संसारमें क्या टिकाऊ है ? क्या-क्या अबतक नहीं जा चुका ? आज जिस दुःखसे हम-तुम—सभी दुःखी हैं, वह कल स्वयं ही चला जायगा। इसलिये अपने मनको संसारके सुख-दुःखमें न फँसाकर भगवत्सम्बन्धी सुख-दुःखमें फँसा देना चाहिये।

तुम्हें भगवत्सम्बन्धी संगमें सुख मिलता है सो तुम्हारा सौभाग्य है। भगवान्‌की तुमपर अहैतुकी कृपा है। इस रुचिका तुम्हें लाभ उठाना चाहिये। संसारकी चर्चामें है ही क्या ? चार जने इकट्ठे होकर दूसरोंके गुण-दोषकी चर्चा करते हैं, निन्दा-स्तुति करते हैं। विषय-भोगकी चर्चा करते हैं, अथवा व्यर्थ हँसी, गप्पबाजी करते हैं। इससे राग-द्वेष और प्रमादकी ही तो वृद्धि होती है। ईश्वरचर्चासे मनमें शान्ति, उत्साह, प्रसन्नता और सावधानीका उदय होता है, जो अपने जीवनके लिये एक महान् पूँजी है। कहना यह है कि जब तुम लोग बैठो, सास, बहिनो या सखियोंके साथ, तो आपसमें दुनियादारीकी बात उतनी ही करो, जितनी जरूरी हो। बाकी समय एक दूसरेको उत्तम पुस्तक पढ़कर सुनो-सुनाओ और उसीके बारेमें चर्चा करो। साड़ियों, जेवरों या शान-शौकतकी आपसमें होड़ मत लगाओ। नाम-जप कौन कितना करता है, गरीबोंकी सेवामें किसकी कितनी रुचि है, भगवान्‌की नयी लीला, नया नाम कौन ढूँढ़ लेता है—इसकी शर्त बदो। तुम्हारा अन्तःशरीर मेरी सन्तान

हैं। मैं उसमें सर्वदा सुखका समुद्र उमड़ते देखना चाहता हूँ।

भक्तिशास्त्रमें लिखा है कि जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति उदय होने लगती है उसमें नौ बातें जरूर आती हैं—

(१) **क्षमा—**

किसीसे अपराध बन जाय और उसको दण्ड देनेका अपनेमें सामर्थ्य भी हो तो क्षमा कर देना। यहाँतक कि कोई तुम्हारी भक्तिमें बाधा डालता हो तो उसकी बुराई न चाहना और ईश्वरसे प्रार्थना करना कि प्रभो, इसके ऊपर कृपा करो, यह आपको भूल गया है। इसको अपनी भक्ति दो। यदि भक्ति करनेवालेके हृदयमें किसीके अनिष्टका संकल्प आजाय तो कभी-कभी वह पूरा हो जाता है। इसलिए अपराधीको क्षमा कर देना ही भक्तका लक्षण है। जो किसीके अपराधका ही चिन्तन करता रहेगा, वह भगवान्‌की याद कब करेगा ?

(२) **अपना समय व्यर्थ न खोना—**

घर-गृहस्थीमें बहुत काम लगे रहते हैं। सबकी सेवा और प्रसन्नताके बाद ही ईश्वरके लिये थोड़ा-सा समय मिल पाता है। इसलिये सदा सावधान रहना चाहिये। जब मौका मिले तब ईश्वरके स्मरणमें लग जाना चाहिये। शौच, लघुशंका, बाथरूम कहीं भी लहर आये भजनकी, तो पहले कर लो। पता नहीं बादमें फिर वैसा स्वाद आये या नहीं !

(३) **संसारमें किसीसे ज्यादा मुहब्बत न करना—**

यदि किसी वस्तुमें या भोगी-विलासी संसारी व्यक्तिमें मन फँस गया तो बन्धन और दुःख ही मिलेगा। इसलिये जहाँ ईश्वर-बुद्धि हो उसीसे मुहब्बत करना चाहिये—माँ, बाप, पति, गुरु आदि।

(४) **अभिमान न करना—**

अपने धन, विद्या, तप, रूप, गुण—किसी भी वस्तु या सम्बन्धके कारण अभिमान न करना।

(५) **आशा रखना–**

हमको ईश्वर और उसका प्रेम अवश्य मिलेगा, यह आशा रखना और अपने साधन तथा निष्ठामें दृढ रहना। किसी भी हालतमें निराश न होना। प्रत्येक परिस्थितिमें ईश्वरकी कृपा और प्यार तुम्हें प्राप्त है। तुम्हारी दृढ़ता और आशा ही तुम्हें उत्साहित रक्खेगी और तुम अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकोगी।

(६) **समुत्कण्ठा–**

अपने लक्ष्य–प्रियतमकी प्राप्तिकी आशा पक्की हो जानेपर भी कोई प्रेमी या साधक चुपचाप नहीं बैठता। उसके मनमें बार-बार उत्कण्ठा होती है कि शीघ्रसे शीघ्र मेरे प्राण-प्रियतम मेरे अपने ईश्वर मुझे मिलें। इसके लिए चित्तमें तीव्र व्याकुलता होती है।

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि
प्रभो त्वदालोकनमन्तरेण,
अनाथबन्धो ! करुणैकसिन्धो !!
हा हन्त, हा हन्त कथं नयामि।

'स्वामी ! तुम्हारे दर्शन बिना मेरे ये दिन बहुत ही दुःखद हो रहे हैं। हे अनाथोंके नाथ ! हे करुणाके एकमात्र समुद्र ! हाय, हाय, इन्हें कैसे काटूँ ?'

'हे देव, हे दयित, हे भुवनैकबन्धो !
हे कृष्ण, हे चपल, हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ, हे रमण, हे नयनाभिराम !
हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे।'

प्यारे, तुम कब हमारी आँखोंकी प्यास बुझाओगे ?

न केवल व्याकुलता, लालसा भी और मनोराज्य भी !

'आज सखी जौं प्रीतम पाऊँ, तौ अपने बड़ भाग मनाऊँ॥
साँवरी सूरत नैन विशाला, चन्द वदन गल मोतियन माला।
रूप मनोहर चाल मराला, सुन्दरता पर बलि बलि जाऊँ॥
जौं प्यारो इन गलियन आवै, मो विरहिनकों दरस दिखावै।
बैठि निकट मृदु वचन सुनावै, मैं वाको हँसि कण्ठ लगाऊँ॥
'नारायन जीवन' गिरधारी, कब लैंगे सुधि आइ हमारी।
जब मोसौं वे कहैंगे प्यारी ! तब मैं फूली अँग न समाऊँ॥'

'मोपै कैसी ये मोहनी डारी रे चितचोर छैल गिरधारी ।
गृहकारजमें जी न लगत है, खान-पान लागै खारी ॥
निपट उदास रहत हौं, जबतें सूरत देखी तिहारी ।
संगकी सखी देत मोहिं धीरज, वचन कहत हितकारी ॥
एक न लगति कही काहू की, कहति कहति सब हारी ।
रही न लाज सकुच गुरुजनकी, तन-मन सुरत बिसारी ॥
'नारायन' मोहिं समुझ बावरी, हँसत सकल नर नारी ।'

फिर तो पूछने-कहने भी लग जाते हैं—

तुम कछु ऐसो जतन बिचारौ ।
जा विधि सों या अति बिरहिनिकों आई मिले ब्रजराजदुलारो ॥

और यत्न क्या है ?

(७) सर्वदा अपने प्यारे प्रभुका नाम-गान—

अपने प्रभुके अनेक नाम हैं, अनेक रूप । उनके साथ अपने सम्बन्ध भी सभी हैं । वही गुरु हैं, वही मित्र ।

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

'तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै ।'

भावसे चाहे जब, जिस नामसे, जिस रूपमें उसे पुकारो, पुकारते ही रहो । वह नाम लेते ही तुम्हारे हृदयमें प्रगट हो जायगा और तुम्हें न केवल तुम्हारे भावके अनुसार बल्कि उसे जैसी जँचेगी, वैसे ही वह तुम्हे प्यारके समुद्रमें डुबो देगा ।

(८) अपने प्रियतमके गुण-वर्णनमें—

ऐसी आसक्ति हो जाती है कि जानमें, अनजानमें, मौके-बेमौके वही मुखसे निकल पड़ता है । रोकनेपर भी नहीं रुकता है । क्योंकि उसके सिवा और कहीं सुखकी कल्पना ही नहीं होती—'अब न आँखितर आवत कोऊ ।' बल्कि वह तो इसके लिये तैयार रहता है कि—

'धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै,
रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो ।'

(९) अपने प्रियतमके निवास-स्थानमें प्रीति हो जाती है ।

अन्तिम दो बातें गुणवर्णनासक्ति और निवास स्थानमें प्रीति बहुत संक्षेपमें लिखी हैं, समय आनेपर फिर लिखेंगे ।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'मेरी चित्तवृत्ति ऐसी है कि सामने वालेको कैसे सुख पहुँचाऊँ ? इसे कैसे सुखके समुद्रमें डुबोऊँ ? परन्तु कभी-कभी किसी-किसीको दुःख पहुँच ही जाता है । तुम लोग आशीष दो कि मैं सबको राशि-राशि सुख उँड़ेलता रहूँ ।'

★ ★ ★

(२६)

वृन्दावन

परम प्रेमास्पद आत्मा !

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

तुम्हारा पत्र मिला । तुम्हारे विश्वास और सद्भावनासे प्रसन्नता हुई । तुम्हारे लिये मैं गीताका आधा श्लोक लिखता हूँ । इसमें मेरी आज्ञाका सार-सार निहित है । 'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्तोत्तिष्ठ परन्तप ।' बहादुर ! अपने हृदयकी क्षुद्र दुर्बलताका त्याग कर उठ खड़े हो । तुम्हारे जीवनमें एक ही दुर्बलता है और उसे स्वीकार करके तुमने अपना पथ प्रशस्त कर लिया है । दूसरी बातोंसे तुम्हारा मन विरक्त है ही । तुम शरीरको स्वस्थ और स्वावलम्बी बना लो । दूसरेके आधीन कबतक चलेगा ? आसक्ति ही पराधीनता है । मनमें प्रसन्नता और उत्साह भर लो । परमार्थका पथ अकेले ही पार करना पड़ता है । मेरे प्यारे मित्र ! बहुत दिनोंसे तुम्हारी बाट जोह रहा हूँ । जिस हीन भावनासे ग्रस्त होकर तुमने अपने हृद्देशस्थ स्वरूपभूत विज्ञान और आनन्दकी उपेक्षा की है, वह चिरकाल तक नहीं रहेगी । इस हीन भावनाकी अन्त्येष्टि कर दो कि मैं किसीके बिना नहीं रह सकता या मैं यह क्रिया या व्यक्ति नहीं छोड़ सकता । तुम शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मासे एक हो और मेरी आशा एवं उज्जवल कामनाओंके आलोक स्तम्भ हो ! *

तुम्हारा आत्मा—

अखण्डानन्द सरस्वती

*** व्रजमोहन, मुजफ्फरनगरको लिखा गया पत्र ।**

(२७)

वृन्दावन

परम प्रेमास्पद आत्मा !

मैं तुम्हारा आत्मा ही हूँ और तुम्हारे हृदयमें बैठकर सुखी-दुःखी हुआ करता हूँ। जीवमात्रका सबसे अधिक प्रेम अपने आत्मासे ही हुआ करता है। तुम सब मेरे आत्मा ही हो, इसलिये परम प्रेमास्पद हो। मैं जानता हूँ कि अब तुम्हारा मन पहलेसे अच्छा है, वह अधिक एकाग्रताके साथ परमात्मामें लगता है। संसारी लोगोंका मन संसारके विषयोंके बारेमें जैसे उधेड़-बुन करता रहता है, वैसे ही तुम्हारा मन परमात्माके विषयमें। यह सच है कि बिना किसी सहारेका मन भटक जाता है। दृढ़ आलम्बन प्राप्त होनेसे मन शान्त हो जाता है। तुम्हारा मन कृष्ण-प्रेमकी उच्च अवस्थाओंका अनुभव करता है, यह मेरे लिये कितनी खुशीकी बात है ! असलमें तुम्हारे सुख-सौभाग्य और उन्नतिकी बात सुनकर अपना हृदय एक गौरवका अनुभव करता है।

तुम्हारा शरीर ठीक होगा। तन-मनका ख्याल पूरा रखना चाहिये। संसारके सारे व्यवहार इन्हींपर चलते हैं। इनके खराब होनेपर संसारमें कोई सुख नहीं दे सकता। अपना स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक रखना। एक बात तुम मेरी जरूर मानोगी—वह यह कि अपने पतिदेवको खूब-खूब प्रसन्न करके अबकी ले आना। तुम्हारी प्रेमपूर्ण सेवा, ममता-आत्मीयताकी ऐसी छाप उनपर पड़नी चाहिये कि धारणा ऐसी हो जाय कि जो सत्संगमें जाता है, उसका हृदय और प्रेमपूर्ण हो जाता है। आजकल लोग इस बातसे डरते हैं कि कहीं सत्संगमें जानेसे इसका प्रेम मेरे प्रति घट न जाय। इसका मौका नहीं देना चाहिये। सबको ऐसा ख्याल बनानेका मौका देना चाहिये कि सत्संगमें जानेसे और परस्पर प्रेम बढ़ता है, घर सुधरता है, जीवन पवित्र और सुखी होता है। इस तरह जो काम हम वर्षोंमें नहीं कर सकते, सत्संगमें आने वाले लोग अपने सद्व्यवहार और सद्भावनासे शीघ्र कर सकते हैं।

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'अपने मनकी प्रधानता रखनेकी बात दुःखकी जननी है। अपनी जिद छोड़नेकी आदत डालनी चाहिये। फिर कभी रोना नहीं पड़ेगा।'

★ ★ ★

परम प्रेमास्पद आत्मा,

.... धर्म और ईश्वरविश्वास में बड़ी शक्ति है। तुम प्रेमपूर्ण हृदय से ईश्वर-प्रार्थना करो, वह अवश्य सफल होगी। पति की सास की और दूसरों की सेवा करते समय उनमें भी ईश्वर का ही दर्शन करना चाहिये। उनका आज्ञा जितनी धर्म के अनुकूल हो, उत्साह से स्वीकार करना चाहिये। घर के प्रबन्ध और सफाई का ध्यान स्वयं रखना। बच्चों की सार-सँभाल नौकरों पर नहीं छोडना। उनसे बहुधा बच्चे बिगड़ते ही हैं। सब काम प्रसन्न मनसे करना। ईश्वरका-अपने मनुष्य ईश्वरका भी ध्यान करना और नाम-जप करना। काम करते समय भी नाम लेना। इससे चित्त में पवित्रता आती है। घरमें अगर कोई तुम्हारी रुचि के विपरीत हों- उनकी भलाई ही चाहना। अपने दिल में किसी के प्रति भी द्वेष नहीं पालना। द्वेष तो आग है- वह जिसके दिल में रहता है, उसी को जलाता है। भगवान् को मीठा-मीठा दिल पसन्द है, इसलिये उसमें कडवाहट कभी नहीं आनी चाहिये।

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

जो जागते हुए पुरुषका दूर चला जाता हैं और सोते पुरुषका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्मा के साक्षात्कारका प्रधान साधन है, वह मेरा मन शुभ संङ्कल्प से युक्त हो।

★ ★ ★

(२८)

परम प्रेमास्पद आत्मा,

सस्नेह शुभाशीर्वाद !

१. अपने पास खुशीका एक खजाना होना चाहिये। जो भी अपने सम्पर्कमें आये, उसको सुखकी भेंट देकर विदा करना चाहिये।

२. दुःख कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये। सब दुःखोंका अन्त सुख ही है। पता नहीं, कौन-सा दुःख किस सुखकी भूमिका हो ?

३. अपने आस-पासके सभी व्यक्तियोंकी कुछ न कुछ सेवा अपने शरीरसे हैं अवश्य होनी चाहिये।

४. अपने लिये किसी भी दूसरेकी सेवा अपेक्षित न हो। अपने सब काम स्वावलम्बीपनको पुष्ट करें।

५. दूसरे सभी हमारे उपकारसे दबे रहें। हमें किसीका एहसानमन्द न होना पड़े।

६. झिड़कने या ताना मारकर बोलनेकी आदत बिलकुल न पड़े। मुस्कराकर सरल भावसे बात करनी चाहिये।

तुम्हारा—
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(२९)

आदरणीय स्वामीजी,

ॐ नमो नारायणाय ।

आपका पत्र मिला, आनन्द हुआ । आपका प्रश्न और उसका उत्तर नीचे दे रहा हूँ । आशा है, इससे आपका समाधान होगा ।

प्रश्नः— 'यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या,
चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि ।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं ।'

श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें वर्णित गुण-कर्ममलसे क्या तात्पर्य है ? क्या कर्मका मल कर्तापनका तथा गुणका मल भोक्तापनका अभ्यास है या कोई और है ? तथा भोक्तापनसे रहित ही विशुद्ध चित्त है, जिसमें आत्मतत्त्व ज्ञाता-ज्ञेयसे रहित अद्वय स्वयंप्रकाशरूपसे उपलब्धिमात्र ब्रह्मस्वरूप है ? उपासनासे मलनिवृत्ति और आत्मतत्त्वकी उपलब्धि कैसे होती है ?

उत्तरः—१. एषणात्रयका संन्यास करके श्रीहरिचरण (सच्चिदानन्दघन ब्रह्मतत्त्व) की प्राप्तिकी एषणा ही एकमात्र उपासना है । इस एषणामें अविद्याको निवृत्त करनेका सामर्थ्य नहीं है, केवल चेतोमलकी निवृत्तिका सामर्थ्य है ।

२. चेतोमल दो प्रकारके हैं :—गुणज अर्थात् प्राकृत पदार्थोंमें अहंतारूप और कर्मज अर्थात् सुख-दुःखादि पदार्थोंमें ममतारूप ।

३. पूर्वोक्त उपासनासे प्राप्य भगवत्पदार्थका अनुसन्धानरूप 'तत्' पदार्थका शोधन होता है और 'त्वं' पदार्थके अन्तःकरणमें स्थित दोषोंकी निवृत्ति होनेसे उसका भी शोधन होता है; क्योंकि एषणारूपा उपासना एक ओर तो इष्टकेस्वरूपकोप्रकाशित करती है और दूसरी ओर अन्यविषयक इच्छाओंको निवृत्त भी करती है ।

४. उपलब्धि केवल प्रमाणके द्वारा होती है, श्रद्धा या भावसे नहीं । इसलिये उपासनामें आवरणभंगका सामर्थ्य नहीं है । इसीसे उपासनाके द्वारा पूर्णतया कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी निवृत्ति नहीं हो सकती है । उनकी निवृत्तिके लिये 'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थका शोधन भी पर्याप्त नहीं है । उसके लिये तो आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान होना चाहिये । आवरण पदार्थत्वपर नहीं, ब्रह्मत्वपर है; इसलिये उपासना द्वारा शुद्ध अन्तःकरणमें महावाक्यके द्वारा

उत्पन्न विद्या ही अविद्याको निवृत्त करती है। अविद्या निवृत्त होनेसे उसके कर्म अपने-आप ही निवृत्त हो जाते हैं। उपर्युक्त श्लोकमें उपलब्धिका अर्थ विद्या है और आत्मतत्त्व है ब्रह्माभिन्न प्रत्यक्-चैतन्य।

आपका अपना ही,
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

प्रेम-प्रेम क्यों बक्त नेम बिन प्रेम कहाँ है?
नेम क्षेम को हेतु, काम को नाश तहाँ है।
अपनी हठ को तजो, भजो वृन्दावन-मोहन।
सजो शुद्ध श्रृंगार, करो अन्तरतम सोहन।

अन्तस्तल की भावना, शुद्धि सु उसे पसन्द हैं।
इसी वस्तु से रीझता श्री वृन्दावनचन्द है।

(३०)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

आज जन-साधारणकी रुचि इतनी भोगपरायण होती जा रही है कि कोई किसी प्रकारका अंकुश माननेको तैयार नहीं है। सबसे बड़ा दुःख तो इस बातका होता है कि जो अपना हित-अनहित समझ सकते हैं, वे ही अधिक नाश करते हैं। भोग धर्मके अनुकूल और अपने हकका होनेपर भी एक सीमातक ही हितकारी होता है। उदाहरणार्थ—अपने घरमें खूब स्वादिष्ट और प्रचुर मात्रामें भोजन बना हो, अपने हकका हो, तब भी उसे खाना उतना ही चाहिये जिससे स्वास्थ्य खराब न हो— अपने घरके नित्यकर्ममें बाधा न पड़े। अपना मानकर इतना खा लिया कि फिर दवा, उपवासकी शरण लेनी पड़े, शरीर उसी भोगके अयोग्य हो जाय तो फिर क्या समझदारी की ? इसलिये भोग और कर्मपर कुछ न कुछ नियन्त्रण अवश्य होना चाहिये।

हमने गृहस्थोंके घरोंमें देखा है, बहुत थोड़ी उम्रमें आधे दर्जन बच्चोंके माँ-बाप ! रोगग्रस्त और अत्यन्त निर्बल। श्रीहीन और प्रेमहीन। रोगी शरीरसे तो कोई प्रेम भी नहीं कर सकता। अपनी ही उलझनें बढ़ जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि भोजन बिलकुल ही छोड़ देना चाहिये; बल्कि इसका अभिप्राय यह है कि अपने ऊपर एक नियन्त्रण जरूर स्वीकार करना चाहिये।

क्या संसारमें कोई भी मनुष्य अपने मनकी सब इच्छाओंके अनुसार कर्म, भोग या संग्रह कर सकनेमें समर्थ है ? यदि नहीं, तो यह सोचना पड़ेगा कि कौन जरूरी और कौन गैरजरूरी ? कौन आगे और कौन पीछे ? कौन कितना उचित और कौन कितना अनुचित ? इसी विचारका नाम धर्म-विचार है। और इसे अपने जीवनमें उतारना धर्मात्मा होना है। सब काम हों—एक कायदेके भीतर !

परमार्थके रास्तेमें चलनेका यह अर्थ नहीं है कि सामान्य जीवन-निर्वाहके काममें बाधा डाली जाय। खाना, कपड़ा, स्वास्थ्य, मकान और इनके लिये पैसाभी सभीको चाहिये। इतनी आवश्यकताओंके रहते हुए कुछ कर्म अवश्य करने पड़ेंगे। थोड़ा समाज और साथियोंका दबाब भी मानना पड़ेगा। कोई दुनियाँमें अकेला नहीं चल सकता। परस्पर एक दूसरेका सहारा लेना ही पड़ता है। इसलिये इस जीवनमें सभी काम करने पड़ते हैं और करना चाहिये भी;

किन्तु अपने तन, मन, जीवन, सौन्दर्य, यौवन, सदाचार, सम्पत्ति, सामर्थ्यकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। उसका सदुपयोग हो—दिया भी ईश्वरने इसीलिये है; परन्तु दुरुपयोग न हो। हम सभी गृहस्थोंको यह बात बतलाते हैं। हमारी जानकारीमें कई ऐसे गृहस्थ हैं, जो इतना नियमित जीवन बिताते हैं कि उनको देखकर साधुओंको भी ईर्ष्या हो जाय। गृहस्थको जिस कर्म या भोगसे सुख मिल सकता है या मिलनेकी आशा है, वह अधिकसे अधिक टिकाऊ हो—इसका तो ख्याल रखना चाहिये।

जिस कर्मके प्रारम्भमें वासनाकी अधिकता, करते समय बेहोशी और बादमें ग्लानि होती है, उसमें कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रहती है, इसे सुधारना चाहिये। सबका भला हो और सब प्रसन्न रहें; परन्तु उनकी भलाई और प्रसन्नताका जो स्रोत है, वह कहीं सूख न जाय।

जो भी तुम्हारा हित और सुख चाहता है, वह अवश्य ही तुम्हारा ध्यान रखेगा। मै अपनी बात जानता हूँ, मेरा रोम-रोम तुम्हारे सुख-समृद्धि और कल्याणका आकांक्षी है।

आपका अपना ही,

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'विश्वास ही प्रेमका प्रहरी है।'

(३१)

वृन्दावन

परम प्रेमास्पद आत्मा !

मैं साधुवेशमें हूँ। आजकल लोग साधुओंको ढोंगी और ईश्वर, धर्मपर श्रद्धाको बेवकूफी मानते हैं। मेरे पास कोई संसारी समाचार लिखनेको है नहीं। मैं धर्म, ज्ञान और राधाकृष्ण प्रेम पर ही लिख सकता हूँ। अब तक मैंने हजारों पन्ने काले किये हैं। तुम दानोंकी जितनी उम्र है, छब्बीस-सत्ताईस वर्ष उससे अधिक तो मुझे ब्रह्मचारी और संन्यासी अवस्थामें बीत गया। अब मैं चाहता हूँ कि अपने इष्टदेवके प्रेमकी बातको छोड़कर और कुछ न लिखूँ। चिट्ठी तो तुमको लिखूँगा ही।

एक दिन उद्धवजीने गोपियोंसे कहा—'अरी गोपियो ! तुम्हारा प्रेम देखकर तो मैं स्तब्ध हो गया हूँ। तुम आज्ञा करो तो कृष्णको आज ही मथुरासे ले आऊँ।' गोपियोंने कहा—'उद्धवजी ! कृतज्ञ हैं आपकी हम; परन्तु आप ऐसा कभी न करना। आप यह तो जानते ही हो कि उनके मिलनसे, दर्शनसे हमें कितना सुख मिलेगा। हमारे रोम-रोग तो उसीके लिये आकुल-व्याकुल हैं। प्राण तड़फड़ा रहे हैं, दिल उसीके पास पहुँचनेको उछल रहा है, आँखें छलक रहीं हैं, अंग-अंग टूटते हैं; परन्तु यदि हमारे प्यारेको यहाँ आनेमें कोई हानि उठानी पड़ती हो तो वे यहाँ कभी न आयें। हम जन्मभर घुल-घुलकर मर लेंगी और मरेंगे भी नहीं, क्योंकि जब हमें ख्याल आता है कि हमारी मृत्युका समाचार सुनकर हमारे प्रियतमको कितना कष्ट होगा तो हमारे मरनेकी इच्छा भी मिट जाती है। हम जियेंगी, अपने प्रियतमको किसी मुसीबतमें फँसने नहीं देगी। दुःख तो प्रेमीके लिये वरदान है। तुम उन्हें मत लाना। क्या प्रियतमको हमारे पास लानेके लिये तुम्हारी जरूरत पड़ेगी ? वे तो स्वयं आनेके लिये व्याकुल होंगे। आयेंगे और जरूर आयेंगे। उनकी विवशताका दुःख, आनेपर जोर देकर बढ़ाना उचित नहीं है।'

इस संवादमें प्रेमके रहस्यको स्पष्ट किया गया है। एक तो अपने इष्टदेवका सुख ही अपना सुख है। उनकी अनुकूलता ही अपनी अनुकूलता है। जहाँ तक हो सके उनकी सुविधा ही देखनी चाहिये। अपने सुखके लिये उनकी मानसिक उलझन नहीं बढ़ानी चाहिये। दूसरी बात है, अपनी ओरसे कुछ नहीं चाहना। यही प्रेमका प्राण है।

'एक दिन गोपियोंने श्रीकृष्णकी बाँसुरीसे पूछा—'सखि तुम्हारे अन्दर ऐसी क्या विशेषता है कि श्रीकृष्ण तुम्हें इतना प्यार करते हैं, अधर-सुधारस पिलाते हैं, छातीसे लगाते हैं, हाथमें रखते हैं और अपने स्वर भरते हैं। हमें अपना कुछ रहस्य तो बताओ !' बाँसुरी बोली—'सखियो वैसे मेरी जाति भी ऊँची नहीं, नीरस, रुखी गँठीली, मुँहजली भी हूँ; परन्तु मैं भीतरसे पोली हूँ। न मेरा अपना राग, न स्वर, न प्राण। जो वे खुश होकर भर देते हैं, मैं वही गाती बजाती हूँ। उनका स्वर ही मेरा स्वर, उनका राग ही मेरा राग और प्राण ही प्राण हैं। शायद मेरे इसी गुणसे वे मुझपर रीझ गये हों।'

प्रेममें अपने प्रियतमकी इच्छा ही अपनी हो जाती है। जो अपनी जिद अपने प्रियतमपर चलाये, वह क्या प्रेमी ? तीसरी बात है—प्रेममें विश्वास। 'वे मुझसे बहुत प्रेम करते हैं'—बस, यह विश्वास ही प्रेमीका जीवन है। इसके बिना तो वह मर ही जायगा। जब गोपियाँ कहती हैं—'वे जरुर आयेंगे', तब उनका कितना विश्वास प्रकट होता है ! असलमें 'मैं प्रेम करता हूँ'—ऐसा सोचना प्रेम नहीं है, इससे तो अभिमान ही बढ़ता है। 'वे मुझसे प्रेम करते हैं'—ऐसा भाव प्रेमभें बहुत आता है। यह विश्वास सम्बन्धको गाढ़ा करता है। सम्बन्धसे ममता और ममताकी पराकाष्ठा ही प्रेम है।

१—प्रियतमका सुख ही अपना सुख है।

२—हमें अपने लिये उनसे कुछ नहीं चाहिये।

३—वे मुझसे बहुत प्रेम करते हैं ?

यह तीन बातें उस संवादमें हैं।

आपका अपना ही,

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(३२)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

एक बार ललिता सखीने श्री राधासे पूछा–'सखी, श्रीकृष्णसे तुम्हारा इतना प्रेम क्यों, कैसे है ?'

राधा–'मुझमें तो उनसे बिलकुल प्रेम-गन्ध भी नहीं है ।'

ललिता–'तब तुम उनके विरहमें इतनी रोती, कलपती, तड़पती क्यों हो ?'

राधा–'केवल अपने प्रेमका विज्ञापन करनेके लिये ।'

ललिता–'सर्वथा अविश्वसनीय ।'

राधा–'नहीं, नहीं, सहेली ! विश्वास करो ! उनकी प्यारभरी चितवन और मन्द-मन्द मुस्कानसे युक्त मुखच्छटा देखे बिना मैं उन प्राणोंको पाल रही हूँ, जो क्षण-क्षण पीड़ा पहुँचाते रहते हैं । क्या यही प्रेमके लक्षण हैं ?'

★ ★ ★

एक दिन राधा-कृष्ण साथ बैठे थे । राधारानीके मुखचन्द्र पर कुछ उदासी थी । श्रीकृष्णने पूछा–'मेरी प्राणोंकी प्राण, हृदयेश्वरी ! मेरे सामने रहते रहते यह उदासी क्यों ? आमने-सामने रहते मुखकमलका इस तरह मुरझाना तो उचित नहीं है ! कभी पहले ऐसा नहीं हुआ ।'

राधारानी–'अभी थोड़ी देर पहेलेकी ही तो बात है, मैं पत्नी और तुम परम पति-यहभेद हम दोनोंमें नहीं था । मनोवृत्तिका लोप हो गया था । 'तुम-मैं' का भेद भी मिट गया था । केवल एक, उसे 'तुम' कहो या 'मैं', वही था । अब साफ मालूम पडता है कि तुम अलग हो और मैं अलग । दोनों आमने-सामने बैठे हैं । हमारी साँस अलग-अलग चल रही है, अधर अलग-अलग सूख रहे हैं । हाँ ! मेरे इष्टदेव ! हमारे कपोलकी त्वचा अलग-अलग जल रही है । वह भोजन, वह रस ! हाय, आज धड़कनकी यह दूरी ! फिर भी प्राण चल रहे हैं । इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा ?'

★ ★ ★

ललिता सखीने पूछा—'स्वामिनी किशोरी, तुम्हारा और श्रीकृष्णका सम्बन्ध क्या है ? क्या वे प्यारे, तुम प्यारी हो ?'

राधा—'सखि पहले ऐसा ही था; परन्तु अब वैसा नहीं है। मिलनकी तीव आकांक्षाने प्रेमरससे सींच-सींचकर दोनोंके मनको इतना कुचला है कि मन ही दो नहीं रहे। आत्मा तो दो तब होते हैं—जब मन दो हों। दो में सम्बन्ध होता है। एक में सम्बन्ध का क्या प्रश्न ?'

अपने परम प्रेमास्पद आत्माको बार-बार सहज अकृत्रिम और अद्वैत प्रेम सहित-

तुम्हारा—
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★



(३३)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

सस्नेह शुभाशीर्वाद ।

मानसी पूजामें तन्मयता अधिक होनेके लिये केवल प्रेम और सम्बन्धकी गाढ़ता मात्र चाहिये । वैसे तो जो भी क्रिया, वस्तु या भाव अपने इष्टदेवको प्रिय लगता दीखे, वही मन ही मन अपने इष्टदेवको अर्पण करना चाहिये अपनी और उनकी रुचिको एकमें मिलाना चाहिये । जैसे लौकिक व्यवहारमें पति-पत्नी अथवा प्रिया-प्रियतम एक-दूसरेमें तन-मन मिलाकर रखते हैं, रहते हैं, खाते-पीते हैं, ठीक वैसे ही मनमें इष्टदेवकी मानसी पूजा करनी चाहिये । यदि मानसी पूजामें इष्टदेवके सम्बन्धमें ऐसा भाव बने कि जैसे मैं अपने प्रभुके दर्शन और प्रेमकी प्यासी हूँ, वैसे ही मेरे प्रभु भी मुझसे प्रेम करते हैं, मुझसे कई गुना अधिक करते हैं । वह देखो, बाँहें फैलाये, प्यासी चितवनसे देखते हुए, अपने हृदयमें छिप जानेके लिये मुझे इंगित कर रहे हैं । उनके हृदयमें तड़प और छटपटी है ! उनका रोम-रोम मुझे प्रणय-आमंत्रण दे रहा है ! उनकी आँखोंमें प्रेमकी मस्ती है, वे प्रेमके आनन्दमें मग्न हैं, इत्यादि, तो अवश्य ही अपने इष्टदेवमें तन्मयता बढ़ेगी । भक्तिभावका यह स्वभाव ही है कि वह अपने प्रभुका वात्सल्य अनुभव करनेसे बढ़ता है ।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(३४)

परम प्रेमास्पद आत्मा,

सप्रेम शुभाशीर्वाद !

पक्षियोंके संसारमें सारस और चकई (चक्रवाक) दोनों ही प्रेमके रूपमें प्रसिद्ध हैं। सारस युगल सदा साथ रहते हैं। बिछुड़नेपर मर जाते हैं। चक्रवाक युगलको प्रतिदिन रात्रिमें विरह-दुःख सहन करना पड़ता है। संयोग और वियोग दोनों ही प्रेमके दो पहलू हैं।

सारस चकईके प्रेमपर शंका करता है—'अरी ओ चकई, तुम और तुम्हारे प्रियतमके बीचमें सरोवर, देश, काल आदि आ जाते हैं, सारी रात अलग रहना पड़ता है; फिर भी तुम्हारे घटमें प्राण रहते हैं। तुम्हें अपनेको प्रेमियोंकी कक्षामें बैठाते शर्म नहीं आती ? तुम्हारे प्राण प्रियतमके वियोग-दुःखसे तड़पकर निकल क्यों नहीं जाते ?'

'सारस मन सन्देह प्राण घट रहै जु चकई।'

चकई सारसकी बात सुन, उसपर तरस खाकर बोली—'अरे सारस, तुझे प्रेमका मर्म मालूम नहीं है। यदि कभी तुम दोनोंको विरह होता—तू विरहके दुःखको समझ सकता-तुझे क्षणभर भी विरह-दुःखमें चकईकी तरह अग्नि-पान करना पड़ता, तो तू समझ पाता कि प्रेम कैसा होता है। तू तो विरह होते ही मर जाता है। विरहमें धैर्य धारण करनेके लिये कितनी शक्ति चाहिये, इसे तू क्या जाने !'

निकट कंत नित रहत मर्म कहा जानै सारस ?'

(पद बड़े हैं इसलिये पूरे नहीं लिखे।)

श्रीराधा-कृष्णके प्रेममें केवल देशकी, समयकी, अवधिकी दूरीसे ही वियोगका दुःख नहीं होता, बल्कि वहाँ तो—

'मिले अनमिले रहत बिबि (दोनों), अंग-अंग अकुलाय।
मिलनहि बिरह स्वरूप जहां, सो रस कह्यो न जाय॥
अद्भुत रुचि सखि प्रेमकी, सहज परस्पर होइ।
जैसे एकहि रंग से, भरिये शीशी दोइ॥

श्याम रंग श्यामा रंगी, श्यामाके रंग श्याम।
एक प्रान तन मन सहज, कहिबे को दोउ नाम॥
कबहुं लाड़िली होत प्रिय लाल प्रिया है जाय।
नहिं जानत यहि प्रेम-रस निसि-दिन कहां विहाय॥

एक युगल प्रेमी चकोर और चन्द्रमाकी प्रीतिको पूर्ण बनानेके लिये क्या चाहता है, इसका नमूना देखो—

प्रीति रीति कैसे कहि आवै।
करि विचार हिय हार रहते हौं, क्यों हूं मन न समावै॥
चंद्रहि रहत एक टक देखत, सो जग धन्य चकोरी।
टूटै सीस दीठ नहिं छूटै, तदपि प्रीति अति थोरी॥
तन-मन होइ चकोरी चंदा, शशि है शशि छबि पीवै।
तौ कछु स्वाद और ही पावै, पियत जु प्यासी जीवै॥
तद्यपि प्रीति इकंगी कहिये, जहां न प्रेमी दोऊ।
उधरहि रस जो चकोरहि इक-टक चाहै चंदा सोऊ॥
है चकोर, वह चहैं चकोरहि, यह चंदा, वह चंदहिं।
छिन-छिनमें तन पलटैं दोऊ, अरुझि प्रेमके फंदहिं॥
याको वामें वाको यामें पलटि-पलटि हित पावै।
छिन-छिन प्रेम पयोनिधि संगम, अधिक-अधिक अधिकावै॥
ज्यों द्वै दरपन बीच दीप की, अगनित आभा दरसै।
द्विगुन, चौगुनो, फेरि अठगुनो, त्यों अनन्त हित सरसै॥
अनु प्रमान अनुमान कह्यो, यह प्रीति बात कछु औरै॥
ताकी थाह कौन अवगाहै, दूरहि ते मति बौरै॥
'भोरी हित' जब ब्रवहिं ब्यास-सुत गूंगे लौं गुर खाऊँ।
रोम रोम भरि रहैं मिठाई, ना कछु कहौं, कहाऊँ॥

अभी इतना ही
तुम्हारा-
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(३५)

परम प्रेमास्पद आत्मा,

सप्रेम शुभाशीर्वाद !

मन कृष्णके चिन्तनमें । कोई चिन्ता नहीं । सब जगह उनका हाथ है । सब कुछ उनकी आँखोंके सामने ही है । वे प्रसन्न हैं । उनकी कृपा और प्रीतिसे मैं सराबोर हूँ । मैं सच कहता हूँ—इस संसारमें मेरा कहीं किसीसे कोई राग-द्वेष नहीं है । जो निन्दा करते हैं, उनका भी मैं भला ही चाहता हूँ; जो मुझसे प्रेम करते हैं, उनके प्रति भी मेरे मनमें कोई आसक्ति नहीं है । मैं कभी-कभी आत्मनिरीक्षण करता हूँ कि मैं संसारकी कौन-सी वस्तु, व्यक्ति या स्थान नहीं छोड़ सकता ? मैं कृष्णके सामने मन ही मन उनके चरण अपने हृदयपर स्थापित करके सत्य शपथपूर्वक कहता हूँ कि मैं कृष्णके सिवाय और सबको छोड़ सकता हूँ । उनके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये ।

यह इतनी-सी बात है जिसके कारण मुझे संसारमें किसी बातका भय नहीं लगता । जो होना हो सो हो जाय, जो कोई कुछ कहे सो कह ले । मैं अपने श्यामको अपने हृदयमें बैठाकर निर्द्वन्द्व हूँ ।

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(३६)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

कभी कोई बात करनी हो तो प्रेमसे हँसते-हँसते ही करनी चाहिये। बार-बार तानेकी ध्वनि नहीं होनी चाहिये। मनुष्यके मनमें जब किसीसे प्यार, मिठास और आदर पानेकी इच्छा होती है और उस समय ताना मिलता है, तो कभी-कभी बहुत गहरी चोट कर जाता है एवं जिद् भी बढ़ती है। अपनी ओर से शहद घोलकर बोलो। सेवा भी करो। धर्मके विरुद्ध न हो तो आज्ञा भी मानो; परन्तु अपने मार्गपर दृढ़ रहो। इसीमें—जिस मार्गपर हम चल रहे हैं—वह सुगम होगा। अपनी आदत भी तो ताना मारकर बोलनेकी नहीं होनी चाहिये। एक मेरे मित्र-शिष्य थे। वे प्रतिदिन किसी न किसीसे लड़ते। जब कोई दूसरा न होता तो मुझसे ही लड़ते। तो आदत हमेशा अच्छी ही डालना चाहिये।

प्रिय तू मधुर-मधुर बोल।

ललित-ललित लोचन, मन्दस्मितसे विषमें रस घोल।

मनुष्यका मन विकारोंसे भरा है। इसकी निवृत्तिके लिये संस्कारोंकी जरूरत होती है। उच्छृंखल काम-वासनाको नियमित करनेके लिये विवाह संस्कार होता है, भोगके लिये नहीं। अनेकको ओरसे मन रोकनेके लिये एकसे बन्धन। जिस एकमें बँधना होता है, उसमें महत्त्वबुद्धि करना चाहिये। जिससे मनुष्य कुछ अपने मनकी प्रतिकूलता सहकार भी एकसे बँधा रहे। मां-बाप-ईश्वर, पति -ईश्वर, गुरु-ईश्वर, राष्ट्र-ईश्वर—यह सब ईश्वर श्रद्धा-सेवा करनेके लिये हैं। अपना परम प्रेमास्पद सच्चा परम पति ईश्वर ही है। ईश्वरदृष्टिसे ही प्रेम करना चाहिये। प्रेम-समुद्रमें उन्मज्जन-निमज्जन ही ईश्वरानुभूति है।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

• • •

(३७)

परम प्रेमास्पद आत्मा,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

श्रीकृष्णका स्मरण-सेवन हो रहा है । इस जीवके लिये और कोई सहारा नहीं है । मेरे प्यारे प्रभुकी ममता और प्यार सदा ही मुझे प्राप्त है । तुम भगवान्‌का भजन करना । रास्तेमें कभी नियम पूरे न हो सकें तो दुःखी मत होना । अपने तन-मनकी सम्हाल रखना । कभी अपनेको दीन असहाय मत मानना ।

पति और बच्चेके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही हैं । उनकी सेवा प्रसन्नतासे करनी चाहिये । लौकिक कर्तव्य धर्म है । भगवान्‌की सेवा परम धर्म है । चिन्ता मत करना । स्वास्थ्य ठीक रखना । शक्तिसे अधिक श्रम मत करना । आहार-विहारमें संयम रखना । भोग न भोगनेका नाम धर्म नहीं है; इन्द्रियोंको काबूमें रखकर भोग भोगना भी धर्म ही है ।

तुम सब तरहसे सुखी हो—प्रेमी पति है, सम्पत्ति है, बच्चे हैं, भक्ति है, धर्ममें प्रीति है । तुम्हें और क्या चाहिये ? मनको प्रसन्न रखना । इसीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं । एक बार किसीने पूछा—'कैसे जानें कि भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं ?'

महात्माने कहा—'तुम अपनेपर प्रसन्न हो या नहीं ? असलमें तुम्हारी आत्माके रूपमें ही भगवान् हैं, तुम और वह एक हैं । तुम प्रसन्न हो तो वह प्रसन्न हैं ।'

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'एक महात्मासे मैंने कहा कि अमुक व्यक्ति निन्दा करता है । वे बोले—भाई, निन्दा करनेवाले से उतना दुःख नहीं मिलता जितना कि निंदा करनेवाले की सूचना देनेवालेसे मिलता है । बुरा निन्दक नहीं, निन्दकका सन्देशवाहक है । सबसे अच्छा है—निन्दा सुनो ही नहीं ।'

★ ★ ★

(३८)

परम प्रेमास्पद

प्रसन्न रहो ।

घर-गृहस्थीका सुख ही यही है कि परस्पर सद्भावना, विश्वास और प्रेमकी वृद्धि हो । इसीसे घरमें सुख-समृद्धिकी वृद्धि होती है ।

मैं हूँ मेरे पास, मेरे दिलमें मेरे ईश्वर हैं । संसारकी कोई फिक्र नहीं, जिक्र नहीं । मस्ती ही मस्ती हैं । तुम सब भी मस्त रहो ।

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'मैं तो सेवा लेनेका आदी हो रहा हूँ । मेरे रोम-रोमको वे ही तर और तृप्त करते रहते हैं । उनका प्रेम और स्मृति ही अपना जीवन है । उन्हें भी मेरे सिवा और क्या सुहाता है ?'

★ ★ ★

(३९)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

इस जीवनको सुखी बनानेके लिये श्रीकृष्ण-प्रेम ही सर्वोपरि है । मुकुन्द ही आनन्दकी एकमात्र निधि है । सर्वदा भजन करना । इसके साथ ही अपने कर्त्तव्योंकी उपेक्षा भी मत करना । गुरुजनोंके चित्तका भी ध्यान रखना । घरके लोग, प्रसन्न रहेंगे तो एकाग्रता और रस बढ़ेगा ।

मैं अपने पूर्ण हृदयसे तुम्हें और तुम्हारे पास-पड़ोससे भी सुखी देखना चाहता हूँ ।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'मनका निरोध करो, विरोध नहीं । निरोधसे शान्ति आती है, विरोध दुःखका जनक है । निरोध होता है अभ्यास और वैराग्यसे ।'

★ ★ ★

(४०)

परम प्रेमास्पद आत्मा,

यह मार्गशीर्ष है। इसी मासमें गोप कुमरियोंने व्रत किया था श्यामसुन्दरकी प्राप्तिके पश्चात् सेवाके अतिरिक्त और कुछ कर्तव्य नहीं रहता। अपने प्रियतम प्रभुसे सम्बन्ध होनेके बाद उनके प्रति काम भी उन्हें सुख पहुँचानेकी एक साधना-सेवा है। संसारी-संबंध अपने सुखके लिये होता है, प्रेम अपने प्रियतमको सुख पहुँचानेके लिये।

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

'एक महात्माने मुझे साधन बतलाया। मैंने कहा कि यह तो मेरे लिये बड़ा कठिन है। वे बोले--'कठिन' और 'सुगम' शब्द तो आलसी व्यक्तिके लिये हैं। तुम तो युवक हो, जिज्ञासु हो--'युवा आशिष्ठो दढ़िष्ठः।' इसलिये निरुत्साह मत होओ!'

★ ★ ★

(४१)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

'धर्म' शब्दका सम्पूर्ण अर्थ है मन और इन्द्रियोंको वशमें रखना। उनके वशमें अपनेको कर देना अधर्म है। इसी सिद्धान्तको दृष्टिमें रखकर सारे मजहब बने हैं। देश, जाति, परिस्थिति, आचार्य आदिके भेदसे उनकी प्रक्रिया-तरीकेमें भेद हो जाता है, सिद्धान्तमें नहीं। कोई मजहब मनमानी करने की छूट नहीं देता। जो धर्मसे छुट्टी ले लेता है, वह अपने जीवन, समझदारी और सुखसे हाथ धो बैठता है; क्योंकि वह तो बेरोक-टोक नशेमें चूर होकर अपनेको गढ़ेमें गिरने देगा। उसका कोई ठिकाना नहीं रहता कि वह कहाँतक अपनेको नीचे ले जायगा। इसलिये अपने जीवनको धर्मके बन्धनमें बाँधना दुःख, बेवकूफी और मृत्युसे मुक्ति पानेका पथ है।

जो शास्त्र नियम तोड़नेकी स्वीकृत दे, वह शास्त्र नहीं। जो गुरु विषय-वासनाके मार्गमें ले जाय, वह गुरु नहीं। जो पति पतिव्रत-धर्मसे च्युत करे, वह पति नहीं। जो अपना प्रेम स्वीकार न करे, वह कृष्ण ईश्वर नहीं। जिससे अज्ञान न मिटे, वह ज्ञान नहीं। यह सारे सम्बन्ध ही धर्मके हैं। यदि ये स्वयं ही धर्मका विरोध करें तो उनसे सम्बन्ध रखना ही निरर्थक हो गया। सारी धर्मकी प्रक्रिया अपने परम पति-परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये हैं—यह नहीं भूलना चाहिये।

धर्म पालन ही मनकी निर्मलता है, क्योंकि धर्मसे नब्बे प्रतिशत बुरे विचार छूट जाते हैं; परन्तु उपासना इससे भी आगे ले जाती है। यह निन्नानवे क्रियाओंका उद्देश्य एक बना देती है। हम जो कुछ भी कर रहे हैं, उसी एकके लिये। खाने-पीने, सोनेसे शरीर ठीक रहता है और शरीर ठीक रहने से उसकी सेवा-प्रसन्नता प्राप्त होती है; इसलिये शरीरको ठीक रखना भी हमारा परम धर्म है। फिर तो 'ज्याँ भेषाँ म्हारा साईं रीझे, सोई भेष धरूँगी' अपने-आप ही आ जाता है। धर्म कुछ क्रियाओंको शुद्ध करता है, उपासना सारी क्रियाओंको अपने इष्टके लिये बना देती है। फिर क्रियाके स्वरूपमें खास आग्रह नहीं रहता। केवल इतना ही विचार रहता है कि इससे वह प्रसन्न होगा कि

नहीं। उपासना हृदयकी वस्तु है। यह निष्क्रियता नहीं है। यह तो एक उद्देश्य है, जो सब तरहकी क्रियाओंमें रह सकता है।

उपासना सब कुछ उसके लिये कर देती है; परन्तु प्रेम तो उसको ही अपना बना लेता है; इतना अपना कि उसमें 'मैं' और 'तू' का संघर्ष नहीं रहता। यह कोई समाधि या जंगलमें रहनेवाली बात नहीं है। प्रेम तो मान और कलहमें भी रहता है। इसमें दूर और निकटकी कोई खास बात नहीं रहती। इसमें सारे धर्म और उपासनाओंका अन्तर्भाव हो जाता है। प्रेम ही सबसे बड़ा धर्म और सबसे बड़ी उपासना है।

हमेशा यह विश्वास रखना चाहिये कि मेरा ईश्वर, मेरा कृष्ण मुझसे प्रसन्न है। मेरे हृदयमें बैठकर मुझे राह बता रहा है, मेरी रक्षा कर रहा है। तुम मेरी इतनी बात याद रखना—बस केवल इतनी ही कि विश्वास छूट जाय, तब भी वह रक्षासे विरत नहीं होगा—तुम्हारे हृदयमें है, तुम्हारा है। तुम्हारा अस्तित्व ही उसका अस्तित्व है।

अपना आत्मा ही—
अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★



(४२)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

किसी देशमें, किसी वेशमें रहो—केवल गुण ही ग्रहण करो। दोषका प्रभाव मत पड़ने दो। नकल भी मत करो। आजकल लोग विदेशोमें जाते हैं तो वहाँकी वेश-भूषा, खान-पान, अश्लीलता आदि बाहरी एवं गलत बातें तो अपने साथ ले आते हैं, परन्तु वहाँ जो ईमानदारी, स्वच्छता, सद्‌भाव एवं स्त्रियोंके प्रति आदरका व्यवहार है, उसे अपने साथ नहीं लाते। हमेशा अच्छाईको स्वीकृति देना और बुराईसे परहेज करना चाहिये। कहींकी और किसीकी चमक-दमक देखकर अपनेमें हीन भावना नहीं लानी चाहिये। श्रेष्ठता गुणोंसे होती है। पौरुषसे भी अपनेको हीन नहीं समझना। विदेशकी स्त्रियोंसे यह बात सीखी जा सकती है। वस्तुतः स्त्री निकम्मे पुरुषके लिये प्रेरणाका स्त्रोत है—उसे काममें लगानेवाली प्रकृति है। पुरुष कर्ता है तो स्त्री बुद्धि है। सम्पूर्ण संचालन स्त्रीके ही हाथमें होना चाहिये। अन्न, रस, बल, बुद्धि और स्थिति—इन पाँच कोषोंकी स्वामिनी पत्नी ही है। उसीका दिया पुरुष भोगता है। अपनेको कभी—जबतक होश ठीक रहे, निर्बल और असहाय न मानना। तुम्हारा ईश्वर, तुम्हारा कृष्ण, तुम्हारे हृदयका सम्राट्, स्वामी, प्रभु तुम्हारे हृदयमें ही विराजमान है। वह एक पलके लिये भी तुम्हें नहीं छोड़ता, छोड़ नहीं सकता। वह तुम्हारी साँसके साथ ही साँस लेता है। तुम्हारे दुःखके समय उसकी आँखसे भी आँसू गिरते हैं। तुम्हारी मुस्कानके साथ ही वह खिल उठता है। तुम्हारी एक-एक धड़कन वह गिनता रहता है। तुम्हारे एक-एक संकल्प के साथ वह जुड़ता है और तुम्हारी आत्माके साथ एक है। वह नींद और मृत्युमें भी तुमसे पृथक् न होगा। उसके कोमल हृदय और स्नेही स्वभावका जब तुम स्मरण करोगे, वह तुम्हारी सहायता करेगा एवं तुम्हारे धर्मकी रक्षा करेगा।

हमारा प्रेम-आशीर्वाद सर्वदा तुम्हारे साथ है। हमें संसारकी कोई वस्तु नहीं चाहिये। हम अपने इष्टदेवके प्रेममें, स्मृतिमें तन्मय रहते हैं। इसलिये संसारका कोई प्रलोभन या परिस्थिति हमें अपने निश्चयसे डिगा नहीं सकती। हमारा निष्काम पवित्र अन्तःकरण सर्वदा अपनी हित भावनासे तुम्हें सराबोर करता रहेगा।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

(४३)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

१—शुद्ध प्रेम एक महान् शक्ति है। वह जीवनके एक-एक अणुको रूपान्तरित कर देता है। तन, मन, वजन, रोम-रोम प्रेमसे परिप्लावित हो जाता है। तब प्रेमीकी आँखसे, बोलीसे, चालसे, व्यवहारसे, उसकी उपस्थिति मात्रसे आस-पास रहने वालोंपर प्रेमका प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है।

२—हृदय जब प्रेमसे भर जाता है तब ऐसा नहीं होता कि किसीसे प्रेम हो और किसीसे द्वेष। क्योंकि एक ही हृदयमें द्वेषकी आग—जलन और प्रेमकी रसधारा, दोनों रह नहीं सकतीं। किसीके प्रति की हुई कड़वाहट रहती तो अपने दिलमें ही है। इसलिये वह सबसे पहले अपने दिलको ही कड़वा बनाती है। हमें सबसे बड़ी सावधानी यही रखनी है कि अपनी अमृतकी पूँजी कड़वी न हो।

३—यदि प्रेमी और प्रियतम दोनोंमेंसे एक भी निष्काम और शुद्ध हो तो दोनों ही निष्काम हो जाते हैं।

४—प्रेमी अपने प्रियतमके लिये लम्बी साँस और आह भरके भी अनिर्वचनीय तृप्तिका अनुभव करता है।

५—यह निश्चित है कि प्रेमके प्रारंभमें विरोधका सामना करना पड़ता है। प्रायः अपने व्यक्तित्वका, जो कि बड़े श्रमसे सम्पादित होता है, त्याग करना पड़ता है। इसके लिये जिद, आग्रह और दृढ़ताके बिना काम नहीं चलता। प्रेम बढ़नेपर तो ऐसा सहज स्वभाव बन जाता है कि बड़े से बड़ा विघ्न भी प्रेमका बाल बाँका नहीं कर सकता।

६—प्रेमी या प्रियतमका जितना बड़ा व्यक्तित्व होता है, प्रायः अड़चन भी उतनी ही बड़ी आती है। इसपर विजय प्राप्त करनेका एक मात्र उपाय मौन ही है। प्रेमी वादविवादमें पड़ना पसन्द नहीं करता, क्योंकि उसे मालूम है कि इससे कोई लाभ नहीं है। मैं बहसमें हारकर भी तो अपनी निष्ठा नहीं छोड़ूँगा, चाहे कोई कुछ कहे, लोगोंकी परवा छोड़नी पड़े।

श्रीकृष्ण-प्रेम ही निर्विघ्न है।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

(४४)

परम प्रेमास्पद आत्मा,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

गोपी कृष्णके प्रति अनन्य है, परन्तु कृष्ण गोपीके प्रति अनन्य नहीं है । इसीसे दोनोंके प्रेममें रसका सम्पूर्ण विकास नहीं है—गोपीको कृष्णसे जितना रस आता है, उतना गोपीसे कृष्णको नहीं । राधाके प्रेममें गोपीके प्रेमसे यही विलक्षणता है कि राधा कृष्णके प्रति अनन्य हैं तो कृष्ण राधाके प्रति अनन्य । यह दोनोंमें रहनेवाली समरस अनन्यता ही दोनोंके प्रेमकी विशेषता है । एकाङ्गी प्रेम अधूरा है । उसमें प्रेमीका महत्त्व अधिक होनेपर भी रसकी पूर्णता नहीं है ।

राधा-कृष्णकी प्रेम-तपस्याका मूर्त फल है तो कृष्ण राधाकी प्रेम-तपस्याका मूर्त फल है । कौन तप है, कौन फल है—इसका निर्णय नहीं हो सकता । दोनों ही एक दूसरेके लिये फल हैं । दोनों ही सामने वालेके लिये तपते हैं—दोनों ही सामने वालेको रस देते हैं ।

प्रेम रसका एक अगाध अनन्त समुद्र है । दो ओरसे रसकी दो लहरें उठीं, आमने-सामने चलीं, आलिङ्गन-पाशमें बँध गयीं, रस एक-मेक हो गया; अब फिर दो उठीं, दायेंका जल-रस बायें, बायेंका जल-रस दायें । अब कौन बताये, किसमें कितना रस किसका है ? दोनों एक ही हैं न ? निश्चित रूपसे !......

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

(४५)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

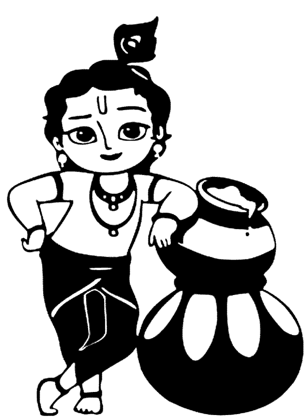
तुमने पूछा है कि अपने इष्टदेवकी निरन्तर स्मृति कैसे बनी रहे ? मैं सोचता हूँ कि इस प्रश्नका उत्तर तुम्हें देनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जिससे प्रेम होता है, उसके स्मरणके लिये उपाय नहीं करना पड़ता। उसकी स्मृति तो जरूरी कामोंमें भी बाधा डालती रहती है। केवल अपने इष्टदेवता सम्बन्धी कार्योंमें ही तन्मयता रहती है। मैं अपनी बताऊँ, (वैसे, अपने इष्टदेवताकी बात अपने शिष्य और गुरुके सिवा और किसीको बताना नहीं चाहिये। तुम्हें तो मैं बता ही रहा हूँ।) मैं कोई खास प्रयत्न करके आसन, प्राणायम, या जप-ध्यान नहीं करता। मेरा मन स्वयं ही अपने प्यारे इष्टदेवता के साथ खेलता रहता है। संसारमें जितने सम्बन्ध होते हैं, जितनी अच्छी-बुरी क्रिया या भावनायें होती हैं—सब उन्हींके साथ। उन्हें अपने हृदयमें पूजता भी हूँ—प्यार भी करता हूँ। लड़ता भी हूँ, मनाता भी हूँ; परन्तु कोई पूछे क्या कर रहे थे, तो अपने इष्टदेवका नाम नहीं बताता। अपने दिलका राज गैरोंसे क्यों खोला जाय ? मैं किस मन्त्रका जप करता हूँ, आजतक किसीको मालूम नहीं। किस रूपका, कैसे ध्यान करता हूँ—आजतक मुँह या कलमसे नहीं निकला। अपने इष्टदेवताका रोम-रोम मेरी सारी इन्द्रियोंका विषय होता है। मेरी जीभ ही उनके शरीरका मैल पौंछती है। मेरा उनका भेद नहीं है, दोनों परस्पर अदल-बदलकर हिलते-मिलते रहते हैं। कभी कुछ, कभी कुछ। शायदमेरी ये बातें तुमको अजीब लगें। परन्तु अपने इष्टदेवताकी सभी वस्तुएँ दिव्य होती हैं।

मैं एक बार एक महात्माके पास गया था। उन्होंने मुझे कोई काम बताया। मैंने कहा—'ऐसा करनेमें मुझे तो कोई खुशी नहीं होती।' वे बोले--'तुम्हें नहीं होती तो क्या, मुझे तो होती है।' लिखनेका अभिप्राय यह है कि मैं अपने रोम-रोमसे चाहता हूँ कि तुम्हारा जीवन सुखसे भरपूर रहे। तुम्हें अपने सब काम सावधानीसे करना और सुनना भी चाहिये। समझमें न आये, तो प्यारसे, दुलारसे फिर पूछ लेना चाहिये। तुम लोग सुखी रहोगे तो हमारा मन कितना प्रसन्न होगा ? विचारका भेद तो कोई भेद नहीं है। मैंने सुना है कि विदेशोंमें पति-पत्नी भिन्न-भिन्न धर्मों और पार्टियोंमें रहते हुए भी परस्पर अतिशय प्रीति

करते हैं। हमेशा मुस्कराकर ही बात करना चाहिये। यदि किसी बातसे तुम्हें तकलीफ होती दीखेगी तो मेरा पूर्ण विश्वास है कि वे तुम्हारी रुचि रखेंगे। तुम्हारी अतिशय प्रीति जो अपने प्रति है, उसे भी समझता हूँ। इसीसे तुम्हारे भावी जीवनके सुखी होनेमें मुझे विश्वास है। कृष्ण-भक्त तो उन्हें होना ही पड़ेगा; क्योंकि तुम्हारे कृष्ण क्या उन्हें छोड़ सकेंगे, जो तुम्हारे अपने हैं! तुम्हारे भक्ति-भावसे उनका भी मंगल होगा। तुम्हारे संयम सहिष्णुता, तन्मयता आदि सद्‌गुणोंका प्रभाव तुम्हारे आस-पास रहनेवालों पर जरूर पड़ेगा। मैं चाहता हूँ—सम्पूर्ण आत्मासे कि तुम्हारे शरीरकी जिसको हवा लगे, वह प्रेम और सुखसे भर जाय।

तुम्हारा—
अखण्डानन्द सरस्वती

• • •



(४६)

अपने परम प्रिय आत्माको,

सप्रेम शुभाशीर्वाद !

मैं कल बाहर जा रहा हूँ, इसलिये सोचा कि आज पत्र लिख चलूँ। तुम्हारे सामने आजकल नये-नये देश, वेश, क्लेशके अनुभव हो रहे होंगे। एक प्रकारसे यह मनुष्यके लिये अच्छा है; क्योंकि अपनी आँखसे देखे बिना संसारका रहस्य नहीं खुलता। तुम्हें सब जगह जाना चाहिये, सब कुछ देखना चाहिये। यदि कहीं अत्यधिक अश्लीलता हो तो वह भी देख लेना चाहिये। मैं जानता हूँ, इससे तुम्हारी भलाई होगी। वैसी क्रियाओंसे और करनेवालोंसे यदि तुम्हारे मनमें ग्लानि, घृणा या वैराग्य होगा तो तुम्हारा यह दुःख तुम्हारी अन्तरात्माको शुद्ध करेगा और तुम अपने आराध्य कृष्णके अत्यधिक निकट आ जाओगी, जिसके लिये वह युग-युगसे बाहें फैलाये, छाती खाले, व्याकुल हृदय और प्रतीक्षापूर्ण नेत्रोंसे तड़प रहा है। तुम उधरकी किसी पोशाक या रहन-सहनमें शामिल होनेसे मत हिचकिचाओ। यह सब यदि तुम्हारे हृदयमें वासना पैदा करेगा तो मैं सब ठीक कर लूँगा। डरो मत, तुम सुरक्षित हो। तुम्हारे श्रीमान् यदि धर्मके विरुद्ध क्रिया करें या तुमसे करानेका आग्रह करें तो उनसे लड़ाई करनेमें भी कोई हानि नहीं है। यह भी ममता और प्रेम ही है। अपने लिये कोई ऐसा प्रसंग आये तो यहाँ आ जानेमें भी कोई हानि नहीं है। यह विश्वास रखना—तुम्हारा कृष्ण, पाप और नरकमें भी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ेगा। तुम्हारे हृदयमें और बाहर भी तुम्हारे सारे दुःख अपने ऊपर ले लेगा। मेरा आशीर्वाद तुम्हें आत्मबल देगा !

'अहं' का बिल्कुल नाश वाञ्छित नहीं है। उसका जीवनमें थोड़ा रहना भी आवश्यक है। बिना 'अहं' के लोग दबा लेते हैं। आजकल लोग पैसा, फैशन, भोगको बड़ा समझते हैं—इसलिये जब वैसे लोगोंके बीचमें पड़ते हैं तो अपनेको छोटा समझने लगते हैं—उनके पिछलग्गू बनते हैं। नकलकी मनोवृत्ति बहुत ओछी है। इससे अच्छा है कि अपने चरित्र, धर्म, त्याग, संयमका 'अहं' रहे। इसके सामने वे कुछ नहीं। इसी अभिमानसे अपने मनकी रक्षा होती है। तुम किस देशकी हो, तुम्हारे पूर्वज कौन हैं, तुम्हारा ईश्वर कौन है—इस

बड़प्पनके रहते, नंगा होकर नाचनेमें क्या बड़प्पन है ? औरतोंको जलील करना या नशेमें रहना कौन-सी महिमाकी बात है ? तुम अपने आत्मसम्मानकी भावना बढ़ाओ । तुम पूजा करनेके लिये हो !

तुम्हारे हितकी भावनामें ही तुम्हारा अन्तरात्मा—

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

मन मुकुन्दके पास, एक अभिलाष लिये है ।
आओ, जीवननाथ ! मिलो—यह प्यास लिये है ।
युग-युगसे क्षण जात, रात तारे गिन कटतीं ।
उरमें प्रेम तरङ्ग न अब अटकाये अटतीं ।
अटती नहीं उमंगकी, लहरें उरमें नाथ ।
दौड़ो ! आओ ! मिल रहो, पकड़ो प्यारे हाथ ॥

★ ★ ★

(४७)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

मन कभी-कभी चंचल हो जाता है, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। परन्तु इसकी चंचलता तुरन्त अपने इष्टदेवके साथ जोड़ देनी चाहिये। वे क्या कम चंचल हैं ? मेरे मनमें जब कभी प्रलोभन आता है, मैं उसे अपने इष्टदेवके साथ जोड़ देता हूँ, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो ? देवर्षि नारदने लिखा है- -'मनमें काम-क्रोध आये तो उसे अपने कृष्णके साथ जोड़ दो।' वे एक दिन हमारे मन-मन्दिरमें आयेंगे। अरे, आ गये ! उनके लिये नयी कुञ्ज ! नये फूल, नये भोजन। मन ही मन खिलाओ और खाओ। शरीर सम्बन्धी नियम शिथिल मत करो। एक बार नियम टूट जाता है तो फिर पालन कठिन हो जाता हैं। इसलिये अपने नियमोंके लिये कट्टर रहना ही अच्छा रहता है। समाजके बन्धन, धर्म-मर्यादा, नियम सब शरीरके साथ हैं। श्रीकृष्ण और उनका प्रेम अन्तस्तलकी गहराईमें हैं। उन्हें तो केवल भाव चाहिये। उनकी भूख-प्यास, उनका प्यार-दुलार दिलमें है। उसे बाहरी संसारी लोग समझ नहीं सकते। उन्हें समझाने बतानेकी जरूरत भी नहीं है। गोपियोंकी जाति, धर्म और ज्ञान क्या ऊँचा था ? नहीं-नहीं ! उनमें केवल प्रेम था। उनके लिये कृष्ण रोते थे। उन्होंने कितनी रातें वृक्षोंके नीचे उनींदे और प्यासे नेत्रोंसे बितायीं ! जब कृष्णके इस प्यारका ख्याल आया तो गोपीके मनकी क्या दशा हुई ? कृष्ण ही उनके जीवन-सर्वस्व ! उनके प्राण और प्राणेश्वर ! वह छटपटायीं। शरीर रह गया घरमें, मन प्रियतमके पास। उस मनके मिलनमें, भक्त और भगवान्के उस दिव्य संयोगमें संसारका कोई बन्धन क्या रह सकता है ? सारी श्रृंखलाये टूट जाती हैं। इसीको तो मुक्ति कहते हैं। मानसी पूजाके समय अपनेको भगवान्के धाममें मानना चाहिये। वहाँके धर्म तो दूसरे ही हैं।

अपने हृदयमें भगवान्के प्रति जो भक्तिभाव है वह छिपानेसे बढ़ता है। प्रकट होनेसे लोग आदर करने लगते हैं तो घटता है। भक्त कोकिल रो रहे थे; किसीके पूछनेपर बोले—'भूख लगी है।'

मानसी पूजामें तन्मयता अधिक होनेके लिये केवल प्रेम और सम्बन्धकी

गाढ़ता मात्र चाहिये। वैसे जो भी क्रिया, वस्तु या भाव अपने इष्टदेवको प्रिय लगता दीखे, वही मन ही मन अपने इष्टदेवको अर्पण करना चाहिये। जैसे लौकिक व्यवहारमें पति-पत्नी अथवा प्रिया-प्रियतम एक दूसरेमें तन-मन मिलाकर रखते हैं, रहते हैं, खाते-पीते हैं, ठीक वैसे ही मनमें इष्टदेवकी मानसी पूजा करनी चाहिये। यदि मानसी पूजामें इष्टदेवके सम्बन्धमें ऐसा भाव बने कि जैसे मैं अपने प्रभुके दर्शन और प्रेमका प्यासा हूँ, वैसे ही मेरे प्रभु भी मुझसे प्रेम करते हैं, मुझसे कई गुना अधिक करते हैं। वह देखो, बाँहें फैलाये, प्यासी चितवनसे देखते हुए, अपने हृदयमें छिप जानेके लिये इंगित कर रहे हैं, उनके हृदयमें तड़प और छटपटी है, उनका रोम-रोम मुझे प्रणय-आमन्त्रण दे रहा है, उनकी आँखोंमें प्रेमकी मस्ती है, व प्रेमके आनन्दमें मग्न हैं—इत्यादि, तो अवश्य ही अपने इष्टदेवमें तन्मयता बढ़ेगी। भक्ति-भावका यह स्वभाव ही है कि वह अपने प्रभुका वात्सल्य अनुभव करनेसे बढ़ता है।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

मन मुकुन्दके पास, एक अभिलाष लिये है।
आओ, जीवननाथ! मिलो—यह प्यास लिये है।
युग-युगसे क्षण जात, रात तारे गिन कटतीं।
उरमें प्रेम तरङ्ग न अब अटकाये अटतीं।
अटती नहीं उमंगकी, लहरें उरमें नाथ।
दौड़ो! आओ! मिल रहो, पकड़ो प्यारे हाथ॥

★ ★ ★

(४८)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

जहाँतक सम्भव हो, नियम ग्रहण करके तोड़ना नहीं चाहिये। नियम हल्के और थोड़े-थोड़े दिनोंके लिये लेने चाहिये। उन्हें थोड़ा कष्ट सहकर भी निभाना ही अच्छा रहता है। जो प्रतिकूलता होनेपर नियम तोड़ देते हैं, उनका तो नियम लेना ही व्यर्थ है। ढिलमिल रहनेसे लोग भी बाधा डालते हैं। इसलिये पहले तो नियम ले नहीं, ले तो हल्के, ले ले तो पालन करे, यदि कोई असह्य कठिनाई हो तो केवल कठिनाइयोंके दूर होनेतक नियमोंको स्थगित कर दे और अनुकूल परिस्थिति आनेपर फिर शुरू कर दे। तुमने जो नियम लिये हों--मुझे मालूम नहीं कि वे कौनसे हैं—यदि शरीरकी रक्षाके लिये उन्हें तोड़ना अत्यावश्यक हो तो तोड़ देना। इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म सम्बन्धी नियम मौज-शौकके लिये तोड़े जावें।

एक प्राचीन कथा है—एक महात्मा थे गृहस्थ ब्राह्मण। एक बार उन्हें कई दिनोंतक खानेके लिये कुछ नहीं मिला। मरणासन्न हो गये। उन्होंने एक छोटी जातिके मनुष्यके प्रति अन्नकी याचना की। उसने कहा—'मैं अपनी थालीमें लेकर जितना खा रहा हूँ, उतना ही मेरे पास है।' ब्राह्मणने कहा—'इसीमेंसे दो।' शूद्र बोला—'यह तो उच्छिष्ट है।' ब्राह्मणने कहा—'मैं भूखसे मर जाऊँगा। मेरा धर्म पालन नहीं हो सकेगा। खाकर नियम-पालन कर लूँगा।' ब्राह्मणने जूठे उड़द खाये। बादमें शूद्रने कहा—'जल पिओ !'

ब्राह्मण—'मैं तुम्हारा उच्छिष्ट जल नहीं पिऊँगा।'

शूद्र—'जूठे उड़द तो खा लिये, अब पानीमें आपत्ति क्या ?'

ब्राह्मण—'खाये बिना तो मर जाता। पानी तो सभी जगह पीनेको मिल सकता है, नदीमें पी लूँगा। यदि मैं तुम्हारा जूठा पानी पीऊँ तो मेरा धर्म बिगड़ जायगा।'

मेरे ख्यालसे यह कथा नियम तोड़नेके सम्बन्धमें पर्याप्त प्रकाश देती है। अब एक दूसरी बात लिखता हूँ। यदि तुमने बिना धर्म-सम्बन्धके कुछ ऐसा नियम लिया हो, जैसे कि शक्कर न खाना, तो अपने मनसे लिया हुआ

नियम तोड़नेमें कोई हर्ज नहीं है। जहाँतक मेरा सम्बन्ध है—मैं तुम्हारे तन-मनकी स्थिति उत्तम चाहता हूँ। .....

केवल मौज शौकके लिये वहाँ (विदेशमें) नहीं रहना चाहिये। जैसे लोगोंका संग होता है, उनका रंग चढ़ता ही है। वहाँसे सिर्फ अच्छी-अच्छी बातें सीखकर ही आना। फिर देशमें ही आना है और अपनेको यहींके वातावरणमें खपाना है। भौतिक उन्नति बहुत अच्छी चीज है; लेकिन यह इतनी कीमती नहीं है कि मनुष्य केवल उसीके लिये अपनेको खपा दे। कीमत मनुष्य, धर्म और ईश्वरकी सबसे अधिक है—यह नहीं भूलना चाहिये।

मैं जानता हूँ कि तुम अपने आराध्यदेव कृष्णकी पूर्ण कृपा और प्रेमके अधिकारी हो और प्रतिदिन ही तुमको कुछ न कुछ ऐसा अनुभव होता होगा कि एक दिव्य शक्ति तुम्हारी रक्षा कर रही है। वह हर समय तुम्हारे साथ रहती है। खाते-पीते उठते-बैठते, सोते-जागते वह कभी तुमसे अलग नहीं होती। जब तुम्हारे मनके एकान्तमें कोई बुराई आती है; वह उसे भी जानती है और जब तुम पश्चात्तापकी ग्लानिसे जलने लगते हो, तुम्हारे साथ ही तकलीफ भी पाती है। वह तुम्हारे रोम-रोममें व्याप्त और मनकी एक-एक वृत्तिसे परिचित है। वह केवल तुम्हारे लिये है, तुम्हारे साथ है और तुम्हें अपने उज्ज्वल प्रेमसे सराबोर कर रही है। तुम्हें मेरे बहुत-बहुत प्रेमपूर्ण आशीर्वाद।

अगर कभी मनमें किसी बातका अभिमान आये तो वह ऐसा होना चाहिये-

१—अपना प्रभु मुझपर कितनी कृपा और प्रेम करता है!

२—मेरा मन कितना अच्छा है कि वह इष्टदेवके बारेमें इतना सोचता है!

३—मेरी आदतें कितनी अच्छी हैं कि अनजानमें भी मैं धर्मके विरुद्ध कुछ नहीं करता।

४—मैं औरोंका दुर्गुण देखकर उन्हें सह लेता हूँ; परन्तु अपने अन्दर दुर्गुणोंको सहन नहीं करता।

सच्चा सौन्दर्य मनकी पवित्रता और चरित्रकी उज्ज्वलता है। इसीसे तुम्हारा कृष्ण तुमपर प्रसन्न होता है। प्रेम ही सबसे बड़ा सौन्दर्य है। उसीसे तुम्हारा मन परिपूर्ण रहे।

बाह्य रूप-सौन्दर्य भी पुण्योंका फल है, परन्तु तब जब वह उसके काम आये, जिसके लिये है और दर असल जिसका है।

तुम्हारा—
अखण्डानन्द सरस्वती

• • •

करो कृष्णका भजन, सजनसे यही मिलाता।
प्रीति-रीति, रति-अमृत, जगत्‌में यह छलकाता।
उगै भावकी लता, जगै मधुकी मादकता।
कण-कणमें रस-लास्य, फुरै मोहन-मोदकता।
रस राते माते रहो, हरिको गहो निशंक।
राह एक ही है सुधर, भजन बिना सब रंक॥

• • •

(४९)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

अपने तो उसके इशारेपर नाचनेवाले हैं। जैसे, जब, जहाँ रखे, वहाँ रहनेको तैयार। व्रजके प्रेमी कहते हैं—'जैसे राखहु वैसे रहौं।' अपने प्रियतम प्रभुकी इच्छासे नरकमें रहना भी अच्छा है। अपनी वासनाकी पूर्तिके लिये स्वर्गमें रहना भी स्वार्थ है।

वृन्दावनी रस-उपासनामें श्रीराधाकृष्ण-प्रेमकी जैसी अभिव्यञ्जना की गयी है, संसारमें कहीं भी ऐसे दिव्य दम्पति या प्रिया-प्रियतमकी अनन्य आसक्ति और अधीनता देखनेमें नहीं आती है। यह केवल साधुओंकी वस्तु नहीं है। गृहस्थोंको यदि इसकी छाया भी मिल जाय तो उनका जीवन धन्य-धन्य हो जाय। इसमें रस है, छटपटी है, तृप्ति है, प्यास है, नित्य नूतनता है, एकरसता है। यह युगल प्रेम दिव्य मधु है, दिव्य प्रेम है। यही सम्पूर्ण विश्वको आनन्द सागरमें डुबानेवाला है।

मीनका जीवन जलके आधीन है, जलके बिना वह मर जाता है! ठीक है, परन्तु वह जलमें रहकर जलका रसास्वादन कितना करता है? अंग-अंग, रोम-रोमसे डूबा हुआ होनेपर भी उसकी रसवृत्ति दूसरी ओर अपने भोग्य-पदार्थ—सम्बन्धी आदिमें चली जाती है। इसके विपरीत मधुकर-भ्रमर रसास्वादी है, पुष्परसमें आसक्त है; परन्तु वह पराधीन नहीं है। मीनमें आस्वादन और मधुकरमें अधीनताकी न्यूनता है। मधुकर अनन्य रसिक नहीं और मीन अनन्य होनेपर भी रसिक नहीं। अब यदि राधाकृष्णके प्रेमके स्वरूपको समझना हो तो हमें दोनों बातें मिला देनी पड़ेंगी। श्रीराधारानी पुष्परस हैं, मधु हैं, तो कृष्ण मधुकर। ठीक है, परन्तु उनका जीवन मीनके समान ही अधीन भी है। वे करवट बदलना और बीचमें रोमाञ्च हो जानेको भी विरह रूप मानते हैं और उससे व्याकुल हो उठते हैं। एकरस मिलन और रस-मधुका आस्वादन ही उनका जीवन है।

वृन्दावनी प्रेम-रस रीति जो तुम्हारे जीवन, तन-मनको रससे पूर्ण करके तुम्हारे सम्पर्कमें आनेवाले और पास-पड़ोसको भी प्रेमरससे पूर्ण बनाने वाली

है—एक और बातमें भी विलक्षण है। सामान्य रूपसे लोगोंकी यह धारणा होती है कि प्रेममें--मिलनमें व्यवधान—देशकी दूरी और कालकी देरी आ जाय तो प्रेम अधिकाधिक बढ़ता है। जैसे, रासलीलामें कृष्णके अन्तर्धान होनेसे गोपियोंकी प्रेम-समृद्धि और भी वृद्धिको प्राप्त हुई। यह सत्य होनेपर भी यह वृद्धि किसी और कारण-दूरी या देरीसे हुई है। इसलिये औपाधिक वृद्धिका ह्रास होना भी सम्भव रहता है। मिलन होनेपर वह कारण मिट जाता है, इसलिये रस बासी पड़ जाता है। परन्तु वृन्दावन कुञ्जविहारी मुकुन्दका प्रेम अद्‌भुत है। उसकी सहजरूपतामें बढाने-घटानेवाले कोई बाहरी कारण नहीं हुआ करतें। उसमें कभी मान और मान और कभी प्रेमवैचित्त्य (मिले रहनेपर भी अनमिले होनेका भ्रम) रसको धक्का देकर तरङ्गायमान, नवीन स्फूर्तिसे युक्त करते हैं। परन्तु यह विशेष प्रकारकी क्रिया अथवा विशेष प्रकारका भाव भी प्रेमवृद्धिके लिये आवश्यक नहीं है। प्रेमका सहज स्वभाव ही ऐसा है। इस चन्द्रमामें पूर्णिमा नहीं आती। बढ़ना इसकी प्रकृति है। इसका अन्त कहीं है ही नहीं। इसीसे व्रजवासी कहते हैं—

'डूबा प्रेमसिन्धुका कोई हमने नहीं उछलते देखा।'

मैंने भी श्री राधाकृष्ण-प्रेमके सम्बन्धमें जो इतनी बातें लिखी हैं—मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम्हारे हृदयमें प्रीतिरसके विकास और अभिवृद्धिमें इनसे सहायता मिलेगी। इससे तुम्हारा जीवन सुखी होगा। तुम अपना सुख-रस औरोंको भी बाँट सकोगे। अच्छे ढंगसे जीवित रहनेके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने जीवनमें दुःखको स्वीकृति न दें और सुखका वितरण करें।

एक बार एक सेठने किसी साधुसे पूछा—'महाराज, आपको कभी मेरी याद आती है ?'

साधुने कहा—'सेठ, याद तो तुम्हारी बहुत आती है; परन्तु तब, जब अपना इष्टदेव भूल जाता है।'

मैं इष्टदेवको भूलकर कुछ करना-लिखना नहीं चाहता। जो खाते हैं, उसीकी तो डकार आती है। तुम सम्पूर्ण विश्वको अपने प्रेमसे तर कर दो !

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

(५०)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

वृन्दावन आनेसे स्वास्थ्य कुछ अच्छा हुआ है। मनमें इष्ट-संयोगकी भावना अधिक होने और मानसी पूजाका अवकाश अधिक मिलनेसे ही शायद ऐसा हुआ है। व्रजमें एक पद गाते हैं—'सखीरी, मनके श्याम भले।' मनमें मिलाप होनेपर तनसे होता ही है। मुझे अपने इष्टदेवके सिवा और किसीका मनोराज्य नहीं होता। मुझे विरहकी भावना कम होती है। वैसे शास्त्रमें लिखा है कि कृष्णके विरहकी स्फूर्ति होनेसे जो व्याकुलता होती है, वह तन-मनकी सब अयोग्यताओंको धो देती है—सारे पाप और वासनायें आँसू बनकर निकल जाती हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुसे भगवान्ने पूछा—'तुम्हें क्या चाहिये ?' उन्होंने कहा- -'विरह।'

भगवान्—'यह कष्टकारक वस्तु क्यों चाहते हो ?'

श्री चैतन्य—'संयोगके समय तो केवल आप ही रहते हो, विरहके समय तो सारी सृष्टिमें आप ही आप दीखते हो।'

पर मेरा शरीर अब व्याकुलता सहने योग्य नहीं है, दिल कमजोर है। यदि मेरे मनमें व्याकुलताकाउदय हो—मुझे अपने प्रियतम कृष्णके वियोगकी स्फूर्ति हो तो शरीरके सारे बन्धन टूट जायँ। रग-रग, रोम-रोम जल उठे। इसीसे ईश्वरने अब मुझे मिलनकी भावना दे दी है। मैं उसी रसमें डूबा रहता हूँ—**'वाही रसमें है मगन, नहिं जानत निसि भोर।'** इसके सिवा दुःखनिवृत्तिका और कोई उपाय नहीं है। यह मिलनकी भावना उसीके मनमें ठीक-ठीक उतरती है जो एक बार कमसे कम अपने इष्टसे मिल चुका हो।

एक बार उद्धवजीने गोपियोंसे कहा—'गोपियो ! श्रीकृष्णके विरहमें तुम्हें बहुत दुःख है, इसलिये ईश्वरका ध्यान करो।' गोपियोंने कहा—'उद्धवजी, तुम कहते तो ठीक हो; परन्तु अपना मन तो प्यारे कृष्णके साथ चला गया। अब ईश्वरकी आराधना कौन करे ? कोई मन तो दस-बीस होते नहीं।'

उद्धवजीने दूसरे दिन गोपियोंको फिर कहा, तब वे बोलीं—

'नाहिंन रह्यो हिय महँ ठौर।

नन्दनन्दन अछत, कैसे आनिये उर और ?'

तीसरे दिन फिर कहनेपर बोलीं—'उद्धवजी ! तुम बार-बार कहते हो— कृष्णका वियोग, कृष्णका वियोग ! भला, वे कहीं गये भी हैं ? **'जित देखौं तित श्याममयी है ।'**

वास्तवमें प्रीतिकी रीति ही यह है कि उसमें दूसरेके लिये अवकाश ही नहीं रहता । श्रीराधारानीके मनमें कृष्ण और कृष्णके मनमें राधारानीके अतिरिक्त दूसरा कोई होता ही नहीं है ।

प्रेमका स्वभाव ही यह है कि वह अनन्यचिन्तनके रूपमें प्रकट होता है ।

अपनी दृष्टि उदार रखना । गुण ग्रहण करना, दोष नहीं लेना ।

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'मनुष्य जीवनका सबसे अच्छा और सच्चा हिस्सा वह है, जिसमें वह सर्वथा राग-द्वेष और पक्षपात रहित होकर सम भावसे रहता है ।'

● ● ●

(५१)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

तुम्हारे अपने ईश्वर हृदयमें ही बिराजमान ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये तुम्हारा वातावरण भी प्रसन्न होना चाहिये। इसके लिये प्रसन्न मनसे सबको व्यवहार प्राप्त होना चाहिये। सबमें, सबके हृदयमें, सबकी प्रसन्नतामें ईश्वरकी प्रसन्नता देखनी चाहिये। कृष्ण बड़ा नटखट है। वह हर समय तुम्हें देखता है। निर्जन एकान्तमें, अन्तर्देशके निभृत प्रदेशमें भी तुम क्या कर, सोच रहे हो—यह उसको मालूम रहता है और वह तुम्हारी व्याकुलता, परेशानी, तन्मयता और प्रसन्नता देखकर प्रसन्न होता रहता है। अपने हृदयमें कभी दुःख-दोषको स्थान नहीं देना; क्योंकि इससे वहाँके नित्य निवासी कृष्णको ही कष्ट होता है। सच पूछो तो कृष्णका सर्वस्व उसके प्रेमी भक्तका ही है। वह केवल अपनी मुरली और पीताम्बर ही नहीं, अपना हृदय निकालकर भी अपने प्रेमीको दे सकता है। वह प्रेम है, रस है, मधु है, बाहर-भीतर एकरस। उससे तुम जो चाहोगे, मिलेगा। तुम्हारे एक-एक संकल्प पूरे होंगे। बिना संकल्पके भी जो होना चाहिये, सब होगा; क्योंकि वह प्रेमीपर अपने संकल्प भी चलाता है। मैं हृदयसे चाहता हूँ, आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारे हृदयमें कृष्ण-प्रीति बढ़े और तुम्हारे शरीरसे विशुद्ध प्रेम-भक्तिकी ऐसी हवा बहे कि पास-पड़ोसके सब भक्त हो जायँ।

—अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

(५२)

वृन्दावन

परम प्रेमास्पद आत्मा !

जीवका सुखसे सहज प्रेम होता है। सभी सुख चाहते हैं। परन्तु सुखका निवास या सुखका मूर्तिमान स्वरूप क्या है—इस सम्बन्धमें लोगोंकी जानकारी उलटी है। ऐसी वस्तुओं या व्यक्तियोंमें लोग सुख मान बैठते हैं जिसके सुखरूप होने की सम्भावना तो दूर, सुखकी छाया भी नहीं है। ऐसे पदार्थोंसे देर-सबेर दुःख ही मिलता है। किसी भी नाशवान् वस्तुसे नित्य-सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध है कि हमारा इष्ट संसारकी कोई वस्तु नहीं है। हमारा इष्ट अविनाशी सुख है और ऐसा केवल ईश्वर है। वह कृष्णके रूपमें प्रकट है। हमारे जीवनका सर्वस्व, समाधि, ब्रह्म, प्यारा एकमात्र कृष्ण है। यह साँवरा-सलोना, मोरमुकुटवारा, पीताम्बरधारी, नन्दकिशोर ही हमारे प्राणोंका स्वामी हृदयेश्वर है। यह निश्चय हो जानेपर ही मानसी सेवा प्रारम्भ होती है।

१—शरीर, मन, स्थान और आसन पवित्र हो।

२—प्रतिदिन एक ही समय और एक ही आसनपर कार्य हो तो मन अच्छा लगता है।

३—संसारकी ओरसे निश्चित होकर सर्वदाके लिये भगवान्‌की सेवाका संकल्प करना चाहिये। नित्य पूजनका नियम रखना।

४—आसनपर बैठकर 'ॐ, ॐ' इस मन्त्रका उच्चारण करके अपने चारों ओर जल छिड़कना और यह भाव करना कि मेरे चारों ओर अग्निकी एक दीवार है और जबतक इसके भीतर बैठकर भजन करता हूँ, कोई विघ्न नहीं आयेगा।

५—पहले यह भाव करे कि मेरे सिरके सामने एक कमलपर मेरे इष्टदेव प्रकट हुए हैं। उनके नखसे अमृतकी धारा प्रवाहित होकर मेरे बाह्याभ्यन्तरको पवित्र एवं सेवा करनेके योग्य बना रही है।

६—शेषनागके सिरपर धरती है। गोदमें विष्णु भगवान् लेटे हैं। यदि शेषनाग हिलें तो धरती हिल जाय। इसीसे वे अचल स्थिर रहते हैं। शेषका

ऐसा ध्यान आसनकी स्थिरतामें सहायक है।

७–भगवान्‌से प्रार्थना करना चाहिये कि हे प्रभो! सब वेद-शास्त्र-पुराण, सन्त-सद्गुरु और आप स्वयं कहते हैं कि ईश्वर सबके हृदयमें है। तब आप मेरे हृदयमें भी अवश्य हैं। तब फिर आप दिखायी क्यों नहीं पड़ते? मानाकि मेरा मन आपसे विमुख रहा है और संसारकी ओर भागता दौड़ता है; तथापि अब आपकी और सन्त-महात्माओंकी कृपासे यह समझ गया है कि संसारमें सुख नहीं है, शान्ति नहीं है। इसीसे सब ओरसे उदास-निराश होकर आपके चरणोंकी शरणमें आया है। प्रभो! इसे अपनाइये—'त्राहि माम्, पाहि माम्!'

८–'आपके दर्शनके लिये मेरा मन मचल रहा है; आँखें तरस रही हैं। प्राण व्याकुल हो रहे हैं। ये कान आपकी मीठी-मीठी बातें सुनना चाहते हैं। ये मेरे दोनों हाथ आपके चरण-युगल पकड़कर हृदयसे लगानेके लिये उतावले हो रहे हैं। हे नाथ! हे स्वामी! प्राणेश्वर! अब अधिक न तरसाइये! कृपा कीजिये! शीघ्र ही प्रकट होकर दर्शन दीजिये।'

९–'हे हृदयेश्वर! हे जीवनसर्वस्व!! मैं सब प्रकारसे अयोग्य हूँ, तथापि आप परम दयालु हैं। (आपसे मुझपर दया किये बिना रहा ही नहीं जायगा)। आप मेरे हृदयकी एक-एक बात—मेरी नस-नस जानते हैं। मुझे आपके दर्शनके बिना रहा नहीं जाता। मन मेरा आपके लिये तड़फड़ा रहा है। आप कहाँ छिपे हैं? आप क्या मुझे अपराधी जानकर रूठ गये हैं? प्रभु, प्रभु! यदि मेरे अपराधोंपर आप दृष्टि रखेंगे तो कोटि कल्पमें भी मेरा निस्तार नहीं होगा। इसलिये हे करुणासिन्धु! आप अपनी अकारण करुणाका एक कण, केवल एक फुहिया मेरे ऊपर डाल दीजिये। मैं आपके चरणकमलोंपर अपना सिर रख दूँ और आप मेरे सिरपर अपने कोमल करकमल रख दीजिये। जब मैं भरे हृदय और गीली आँखोंसे आपकी ओर देखूँ, तब आप मन्द-मन्द मुस्कुरा दें और मधुर-मधुर स्वरसे अमृत बरसाते हुए कह दें—'तुम मेरे हो; हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध अटूट है।' बस, नाथ! मुझे और कुछ नहीं चाहिये।'

१०–'अहो! यह वृन्दावन है, कालिन्दीका कूल है। हरी वृक्षावली है,

खिली लताएँ। ललित लता-निकुञ्ज है; परन्तु प्राण प्यारे ! आपके बिना यह सब सूना-सूना लग रहा है। क्षण-क्षण युगके समान बीत रहे हैं। हृदय व्याकुल हो रहा है। यह फूलोंकी सेज आपके लिये बिछायी है। सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंकी माला मैंने आपके लिए गूँथ रक्खी है। मेरे हृदयकी झारीमें भावका जल आपके पाँव पखारनेके लिये रक्खा है। कितने उत्साह, कितने उल्लाससे यह झारी भरकर रखी थी ! परन्तु हाय, हाय ! आप अबतक न आये ? हृदय फट रहा है, प्राण सूख रहे हैं। अब एक क्षण भी नहीं रहा जाता। मेरी चेतना नष्ट हो रही है, बेहोशी आ रही है। प्रभो ! आइये ! आइये। मेरे पास आ जाइये ! मेरे सामने प्रकट हो जाइये। मेरी ओर देखिये ! मेरी सेवा स्वीकार कीजिये ! मुझे अपना लीजिये ! आप मेरे बन जाइये !'

११—'यह स्थान तो दिव्य गन्धसे भर रहा है ! यह मधुर-मधुर स्वरलहरी कहाँसे आ रही है ? यह शीतल-शीतल दिव्य प्रकाश छा रहा है। नूपुरकी रुनझुन सुनायी पड़ रही है। तब क्या मेरी जन्म-जन्मकी प्यास बुझानेका अवसर आ गया ? धन्य है, धन्य हैं ! वही हैं, वही ! अहा ! कैसी मस्तानी चालसे आ रहे हैं ! बाँकी चितवनसे देख रहे हैं ! मेरी ओर देख-देखकर मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। आओ, प्रभो ! आओ ! मेरी युग-युगकी साध पूरी करो !'

१२—वैसे तो ईश्वर हृदयमें ही रहता है। कहीं जाता नहीं है और कहींसे आता भी नहीं है। मन जब उसके सम्मुख होता है, तभी वह आ जाता है और जब विमुख होता है, चला जाता है। इसलिये हर समय मन ईश्वरके सम्मुख रखना चाहिये। विशेष करके भगवान्‌के मुखकमलपर मुस्कान और चितवनका ध्यान करना चाहिये। भगवान्‌के मनमें बहुत भारी खुशी है और वह मुखारविन्दपर साफ-साफ झलक रही है। आँखसे आँख मिलती है और देखनेवाला भी खुशीसे भर जाता है। यह दोनों ओरसे आनन्दकी लहर उठना ही भगवान्‌का स्वागत है। जहाँ यह आनन्दका स्वागत होता है, वहीं भगवान् आते और ठहरते हैं।

१३—मन ईश्वरके सम्मुख तो हो, परन्तु टिके नहीं; तब ईश्वर बैठे कहाँ ? शीतल स्थानमें कोमल कमलपर स्थिरताका आसन देना चाहिये।

शीतलका अर्थ है कि मनमें जलन न हो किसी प्रकारकी ।

कोमलताका अर्थ है स्नेहसे तर–नरम होना ।

स्थिरता माने मनका चञ्चल न होना । आसनका हिलना अच्छा नहीं है ।

१४–स्नेहका जल, श्रद्धाके फूल, भावके अक्षत, सद्‌गुणोंकी सुगन्ध, सम्बन्धकी मधु लेकर पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क आदि क्रिया करनी चाहिये ।

पाद्य–भगवान्‌के पाँव प्रेमसे पखारना ।

अर्घ्य–भगवान्‌के करकमलोंपर जल, फूल, दूर्वा आदिका अर्पण, हाथ धुलाना ।

मधुपर्क–सत्कारकी एक रीति । यह आदरणीय पुरुषोंको चटाकर की जाती है । भगवान्‌की पूजामें उनके साथ जो सम्बन्ध है–माँ, बाप, पति, पुत्र, गुरु आदि मधुवत् मीठा है ।

१५–भगवान् नित्य शुद्ध हैं । उन्हें स्नानकी आवश्यकता नहीं है । मायाकी मैल उनका स्पर्श नहीं कर सकती । फिर भी भक्तोंकी सेवा स्वीकार करके उन्हें सुखी करनेके लिये उनके हाथसे स्नान भी करते हैं । दूध, दही, घी, मधु और शुद्ध जलसे स्नान मण्डपमें रत्नसिंहासन पर बैठकर उन्हें स्नान कराना चाहिये । भगवान्‌के लिये नये-नये स्नान मण्डप, श्रृंगार मण्डप, भोजन मण्डप, शयन मण्डप, विहार मण्डप, सभा मण्डप आदि, जहाँ भगवान् रहते हैं, वहीं अपने-आप चिन्मय होनेके कारण समय-समयपर स्वयं प्रकट होते रहते हैं । भगवान्‌को कभी-कभी ठण्ड और गरमी भी भासने लगती है । भगवान्‌का भाव उनकी आँख और चेष्टासे जानकर अथवा उनकी आज्ञाके अनुसार ठण्डे और गरम जलसे स्नान कराना चाहिये । मानस पूजामें स्नान न करायें तब भी कोई हानि नहीं है ।

१६–भगवान्‌के वस्त्र भी पँचरंगे होने चाहिये । पृथ्वीका पीला, जलका श्वेत, अग्निका लाल, वायुका बैंगनी और आकाशका नीला । सभी तत्त्वोंमें जो श्रेष्ठ और सार-सार (अहंकार) अंश हैं, उन्हें निकालकर तब रंग बनता है । आत्मा रुई, बुद्धि सूत, मनकी चिकनाई, पाँचो तत्त्वोंके रंग इन्हींसे वस्त्र

बनाकर भावसे धारण कराया जाता है। सम्बन्धका यज्ञोपवीत, अनुरागका अंगराग, शीतलताका चन्दन और चेतनताका आभूषण तथा भावके पँचरंगे पुष्पोंकी माला पहनाकर भगवान्‌को अपने हृदयका दर्पण दिखाना चाहिये।

१७—तीनों गुणकी धूप जलाकर, उसमें जो व्यापक ब्रह्मकी सत्ता है, उसकी फैली हुई सुगन्धका अनुभव कराना चाहिये और ज्ञानका दीप सँजोकर उसीके प्रकाशमें भगवान्‌के चम-चम चमकते आभूषण और छवि-छलकते अंगकी झिलमिल जगमगाहटका दर्शन करके आनन्दित होना चाहिये।

१८—पृथ्वीकी सुगन्ध, जलकी मधुरता, अग्निकी सुन्दरता, वायुका कोमल स्पर्श—सबका सब समेटकर हृदयाकाशमें, भावसे पके प्रेमका नैवेद्य भगवान्‌को लगाना चाहिये। भगवान् देखकर प्रसन्न होते हैं। कोई-कोई पदार्थ पसन्द आता है तो और माँगते हैं। कभी आँख मिल जानेसे उनकी प्रसन्नता देखकर अपना हृदय आनन्दसे भर जाता है। उनके सुखमें ही अपना सुख है। मुखवास आदि भी अर्पण करना चाहिये।

१९—संसारकी सारी बाहरी सम्पत्ति, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन—मनमें रहनेवाले संकल्प, अहंकार, ममता, सम्बन्ध आदि सब कुछ, बुद्धि, उसमें रहनेवाले विचार, निश्चय आदि, जीव-जैसा पहले था, अब है और आगे होगा-सब भगवान्‌का ही है। यह सत्य सिद्धान्त समझना, मानना और याद रखना, बादमें कभी न भूलना—निरन्तर अनुभव होना-यही भगवान्‌को आत्मसमर्पण है।

२०—आरतीमें पाँच वस्तुएँ रहती हैं। पृथ्वीकी गन्ध, जलकी स्नेहधारा-घी, आगकी लौ, वायुका हिलना, आकाशकी ध्वनि। सम्पूर्ण संसारसे भगवान्‌की आरती हो रही है।

वैसे अपने देहका दीपक, जीवनका घी, प्राणोंकी बाती और जीव-भावकी लौ संजोकर भगवान्‌के इशारेपर नाचना-यही आरती है। इस सच्ची आरतीके करनेपर संसारका बन्धन छूट जाता है और जीवको भगवान्‌के दर्शन होने लगते हैं।

२१—ईश्वरके लिये हमारे मनमें जो उत्तम-उत्तम भाव उठते हैं, वही पुष्प हैं। कभी उनका अनुभव करके शान्त हो जाना, कभी उनकी सेवा करना, कभी

उनसे हँसना-खेलना, बात करना-मानो मित्र हों, कभी वात्सल्यसे खिलाना-पिलाना, दुलारना-मानो वे कोई अल्हड़ शिशु हों, कभी पत्नीके समान प्रेम करना-यही सब भाव हैं। इन्हीं सब भावोंको भगवान्‌के साथ बार-बार जोड़ना-इसीको पुष्पांजलि कहते हैं। यही सब करते-करते भगवान्‌में समा जाना-मानो आनन्दके समुद्रमें डूब रहे हों, यही डूबना-उतराना भगवान्‌की मानसी सेवा-पूजा है।

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

'भाई ! अपनी बुद्धिमें शुद्ध ज्ञान, शुद्ध बोध रखना हो तो उसे निर्विषय बनाओ। 'मैं-मेरापन' मिटाओ ! गिलासमें मिट्टी भरी हो तो उसमें डाला हुआ दूध बिगड़ जायगा। इसलिये अपने हृदय-गिलास-अन्तःकरणको शुद्ध कर लो।'

● ● ●

(५३)

परम प्रिय,

सप्रेम नारायण स्मरण ।

तुम तो साक्षात् ब्रह्म हो ! शरीर और संसार बिना हुए ही भास रहे हैं । शरीर और इससे होनेवाली क्रिया तो स्वप्नकी क्रियाके समान है । पति और बच्चे स्वप्नके हैं तो शरीर भी तो स्वप्नका ही है । क्या शरीरकी निवृत्ति ही तुम्हारी निवृत्ति है ? शरीरके काम न करनेसे तुम अकर्ता हो और यदि वह काम करे तो तुम कर्ता हो जाते हो ? यह सब देहाभिमानकी बातें हैं । शरीरको ही ब्रह्म मत बनाओ । इसको सहज स्वाभाविक कर्म करने दो ! जबरदस्ती मत रोको ! रोकना भी तो कर्म ही है ! करनेमें विक्षेप है तो रोकनेमें क्या कम विक्षेप है ? जब तुम अपने ब्रह्मस्वरूपको साक्षात् जानते हो तो तुम्हारी दृष्टिमें निवृत्ति और जीवन्मुक्ति सब झूठी कल्पना है । पैसाका होना न होना सब बराबर है । विचार होनेपर किसी एक बातकी जिद नहीं रहती । तुम आग्रह छोड़कर, जब जो सामने आये, समभावसे उसे होने दो; प्रकाशते रहो ! अधिष्ठान या प्रकाशक अपनेमें किसी भी प्रतीतिको रोकता नहीं है ।

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

(५४)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

केवल ईश्वर मान लेनेसे या उसका निश्चय करलेनेसे ही कोई भक्त या प्रेमी नहीं हो जाता। जब संयोगका स्वाद और वियोगका दुःख होता है तब प्रेम रसायन परिपक्व होता है। रसायन बनानेके लिये कभी आँच देनी पड़ती है, कभी ठण्ड। अपने इष्टसे जब विरहकी भावना होती है, तब आग ही आग लग जाती है सारे शरीरमें। छाती फटने लगती है। 'आह-आह' करते हैं। धड़कन बढ़ती है। रग-रग चटखने लगती है। क्षण-क्षण वेदना ही बढती है। कभी मृत्युका भी दर्शन होता है; परन्तु कभी इसी व्याकुलतामें ऐसा ध्यान हो जाता है कि विरहसे ही मानो संयोग निकल आया हो। प्राण तृप्त हो जाते हैं, नस-नस तर हो जाती है, आँखें आनन्द रससे पूर्ण। यह हमारा अनुभव है। जब कभी स्वस्थ मनसे सोचते हैं—ऐसा ध्यानके बाद खास करके मिलनकी रसानुभूतिके बाद ही होता है-तब स्पष्ट मालूम पड़ता है कि हमारे इष्टकी हित भावना ही संयोगका अमृत और वियोगकी कड़वाहट-दोनों ही लेकर आती है और वह हमारे हृदयको अपने साँचेमें ढाल रही है। किसी नव निर्माणमें कुछ हथौड़े-टाँकीकी चोट जरूर खानी पड़ती है ! बिना घिसे, बिना पिटे कोई हीरा सुडौल हुआ है ? जो दुःख और पीड़ासे घबराता है-ऐसे बुजदिलको अपने इष्ट-प्रेमके पथ पर पाँव रखनेका कोई हक नहीं है। यह तो काँटोंका मार्ग है।

जब किसी संसारी पत्नीको मालूम पड़ता है कि मेरा पति ईश्वरसे प्रेम करने लगा है, तब वह यह समझने लगती है अनजानेमें ही, कि अब इनका प्रेम मुझसे कम हो जायगा। वह रोकती है। पर लगन दूसरी चीज है। गंगाजीकी धारा समुद्रमें पहुँचती है। रास्तेकी चट्टानें तोड़नी पड़ती हैं, खाइयाँ भरनी पड़ती हैं, पेड़ उखाड़ने पड़ते हैं, गाँवके गाँव तहस-नहस कर देने पड़ते हैं। प्रेमकी धाराड़ शक्तिमें बेजोड़ है, उसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता।

साधु पत्र लिखेगा तो ईश्वर-प्रेमके सिवा और क्या लिखेगा ? संसारी लोग जिस प्रवाहमें जा रहे हैं, वह न हमें चाहिये न उसमें हमारी रुचि है। हमारा दिलवर अपने दिलमें, हम उसके ख्यालमें मग्न। हमें धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष भी नहीं चाहिये। चाहिये अपने प्रियतमका प्रेम। उसकी प्यारभरी चितवन एवं मुस्कानका केवल एक कण। हम भी मीराकी तरह गाते हैं–

'प्यारे, दर्शन दीज्यो आय !'

तुम्हारा–
अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

परम प्रिय,

सप्रेम शुभाशीर्वाद।

मेरी इन बातों का ध्यान रखना :-

१. अपने व्यवहार में कोई ऐसी त्रुटि न आ जाय कि घर के लोग ऐसा समझने लग जायँ कि इसका प्रेम कम हो गया है।

२. यह बार बार भान कराओ कि सत्संग से मेरा मन अच्छा हुआ है, उससे लाभ है, प्रसन्नता है इत्यादि।

३. किसी बात के लिये उतावली मत करो। धैर्य का फल मीठा होता है। आज नहीं तो दस दिन बाद सभी रास्ते पर आजायेंगे।

४. विश्वास रखो तुम्हें तुम्हारा ईश्वर कभी नहीं छोड़ेगा, उसका भी एक संकल्प है। वह सर्वदा सोते जागते तुम्हारे साथ है। वह तुम्हारी सांस तक गिन लेता है और तुम्हारी दिल की धड़कन भी सुनता है।

५. बाहर से पत्थरकी मूर्ति या चित्रपट दीखता है, उसको ईश्वर मानकर पूजा जाता है। सुपारी के गणेश और गोबर की गौरी। यदि तुमने एक जलते फिरते जीवित व्यक्ति को अपनी श्रद्धा प्रीति अर्पित की है तो वह तुम्हारे लिये कल्पवृक्ष सिद्ध होगा। उसके सामने तुम जो मनोरथ करोगे, पूर्ण होगा। तुम्हारा कल्पवृक्ष जड़ नहीं, चेतन है और वह तुम्हारी वेदना और समर्पण को समझता है।

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

(५५)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

हम तो साधु लोग हैं। घर-स्त्री-बच्चे सभी छोड़कर आये हैं। कमाई भी, यश-प्रतिष्ठा भी। राग-रोग भी। अपने जिस इष्ट-लक्ष्यके लिये सब कुछ छोड़ा है—उसीके लिये जीते मरते हैं। हर हालतमें रहते हैं। हमारा एकान्त वास और उदासीन भाव भी लोगोंकी श्रद्धाको बढ़ाता ही है, यद्यपि हमें श्रद्धाकी कोई जरूरत नहीं हैं।

तुम कहते हो—अपने इष्टदेवकी विरह भावना बढ़े। मैं कहता हूँ, संयोग-भावनाका रस उदय हो। दिल छूने वाली बात क्या लिखूँ ? एक दिन राधा रानीने कहा था—'सखि ! मेरे हृदयमें अपने प्राण प्यारेके प्रति सच्चा प्रेम नहीं है; क्योंकि प्रेमकी शक्ति पहाड़ तोड़ देती है, समुद्र फाँद जाती है। सच्चे प्रेममें विरह नहीं होता। यदि विरह हो जाय तो जिये कौन ? सचमुच प्रेम मारकर भी पिण्ड नहीं छोड़ता। यह तो वह रोग है जो मारकर जिलाता और जिलाकर मारता है।

राधा-कृष्णके प्रेमका रहस्य बहुत विलक्षण है। आजकाल लोग भोग-विलासको ही प्रेम समझते हैं। यदि वे राधा-कृष्णके प्रेमको जानें तो उनकी आँखें खुल जायँ। संस्कृतमें सर्पके लिये भोगी शब्द आता है। वह तो अपने प्रियतमकी हिंसा कर देता है। यौवन-जीवनका ह्रास क्या प्रेम है ? राधा-कृष्णके प्रेममें प्राकृत भाव नहीं है। वहाँ प्रेम है, मोह नहीं। योग है, भोग नहीं। श्रृंगाररस है, अंगसंग नहीं। अनुराग है, आसक्ति नहीं। वियोग है, पर तनका, मनका नहीं। दूरी है, परन्तु दूरीकी स्फूर्ति नहीं है। वहाँ परपुरुष है; परन्तु अधर्म नहीं है। व्यवहार सारा है, परन्तु विस्मृति नहीं है। लोक-परलोकका त्याग है, परन्तु मर्यादाका उल्लंघन नहीं है। वे तो

'मिलेइ रहत मानों कबहुँ मिले ना।' अथवा-

'न आदि न अन्त विलास करें दोऊ,
लाल प्रियामें भई न चिन्हारी।'

आज यदि संसारी लोग उस प्रेमको पहचान जायँ, तो धरती स्वर्ग हो जाय।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

(५६)

वृन्दावन

प्रिय व्रजमोहन,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

तुम्हें यह बात मालूम है कि जिन्हें तुमने अपना गुरु माना है और जो निरन्तर ही तुम्हें अपने आत्माके रूपमें अनुभव करते हैं, वे क्या कभी किसी क्रिया या कारणवश-जिन्हें वे मिथ्या प्रतीतिमात्र देखते हैं, तुमसे—अपने प्यारे आत्मासे रुष्ट हो सकते हैं ? इस प्रकारकी भ्रान्ति या कल्पना अपने अन्तःकरणमें नहीं बसाना । हमारी-स्वीकृति किसी भी कारणसे टूट नहीं सकती । हमारे विवाहमें सम्बन्ध-विच्छेद नहीं ।

अपने प्यारे आत्मा !

मैने तुम्हारे भविष्य और आध्यात्मिक प्रगतिके कुछ स्वप्न देखे थे । बड़ी आशा थी, वे सत्य होंगे; परन्तु उन्हें निष्फल देखकर अपनी कल्पनाकी व्यर्थता अवश्य अनुभव होती है । सच पूछो तो आत्मरूपसे ही नहीं, मैंने तुम्हारे दृश्यमान शरीरसे भी बहुत प्यार किया है । उसको भी मैंने संसारके चमकते सितारोंमें देखना चाहा था; परन्तु तुमने मन और तनको भी कुछ ऐसी संकीर्णतामें उलझा दिया है और परिस्थितिको कुछ ऐसा जटिल बना दिया है कि मैं अभी क्या कहूँ ? इतना ही कह सकता हूँ कि मैं तुम्हारे साथ हूँ, दुःखमें, सुखमें, नरकमें भी । मैं कभी तुम्हें छोड़ नहीं सकता । अपने अन्तरात्मासे पूर्ण प्रेमसे मैं तुम्हें अपने ब्रह्म आलिंगनमें बाँध लेनेके लिये प्रणय आमन्त्रण देता हूँ । तुम अन्धकारमें मत भटको ! मेरी आत्मीयता और प्रेम तुम्हें चारों ओर घेरकर तुम्हारी रक्षा करे । तुम अपने आत्माकी पूर्णताको देखो और एक झटकेमें संसारका बन्धन तोड़ दो ।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

(५७)

वृन्दावन

परम प्रेमास्पद आत्मा !

तुम्हारे मनमें श्रीकृष्णके प्रति जो प्रेम है और निरन्तर जो बढ़ रहा है--इसके लिये तुम्हें क्या लिखूँ ? तुम्हारे भावको पढ़कर हृदय गद्‌गद हो जाता है। यह ईश्वरकी कृपा और तुम्हारा सौभाग्य है। इतने भोग-रोग, वैभव-सम्पत्ति और चमक-दमक में रहते हुए इतना कृष्णप्रेम ! सचमुच कृष्णको भी तुम्हारा ऋणी होना पड़ेगा।

'प्रेम कनौड़ो राम सो, त्रिभुवन तिहुँकाल न भाई।
तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों, ऐसी मानिहि को सेवकाई॥'

रुक्मिणीका सन्देश पाकर कृष्णने कहा था—'ब्राह्मण देवता ! मैं अपनी हालत क्या बताऊँ ? मुझे रुक्मिणीके सिवा कुछ और सूझता ही नहीं। रात-दिन नींद नहीं, क्षणभर चैन नहीं। क्या मैं रुक्मिणीको प्राप्त किये बिना सुखी रह सकता हूँ ?' ऐसे कृतज्ञ हैं श्रीकृष्ण ! उनके प्रति तुम्हारा प्रेम अवश्य ही उन्हें तुम्हारे पास खींच लायेगा।

एक दिन श्रीकृष्ण गोवर्धनकी उपत्यकामें बैठकर बाँसुरी बजा रहे थे—रा.....धा, रा.....धा ! ऐसी स्वर लहरी गूँज उठी कि उस ध्वनिपर सरस्वती मोहित हो गयीं। श्रीकृष्णने जब बाँसुरी बजाना बन्द किया, अपना अनुसंधान हुआ—देखा, अरे ! यह क्या ?

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा,
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले, गगने च राधा,
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी ?

'सामने-पीछे, दायें-बायें, नीचे-ऊपर, सब जगह राधा ही राधा। यह क्यों, सारी दुनियामें राधा ही राधा !' श्रीकृष्णकी यह तन्मयता देखकर सरस्वती मोहित हो गयीं। उन्होंने कृष्णसे प्रार्थनाकी—'मुझपर भी प्रेमदृष्टि कीजिये।' श्रीकृष्णने उनका तिरस्कार कर दिया। वे बाँस बनीं—जड़ हो गयीं। फिर कृष्णने

दूसरे जन्ममें उनकी बाँसुरी बनायी ।

श्रीकृष्ण प्रेमस्वरूप हैं । प्रेम क्या है ? कोमल हृदयमें ममताकी पराकाष्ठा । ममताकी अभङ्ग गाढ़ता । रस और अतृप्ति ।

'मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिले ना ।'

'जनम अवधि हम रूप निहारेनु, नैन न तिरपित भेलु ।'

और क्या लिखूँ ? जो तुमने पूछा–प्रेमका उदय होनेपर प्राथमिक लक्षण, सो संक्षेपमें इस प्रकार हैं–

(१) **क्षमा–**कोई अपराध करे अर्थात् प्रेममें बाधा डाले (क्योंकि प्रेमीकी दृष्टिसे और कोई धन-जन-यश आदिकी हानि अपराध नहीं है) तो क्षमा कर दे । क्योंकि अपराधीसे उलझनमें तो प्रियतमकी विस्मृति होगी और उसीके मनका हो जायगा ।

(२) **अपना समय व्यर्थ न बिताये–** प्रेमीकी दृष्टिसे व्यर्थ समय वह है, जो प्रियतमके स्मरण चिन्तनसे रहित बीते । मानसिक रूपसे अपने सम्पूर्ण भाव प्रियतमके साथ जोड़ना खाना-पीना, सोना, चलना-फिरना । शौच-लघुशंका आदि भी इसलिये कि तन-मन हल्का होनेपर उसका चिन्तन अधिक होगा ।

(३) **विरक्ति–** अपने प्रियतमके सिवा और किसीसे राग न हो । किसी वस्तु, व्यक्ति और स्थानका रंग न चढ़े; शरीरसे भी प्रेम इसलिये हो कि यह उसका है । गोपियाँ अपने शरीरको इसलिये सजाती थीं कि उससे उनके प्रियतमको प्रसन्नता होती थी ।

(४) **अभिमान न करना–** अपने गुण, रूप, सौन्दर्य, विद्या, बड़प्पन आदिका अभिमान हृदयमें प्रियतमकी जगह 'मैं' को बिठा देता है । रासलीलामें कृष्ण तब अन्तर्धान हुए जब गोपियोंने अपनेको सुन्दर समझा ।

(५) **मिलनकी आशा बँधना–** वास्तवमें परस्पर विश्वास ही प्रेमका प्राण है । इसके बिना प्रेम मर जाता है । प्रतिकूल परिस्थितिमें भी–विरुद्ध क्रिया होनेपर भी अपने प्रियतमके हृदयमें पूर्ण प्रेम मेरे प्रति है–ऐसा भाव बना रहे । मिलन होगा शीघ्र । मिलेंगे राम, मिलेंगे राम ! गोपियाँ प्रतिदिन घर, शरीर साफ करतीं, मक्खन निकालतीं, रास्तेमें पलक-पाँवड़े बिछातीं, कुञ्जोंमें घूमतीं–'शायद आज एकाएक आ जायँ ।' जीवनभर आशा न टूटी । वही सायं,

वही प्रातः, वही आशा ।

(६) **उत्कण्ठा—** केवल आशा ही आशा नहीं। तुम्हारे दर्शनके बिना पल-पल, कल्प-कल्पके समान बीत रहे हैं । प्राणोंकी छटपटी, आँखोंकी प्यास समझाने-बुझानेसे नहीं बुझती । प्यारे श्याम ! तुम्हारे मुखचन्द्रके दर्शनके लिये उत्कण्ठित प्राण अपनी साँसत सहनेमें असमर्थ होकर कण्ठसे आ लगे हैं। अवश्य ही ये तुम्हारे दर्शनकी आतुरतामें शरीरसे बाहर भाग जाना चाहते हैं । निमेष युग, आँखें वर्षाऋतु, जगत् शून्य—**'आओ प्राणनाथ ! अब प्राण लागे मुरझान'**

(७) **नामसे प्रेम—** नाम जीभसे चिपक जाता है। एक बार ललिता सखीने कहा—'स्वामिनि ! देखो, यह है कुन्द कुञ्ज ।' श्री राधारानी बोलीं— 'इस 'मु' कारसे रहित 'कुन्द-कुञ्ज' से क्या प्रयोजन ? अर्थात् मुझे तो मुकुन्द-कुञ्ज चाहिये ।'

'कुन्दकुञ्जममुं पश्य गायद्भ्रमरकोकिलम् ।
जमुना कुन्दकुञ्जेन सखि नः किं प्रयोजनम् ॥'

ग्वालिन चली दही बेचने—

'दधि भाजन सिरपै लिएँ हो, कहति गोपालहिं लेहु ।'

एक सखी गाती है—

'कृष्ण नाम जब तें स्रवन सुन्यौ री आली,
भूली री मौंन हौं तो बावरी भई री ।
भरि-भरि आवैं नैंन, चित्तहूँ न परै चैन,
मुखहूँ न आवै बैंन, तनकी दसा कछु और भई री ॥

मनमें नाम घूमता ही रहता है ।

(८) **अपने प्रियतमका गुण गाते-गाते तृप्ति नहीं होती ।** मन उसीके पास मँडराता रहता है । प्रसंग-बेप्रसंग उसीकी चर्चा चल जाती है । कमलसे कमलनयनपर, मेघसे मेघश्यामपर पहुँचते देर नहीं लगती । प्रेम इसी मायनेमें अन्धा है कि उसे अपने प्रियतमके दोष नहीं दीखते । प्रियतमके ऐसे गुणोंका पता, जिनको वह स्वयं नहीं जानता, प्रेमीको होता है । इसी अर्थमें प्रेम ज्ञान भी है । वैसे दोष देखकर भी प्रेम घटता नहीं, और बढ़ता है । क्योंकि जिस

समय अपना प्रियतम मार्ग भूल गया हो, उसी समय तो उसे प्रेमीकी सेवाकी जरूरत है। जो प्रेमी अपने प्रियतममें दोष देखकर उदासीन हो जाता है, उसे कभी प्रेम हुआ ही नहीं। यह भी जरूरी नहीं है कि प्रियतम अपने प्रेमीसे प्रेम करे। उसकी स्वतन्त्रतामें कोई प्रेमी भला, बाधा कैसे डाल सकता है ? इसलिये अपने प्रियतम का दूसरेसे प्रेम करना भी बुरा नहीं लगता। वहाँ भी गुणकी ही कल्पना होती है–'चलो किसीसे उसको सुख तो मिलता है।'

(९) **अपने प्रियतमके निवास स्थानमें प्रीति–**

उसके कूचेमें सदा मस्त रहा करते हैं।
वही बस्ती, वही नगरी, वही बन॥
जबसे उस शोखके फन्देमें फँसे, टूट गये–
जितने थे मज़हबो-मिल्लतके जहाँमें बन्धन॥
नामको पूछो तो है नाम हमारा आशिक।
इश्कके मेल हम प्रेमका करते हैं बरन॥
पन्थको पूछो तो जोगी न जनमके न अतीत।
सबसे आजाद हुए यारका लेकर दामन॥
गर रहें जीते तो जीनेकी नहीं फिक्र हमें।
और मर जायें तो हरगिज नहीं परवाहे कफन॥
जा पड़ें यादमें उस शोखकी, जिस बस्तीमें।
वही गोकुल है हमें और वही वृन्दावन॥

तुम्हारा–
अखण्डानन्द सरस्वती

• • •

(५८)

वृन्दावन

परम प्रेमास्पद आत्मा !

संस्कृतमें एक 'विदग्ध माधव' नामका ग्रन्थ है। अभी उसका हिन्दीमें अनुवाद नहीं हुआ है। उसमें एक संवाद है—ललिता सखीने पौर्णमासी पुरोहितानीजीसे पूछा—'पुरोहितानीजी, हमारी किशोरीजी कृष्णकी किस विशेषतापर रीझ गयी हैं ?'

पुरोहितानी—"ललिते ! प्रेमकी चाल निराली है। हमेशा टेढ़ा चलता है। बुलाओ तो भाग जाय। मुँह फेर लो तो सामने आके खड़ा हो जाय। तारीफ सुनकर नाराज, तो निन्दा सुनकर खुश; क्योंकि प्रेमका उदय गुणके आधारपर नहीं होता। भोग उसका उद्देश्य नहीं है। इसलिये दोषदृष्टिसे वह घटता नहीं, गुणसे बढ़ता नहीं। प्रेम तो अपने दिलका रस है, प्राणोंकी प्यास है। वह विषको अमृत बना देता है। वह अपने प्रियतमके दोषोंको देखते ही कहता है-'इसी समय तो मेरी सबसे अधिक आवश्यकता है।' प्रेमकी प्रक्रिया अनिर्वचनीय है, उसकी चाल निराली।

धर्मकी गति शरीर तक है, प्रेमकी हृदय तक। असलमें वही जीवनका रस है। प्रेममें रस है; परन्तु तृप्ति नहीं। मिलन है, भोग नहीं। वियोग है, पर मनसे नहीं। पीड़ा होती है, पर एक मिठास लिये हुए। आशा प्राण है, स्मृति सहचरी। विश्वासकी गोदमें दोनों खेलते हैं।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

(५९)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

तुम्हारे प्रति श्रीकृष्णकी कितनी कृपा, प्रेम और ममता है—यह मुझे प्रत्यक्ष है; क्योंकि बचपनसे ही मैं आध्यात्मिक वातावरणमें रहा हूँ और कृष्णके कृपापात्रकी मुझे पहिचान है। प्रलोभन तो तब मनपर हावी होता है जब उसे हम महत्त्व देते हैं। क्या तुम्हारे हृदयमें जो अपार प्रेम-सम्पत्ति भरी है और कृष्ण, उससे अधिक किसीका मूल्यांकन है ? बिल्कुल बेफिक्र, जहाँ तुम्हें ले जाया जाय, जाओ ! जो तुमसे तुम्हारे धर्मके अनुकूल कराया जाय, करो। हँसो, खेलो, खुश रहो और खुश करो। कृष्ण तुम्हारा दिल देखता है। वह तुम्हारी किसी क्रिया, किसी रहनीसे तुष्ट-रुष्ट होनेवाला नहीं है। वह तो तुम्हारा आत्मा ही है। तुम्हारे पूर्ण सन्तोषका नाम ही ईश्वरकी प्रसन्नता है। मेरा सम्पूर्ण, ममता, आशीर्वाद और ध्यान तुम्हारी रक्षा करेंगे।

प्यारे, तुम अपने मनसे क्यों डरते हो ? क्या वह तुम्हारा है ? वह जिसको अर्पित है, जिसका है, वही उसकी सम्हाल करेगा। तुम देखते चलो ! राधा और कृष्ण—दोनोंकी प्रत्येक चेष्टा,. भाव और स्थितिका संचालक एवं प्रकाशक प्रेम ही है। उन्हें भी वही करना पड़ता है जो प्रेम कराता है; क्योंकि प्रेमका यह सहज स्वभाव है कि वह जिस अन्तःकरणमें उदय होता है उसको सम्पूर्ण रूपसे अपने वशमें कर लेता है। यदि वह एकाङ्गी हो तो एकको और दोनोंमें हो और समरस हो तो दोनोंको नाच नचाता है, जिसकी थिरकनपर विश्व ताल देने लग जाय। इस पराधीनताके साथ ही एक दूसरेको सुख पहुँचानेकी और अनुकूलताकी भावनाका चरम उत्कर्ष भी देखनेमें आता है। देखो, श्रीराधारानी पूर्ण तृप्तिके साथ गुनगुना रही हैं—

'जोइ जोइ प्यारो करै सोई मोहिं भावै।
भावै मोहिं जोइ, सोइ सोइ करै प्यारो॥
मोकौं तो भावती ठौर प्यारेके नैंननमें।
प्यारे भयो चाहैं मोरे नैननके तारे॥'

इसके अतिरिक्त एक तृप्तिमें अतृप्ति—**'पियत हूँ प्यास'** नामकी वस्तु

प्रेमका अन्तरंग अंग है। जब प्रिया-प्रियतमके बीचमें देश-काल आ घुसते हैं अर्थात् दूरी और देरी आ पड़ती है, तब विरह होता है और उस समय—**'निमिष कल्प सम जात'** वाली बात होती है। परन्तु मिलनेका समय भी अनिर्वचनीय प्यास, बेचैनी और तड़पन देकर और रसवृद्धिका कारण बनता रहता है।

'प्यास ही को रूप मानों प्यारीजूको रूप है।'

'मिलेइ रहत मानों कबहुँ मिले ना'

'अरबरात मिलिबे कूँ निमिदिन'

श्री राधा-कृष्णके मिलनके समय करवट बदलने या रोमांच होनेसे भी व्याकुलता होती है। प्रेमकी प्रक्रिया, प्रणाली, शैली, ढंग यही है। इसमें कभी बासीपन नहीं आता।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

मान, नाम विपरीत, परस्पर साथ न रहत।
नामी नामका रूप, हृदय द्रव लोचन बहते।
प्रियतमका प्रतिबिम्ब झलकता है उसमें ही।
मधुर प्रीतिके रंग छलकते हैं उसमें ही।
छोड़ो मनका कठिनपन, तोड़ो झूठे मान।
गला राम-रससे हृदय, देखो निज भगवान॥

● ● ●

(६०)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

अपने शरीरके सम्बन्धमें जहाँतक जानकारी देनेका प्रश्न है, उसके लिये तुम बेफिक्र रहना; क्योंकि यह साधुका शरीर है और इसका सगा-सम्बन्धी नहीं है। यह तो एकमात्र अपने इष्टदेवताको समर्पित है। उसीका है, उसीके लिये है, उसीके दिये अन्न-रससे यह पलता है। उसकी वस्तु मान कर ही इसके साथ सारे व्यवहार होते हैं।

गोपियोंके प्रेमका वर्णन करते हुए श्रीकृष्णने कहा है—'गोपियाँ अपने शरीरको मेरा मानकर ही सजाती-सँवारती हैं, इसलिये उनसे बढ़कर मेरा कोई प्रेम-भाजन नहीं है।' शरीरकी स्थितिके लिये बाह्य रसकी जितनी आवश्यकता होती है, उससे अधिक आन्तर रसकी। तुम यह निश्चय रखना, आन्तर रस जितना मेरे पास है—चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते मुझे आन्तर रस--इष्टदेवताकी स्फूर्ति होती रहती है। इसलिये मैं बाहरी स्थितियोंसे लापरवाह रहता हूँ। इसीसे शायद शरीरमें कुछ रोग रहते हैं; किन्तु उनका मुझे कोई खास ख्याल नहीं होता।

एक बार साधुसे किसी सेठने पूछा—'महाराज ! आप कभी-कभी हमारी याद तो कर लेते होंगे !' साधुने कहा—'सेठ, मैं तुम्हारी याद तो बहुत करता हूँ; परन्तु तब, जब ईश्वर भूल जाता है।'

अपने शरीर और दूसरोंकी भी स्मृति तभी होती है, जब अपना इष्टदेवता मनमें न हो। मैं तुमसे अपने मनकी स्थिति स्पष्ट बताता हूँ और इसलिये बताता हूँ कि तुम्हारे मनमें भी तुम्हारे इष्टदेवता कृष्णकी स्मृति रखनेमें सहायता मिले। मुझे अधिकांश अपने भगवान्‌की स्मृति रहती है।

मेरे शरीरमें जो रोग हैं, वे या तो मेरी लापरवाहीसे या मनमें जो कभी-कभी व्याकुलता होती है कृष्णके लिये—उससे। पर वह रोग भी सुखद होता है। किसी भक्तने कहा है—'प्यारे कृष्ण

'तेरी यादने दिलमें जो दर्द दिया,
तो ऐसा मजा मैंने उसका लिया।

न करूँ, न करूँ, न करूँ मैं दवा,

मैंने खाई है अब तो दवाकी कसम ॥'

हमारे रोगको संसारी रोग समझकर उसकी चिन्ता मत करना। वह तो आध्यात्मिक रोग है। मैं शरीरको ठीक रखनेका प्रयास कर रहा हूँ।'

अपने सम्बन्धमें बहुत लिख चुका। धर्म-कर्मकी बात शायद तुम्हें रूखी लगे। अब तुम्हारे मनोरंजनके लिये, क्योंकि तुम्हारा मन विदेशके कोलाहाल और भोग-विलासके वातावरणसे ऊबता होगा—जरूर कुछ न कुछ भगवत्सम्बन्धी प्रेमका रस चाहता होगा; तुम्हारे हृदयमें भक्ति बढ़े, इसलिये यह प्रसंग लिखता हूँ।

श्री राधारानीने एक तोता पाल रखा था। जब उनके मनमें श्रीकृष्णसे मिलनेकी तीव्र लालसा या व्याकुलता होती—एक गाँवमें रहकर भी मिलनेका अवसर नहीं मिलता—तब उनका हृदय वेदनासे तड़पने लगता और वे अपने तोतेको लेकर एकान्तमें चली जातीं और उसको पढ़ातीं—

दुरापजनवर्तिनी रतिपत्रपा भूयसी

गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौस्थ्यं गता।

वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये

न जीवति तथापि किं परम दुर्मरोऽयं जनः ॥

'दुर्लभ पुरुषसे प्रेम हो गया। लज्जा मनमें बहुत है। इधर घरवाले बड़े-बूढ़ोंके उगले हुए विषकी वर्षासे दिमाग खराब हो रहा है। शरीर दूसरेका हो चुका है। अच्छे कुलमें जन्म हुआ; फिर भी तो मैं जी रही हूँ।'

यह श्लोक सीखते-सीखंते वह तोता उनके हाथपरसे उड़ गया। जहाँ कृष्ण गौएँ चरा रहे थे, वहाँ पहुँचा। उनके हाथ पर बैठकर वही श्लोक बोलने लगा। श्रीकृष्ण पहिचानते थे कि यह तोता किसका है। उसे बहुत प्यार किया। उन्होंने भी उसको एक श्लोक रटा दिया। श्लोक तो याद नहीं, उसका भाव है—'जबसे मैंने मुँहसे कुछ प्यारी-प्यारी प्यारीजूकी बात सुनी है, अब न मनमें गोचारणकी रुचि रही, न वनगमनकी। गौएँ और ग्वाल भी नहीं भाते हैं। गोपियोंकी ओर देखनेकी इच्छा नहीं होती। बाँसुरी नीरस हो गयी। शरीर काँप रहा है। प्राणोंकी गति बढ़ गयी है। कलेजा फट रहा है। प्राणेश्वरी, मैं

तुम्हारे लिये ही जी रहा हूँ ।'

जब तोता लौटकर राधारानीके पास पहुँचा और श्लोक बोलने लगा, उनकी दशा विचित्र हो गयी । जब कहीं निकलतीं, मोर पख देखकर काँपतीं, घुंघचीके दाने देखकर रो पड़तीं, कमल देखकर आँखें उलट जातीं, चन्द्रमाको निर्निमेष निहारतीं आदि । उनकी दशा देखकर गोपियोंने बहुत उपचार किया, परन्तु उन्हें शान्ति न मिली । अन्ततः उन्होंने सलाह करके ललिता सखीको भेजा--'सखि ! जाओ और प्यारे मनमोहन वृन्दावनविहारीको बुला लाओ ।' कृष्णने मना कर दिया । उन्हें मिलना तो था, परन्तु छिपकर ।

ललिता रोती कलपती आयीं । उन्हें देखकर श्रीराधारानीने कहा--'सखि तू तो रो मत, व्यर्थ दुःख करनेसे क्या लाभ ? यदि श्रीकृष्ण, मेरे प्यारे, मेरे इष्ट, आराध्यके मनमें इतनी करुणा नहीं है कि वे तत्काल मेरे पास आ सकें तो तेरा क्या दोष है ? यह तो हमारा ही दुर्भाग्य है । अब तुम आगेका ख्यालकरो । अब यह निश्चित है कि मेरे इस शरीरमें प्राण नहीं रहेंगे । तुम मेरी अन्त्येष्टि क्रियाके सम्बन्धमें मेरी अन्तिम इच्छा पूरी करना । मैं चाहती हूँ कि मेरा यह निष्प्राण शरीर मेरे ही जीवनकालमें कृष्णको नहीं पा सका--मरनेके बाद भी वे शायद इसकी ओर न देखें; अतः इसे श्याम तमालकी डालोंके साथ सटाकर बाँध दिया जाय, जिससे यह मुर्देके रूपमें ही सही, चिरकालतक उस श्याम तमालमें बँधकर आलिंगनका सुख ले सके ।'

सखियोंका सारा समाज रो पड़ा । एक सखीके रूपमें श्रीकृष्ण आ गये । वहाँका दृश्य ही बदल गया ।

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

(६१)

हे भगवान् !

खुश रहो ।

ब्रह्मका कोई आकार नहीं है । सब आकार उसीमें कल्पित है और भास रहे हैं । इसलिये ब्रह्मको विषय करके वृत्ति ब्रह्माकार नहीं होती । सर्वविषयाकारकताका जो निषेध है, उसीको जिज्ञासुओंको समझानेके लिये कल्पनासे ब्रह्माकार कहते हैं । उस समय वृत्तिके पेटमें कोई विषय नहीं रहता, इसलिये वह अधिष्ठानसे भिन्न नहीं भासती । जब विषयका भाव-अभाव-दोनों निर्विषय चिन्मात्र वृत्तिमें ही हैं, तब विषय मिथ्या हैं, चिन्मात्र ब्रह्म है । फिर प्रपंच चाहे भासे, चाहे न भासे, उसका तो बाध हो गया । इसलिये सब ब्रह्म ही है । तब ब्रह्माकार वृत्तिके दो स्वरूप हुए—एक अज्ञानीमें वृत्ति-रूप और दूसरा ज्ञानीमें स्वरूप । पहला अभ्यास है—निदिध्यासन तथा दूसरा स्वरूप ही है ।

तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो वृत्तिज्ञान है, वह तत्काल अविद्याको मिटाकर स्वयं मिट जाता है । वह लक्ष्यार्थकी एकताका ज्ञान है । वह अज्ञाननिवृत्तिके आगे-पीछे नहीं रहता ।

शेष आनन्द है ।

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

(६२)

परम प्रिय,

सस्नेह शुभाशीष !

तुम्हारा पत्र मिला। तुम इन्दौर और वृन्दावन न आ सकीं, इसके लिये दुःखी नहीं होना चाहिये। एक सन्तने कहा है कि जब अपने मनकी नहीं होती, तब प्रभुके मनकी होती है। मनुष्यको मनकी होनेपर नहीं, उनके मनकी होनेपर प्रसन्न होना चाहिये।

इतनी बात मेरी जरूर मानना कि तुम हमेशा खुश रहो। तुम्हारे हृदयमें ही ईश्वर रहता है। तुम्हारी पवित्र, प्रसन्न मुस्कानमें ही ईश्वरका आनन्द प्रकट होता है। तुम बाहरके लोगोंसे प्रसन्नता उधार मत माँगो! कीमत चुकाकर भी उनसे मत लो। भीतर बैठे ईश्वरके खजानेसे खुशी ले-लेकर बार-बार उँड़ेलो। इसीसे यह तुम्हारा धर्मपिता भी आनन्दित होगा। मैं तुम्हें खुश देखना चाहता हूँ।

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●



(६३)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

सप्रेम नारायण स्मरण ।

हम खुश तो बहुत हैं—खुश रहनेके लिये नये-नये तरीके निकालते रहते हैं। तुम सुनते तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। विवशता तो यह है कि यह राधाकृष्ण-प्रेमका पन्थ ही ऐसा है कि जो इसपर पैर रखता है, उसके दिलमें हथौड़े ही चलते रहते हैं। जब मनमें वियोगकी भावना जगती है, आँखोंमें आँसू आते ही हैं। जैसे, कोई दिलको मूसलसे कूट रहा हो ! रग-रग चटखने लगती है। जब कभी अपने हृदयमें संयोगका भाव आता है, रोम-रोम आनन्दसे भरपूर हो जाता है—दूसरे भी देखते हैं कि मुख ज्योतिर्मय हो गया है। कथाके पहले जिस दिन् ऐसा नहीं हो पाता, कथा ठीक नहीं होती ।

इस शरीरके लिये विशेष चिन्ता नहीं है। मेरे इष्टदेवने मेरे अन्तस्तलके अन्तरतममें अपना निरावरण रूप प्रकट कर दिया है। अब मेरे और उसके बीचमें कोई परदा नहीं है। वह मुझमें और मैं उसमें समाकर एक हो जाते हैं। घण्टोंतक समयका पता नहीं चलता। जिस दिन या रात निद्रा नहीं आती, उस दिनका समय भावसमाधिमें ही बीतता है। मैं अपनी इस पवित्र तन्मयताको, जिसके स्मरणसे भी विकार भाग जाते हैं और इस दुनियाँकी किसी वस्तुकी जरूरत नहीं रह जाती, इतन सँजोकर रखता हूँ कि केवल यही मन-तनकी खुराक बन गयी है। आज जो स्वप्न-सा मालूम पड़ रहा है, कल वह मूर्त होकर हमारे साथ नहीं खेलेगा—ऐसा कौन कह सकता है ? अपने इष्टके प्रति जोड़ा हुआ भाव एक न एक दिन साकार होता ही है; क्योंकि वह कल्पवृक्ष है। मेरा हृदय ईश्वर-भावनासे ओत-प्रोत है। तुम्हें लिखनेका अभिप्राय यह है कि तुम मेरी मानसिक स्थितिको जानोगे तो तुम्हारे मनमें अपने इष्टदेवके प्रति तन्मयता बढ़ेगी !

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

(६४)

वृन्दावन

प्रिय श्रीरामरक्खाजी,

अपनी जड़ताको जानना ही उससे अलग होना है। चेतनको ही जड़ता ज्ञात होती है, जड़को नहीं। उत्थान-पतनकी सारी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ भी चेतनके स्वतःसिद्ध प्रकाशमें ही भासती हैं। स्फूर्ति ही स्फूर्ति, ज्ञान ही ज्ञान अपना स्वरूप है। विशेषताको पकड़ो मत ! आकारका आग्रह छोड़कर धातुको पहचानो ! प्रकाश्यके आकारसे विरक्त और उपरत होकर अपने प्रकाशक चेतन स्वरूपकी ओर लौट पड़ो ! कर्म और नैष्कर्म्य, प्रवृत्ति और निवृत्तिका मूल्यांकन तभी होता है, जब तुम अपनेको उनसे मिला देते हो।

शेष आनन्द है।

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

(६५)

वृन्दावन

परम प्रेमास्पद आत्मा,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

आशा है तुम्हारी यात्रा बड़े आनन्दसे हो रही होगी । शरीर स्वस्थ प्रसन्न होगा ।

परसों एक लड़की अपने मॉ-बापके साथ आयी थी । दस वर्षकी होगी । उसने एक पद मीराका सुनाया । तुम्हें तो याद ही होगा—**'दरस बिन दूखन लागें नैन ।'** उस समय अपने इष्टदेवका जो स्मरण और तन्मयता हुई-अवर्णनीय है । कृष्णके लिये **'भई छमासी रैंन'** सचमुच अपने प्रभुंके लिये यही स्थिति होनी भी चाहिये ।

तुमने किसी पत्रमें ठाकुरजीके विरहकी बात लिखनेको लिखा था । आज मैं कुछ उद्धरण ही भेज रहा हूँ । श्रीराधारानी अपने प्रियतम श्रीकृष्णके विरहमें :-

चिन्ता:—

(१) कर कपोल भुज धरि जंघापर,
लेखत माइ नखनकी रेखनि ।
सोच विचार करत वह कामिनि
धरत जु ध्यान मदन मुख भेखनि ॥

(२) बाएँ कर द्रुम टेके ठाढ़ी ।
बिछुरे मदनगुपाल रसिक मोहिं बिरह बिथा तन बाढ़ी ॥
लोचन सजल बचन नहिं आवै, स्वास लेत अति गाढ़ी ।
नन्दलाल हमसों ऐसी करी जल तें मीन धरि काढ़ी ॥

जागरण :—

हमको जागत रैंन बिहानी ।
कमलनैंन जगजीवनकी सखि गावत अकथ कहानी ॥
बिरह अथाह होत सखि हमकों बिनु हरि समुद्र समानी ।
क्यों करि पावै बिरहिनि पारहिं, बिनु केवट अगवानी ॥

उद्वेग :–

अब वै बातैं उलटि गईं।

जिन बातन लागत सुख आली, तेऊ दुसह भईं ॥

● ● ●

चन्दन चन्द समीर अबल सम तनहिं देत दव लाई।

कुन्द-कुंज अरु कुण्ड मुकुन्दहुँ भए आजु दुखदाई ॥

शिशिर बसन्त जरै प्रभुके बिन तरफत रैन बिहाई।

निर्बलता :–

'धीर न धरत प्रेम व्याकुल चित

लेत उसाँस नीर लोचन भरि।

सूरदास तन थकित भई अब

इहिं बियोग सागर न सकति तरि ॥

मलिनता :–

सखी री काहे रहति मलीन ?

तन सिंगार कछु देखियत नाहीं, बुधिबल आनंद हीन ॥

मुख तमोर, नैंन नहिं अंजन, तिलक ललाट न दीन।

कुचिल वस्त्र, अलकैं अति रुखी, दीखत है तन छीन ॥

प्रेम तृषा तीनों जन जानैं, बिरही, चातक, मीन।

सूरदास बीतत जु हृदयमें, जिन जिय परबस कीन ॥

प्रलाप :–

'एक न फुरत विरह ज्वर बस, कछु बकति अटपटे बैंन।'

व्याधि :–

'जतने शुतायलुँ शतदल पात (सुलाया)

जरि जरि तखन भसम होइ जात।' और

'एकई रट रटति भामिनि पीव-पीव पुकार।

सजल लोचन चुअत उनके जरे हाथ लुहार ॥

दूसरी गति और नाहीं रटति बारम्बार।

'सूर' प्रभुकौ नाम उनके लकुट अन्य अधार ॥'

उन्माद :–

'सूरदास प्रभु तुम्हारे दरस बिन अब वह मूरति भई साँवरी ।'
हमारे हृदयमें अपने प्रभुके लिये वह विरह उतरे !

सदा उन्हींकी यादमें–
अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●

मनमें रख विश्वास, वासना-गाँस निकासो ।
ललित लालसा लसित, श्वाससे अन्तर वासो ।
त्रास फाँस, उल्लास-हासके बन्धन तोड़ो ।
पलक-पलकमें ललक-ललक प्रियसे मन जोड़ो ।
घुलमिल हिलमिल प्रेमरस रसिक पियाके संग ।
तिल-तिल खिल-खिल रसझरी झिलमिल हृदय तरंग ॥

● ● ●



(६६)

परम प्रेमास्पद आत्मा !

' यह मनुष्यका परम सौभाग्य है कि उसके जीवनमें भगवत्सम्बन्धी रसका उदय हो । क्योंकि यही रस जब पूर्ण होता है, तब अपना तन-मन तो रंगता ही है, पास-पड़ोसको भी रस-रंगमें डुबो देता है । ईश्वर तुम्हारे हृदयमें ऐसा प्रेम दे, जिससे तुम देखो, छुओ या जिसके बारेमें भी सोचो, वह भी प्रेमसे भर जाय । आज विश्वमें इसी प्रेम-रसकी ही तो आवश्यकता है !'

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

रहो सदा आनन्दमय, भजन करो भरपूर ।
दूर, देरकी तज व्यथा, कृष्ण कथा रस-चूर ॥

● ● ●



(६७)

वृन्दावन

परम प्रेमास्पद आत्मा !

सस्नेह शुभाशीर्वाद ।

रातको एक प्राचीन पद सुना था । श्री राधाकृष्णकी अनन्य प्रीतिका, उसे लिख रहा हूँ–

प्यारी जू प्यारेकों भावै, सो सहज करैं,
करैं सोई प्यारे, जो भावै प्यारीकों सदा ।
तन सों तन, मन सों मन, प्रान प्रान बिक्री कियौ,
जीवत न बिन देखे, कबहूँ कोउ एकदा ॥
प्यारीकों पाइकैं प्यारो भयौ महाधनी,
प्यारी हूँ प्यारेकों मानैं निज सम्पदा ।
'रामराय प्रभु' (कवि) 'श्री अनंगमंजरी' (गुरु) के
पायँ परि-परि पाई जुग रसिक प्रेम सम्पदा ॥

और यह श्री राधाकृष्ण युगलकी लोकोत्तर प्रेम-सम्पत्ति केवल भगवद्विश्वासी, सन्त-सद्गुरुके कृपा पात्रको, उनकी सेवासे ही प्राप्त होती है । अस्तु !

दोनों प्रकारसे तुम्हें कृष्ण-प्रेम प्राप्त है—इसका अभिप्राय यह है कि तुम्हारा प्रेम कृष्णके प्रति और कृष्णका तुम्हारे प्रति; क्योंकि कृष्णके प्रेमपात्र और प्रेमीकी मुझे पहचान है ।

सदा-सर्वदा उनके ही प्रेममें सराबोर रहो !

तुम्हारा–

अखण्डानन्द सरस्वती

★ ★ ★

(६८)

वृन्दावन

परम प्रिय,

सप्रेम शुभाशीर्वाद ।

'हे आनन्दकन्द ! हे मुकुन्द ! तुम सर्वदा मेरे अन्तरमें रहते हो । तुम्हारा पीताम्बरधारी स्मितसुन्दर सहज मधुर, भुवन मोहन रूप मैंने देखा है । प्यारे ! तुमने मुझसे बातें की हैं—मेरा स्पर्श किया है । तुम प्रतिपल रससे सराबोर कर रहे हो । तुम मेरे हृदयमें बैठकर जब साँसें लेते हो, तब वे मुझे और मेरे अन्तरको, उसके एक-एक कणको गुदगुदा जाती हैं । जीवन सर्वस्व ! मेरे रोम-रोम पुलकित हो होकर तुम्हारी पूजा कर रहे हैं, तुममें समा जाना चाहते हैं । प्रभु ! जिसे तुमने अपनाकर धन्य बनाया है, वह सदा तुम्हारा ही रहे ।'

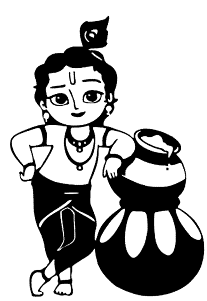
इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये ।

मेरे प्रिय आत्मन् ! इतना खुश रहना चाहिये कि देखकर लोग ईर्ष्या करने लग जायँ । दूसरे लोग संसारी वस्तुओंको पाकर खुश होते हैं; तुम अन्तरके ईश्वरको पाकर प्रसन्न रहो । सबको अपनी खुशीसे तर कर दो । जो तुम्हारे सम्पर्कमें आये, एक प्रकारकी शीतलता लेकर जाय । सब कुछ करते हुए भी प्रेमका नशा बना रहे । ऐसा नशा, जो कभी उतरे नहीं । और उस नशेके आगे सब संसारी नशे फीके—रसहीन हो जायँगे ।

मेरा असीम स्नेह और आशीर्वाद ।

अखण्डानन्द सरस्वती

● ● ●



(६९)

परम प्रिय ..... को,

हार्दिक सप्रेम शुभाशीर्वाद !

राधाकृष्णके प्रेमकी बातोंसे प्रेमके बड़े गम्भीर रहस्योंका पता चलता है। इससे गृहस्थाश्रम सुखी हो जाता है। अपने हृदयको इतना मीठा कर लेना चाहिये कि जो तुम्हारे आस-पास हों, वे भी मीठे हो जायँ। मुस्कराकर बोलो। कोमलताका व्यवहार करो। सबको सुख दो। जिससे सुख मिलता है, उसको सब प्यार करते हैं, मान देते हैं। दुःखीपर दया तो आती है, उससे प्रेम नहीं होता। अपनेको सुखरूप रखो, जिससे तुम्हें सब अपना स्नेह दें। मैं चाहता हूँ कि सब तुम्हारा आदर करें, तुम्हारे दिल और तुम्हारी भक्तिको ऊँचा समझें। इसीसे मुझे सुख होगा।

शेष भगवत्कृपा।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

परम प्रेमास्पद आत्मा,

..... आज सुबह पाँचसे छः के बीचमें एक बात याद आयी। एक दिन विहारीजीका दर्शन करने गये। भोग आनेसे पट बन्द हो गया। बैठना पड़ा। अब हमें प्रसन्न होना चाहिये या दुःखी ? अगर हम यह सोचें—हमारे लिये पट बन्द हुआ, तो दुःख होगा। और यदि हम सोचें कि हमारे ठाकुरजी इस समय भोजन कर रहे हैं, हमारा बाहर बैठना ही ठीक है, तो प्रसन्नता होती है।

सार-सार बात यह है कि अपने ठाकुरकी प्रसन्नता ही चाहिये।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती



अखण्डानन्द सरस्वती

आनन्द वाणी

अनुभव करो, तुम्हें एक महान् प्रकाश घेरे हुए है। तुम्हारे अन्दर-बाहर, आगे-पीछे और नस-नसमें वह व्याप्त हो रहा है। अपने ज्ञान, शक्ति और सत्ताको उसमें डुबा दो-डूब जाने दो। फिर जब तुम व्यवहारमें उतरोगे तो तुम्हारे जीवनमें एक नवीन स्फूर्ति और उल्लासका अनुभव होगा। तुम देखोगे कि तुम्हारा जीवन प्रत्येक क्षण परमात्माकी अधिकाधिक सन्निधिमें जा रहा है।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति • सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट •

आनन्दकानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337